गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्य

जिसको
निखिलतन्त्रस्वतन्त्र श्री पण्डित आर्य्यमुनिजी
प्रोफ़ेसर डी. ए. वी. कालिज लाहौर ने
निर्माण किया

और

श्रीमान् सेठ हरदेवदासजी अग्रवाल
प्रोप्राइटर कालरीभरिया की सहायता
से

पं० देवदत्तशर्मा
कर्णवास-ज़िला-बुलन्दशहर निवासी
ने
बी० एल० पावगी द्वारा हितचिन्तक यन्त्रालय
रामघाट-काशी में मुद्रित कराके
प्रकाशित किया

सं० १९८१ सन् १९२४ ई०

छठी वार १०००] [मूल्य ४)

भूमिका

शार्दूलविक्रीडितम्

भाष्यंकेऽपि वदन्ति वैदिकपथे, गीतापरं शाङ्करम् ।
केचिद्द्वैतपरं वदन्ति निपुणा, रामानुजीयं परे ॥
एवं भिन्नमनीषमाणनिचयं, ज्ञात्वा मुनिर्वैदिको ।
वक्ष्ये वै श्रुतिसम्मतं सविशदं, भाष्यं प्रदीपप्रभम् ॥ १ ॥

स्रग्धरावृत्तम्

गीतायोगप्रदीपः प्रथयति सुखदं, सर्ववेदैकतत्त्वम् ।
यस्मिन्स्नेहप्रदानं श्रुतिमति, मुनिना वैदिकंकर्मदत्तम् ॥
वर्त्तिस्नेहान्तवर्त्ति प्रभवति, नितरां वैदिकं ब्रह्मभानम् ।
तस्माद्भाष्यंमदीयं श्रुतिपथं, विषयंपक्ष्यतांपक्षशून्यैः ॥ २ ॥

१

वैदिकभाव बतायदिये जिन, दूर किये सब मोहमतंगा ।
मेटदिये सगरे पथ नूतन, दिव्य दिया जिन वैदिकरंगा ॥
भारत डूबत था भवसागर, पारभया जिनके सतसंगा ।
सो गुरु हैं हमरे उर में, जिन काटदिये सब मायिक भंगा ॥

२

पूरणब्रह्म लखा जिनके बल, एक अखण्ड रमा भव सारे ।
रूप न रेख अलेख सदा इम भाषत है जिनको श्रुति चारे ॥
ज्ञान दिनेश चढा जिससे, मत मोहनिशा के मिटे सब तारे ।
सो गुरु हैं हमरे उर में, जिन पापमहानिधि पार उतारे ॥

३

कोउक मानत है गुरुगोरख कोउ कवीर को मानत ज्ञानी ।
कोउ दिगम्बर मानत है गुरु, कोउक मानत है शिवध्यानी ॥
कोउक ध्यान करे निशिवासर, पाहनमूरति है जिन मानी ।
हैं मुनि के उर में गुरु सो, जिन वैदिकभावन की गति जानी ॥

४

मोहअगाध पयोनिधि में, जिन वेदजहाज दिया अतिभारी ।
भारतदीनदुःखीजन व्याकुल, जाय पड़े उसमें नरनारी ॥
मोह उतङ्ग तरङ्ग जिते जिन दूर किये क्षणएक मझारी ।
सो गुरु हैं हमरे उर में, जिनका यश पूर रहा दिकचारी ॥

५

जात वहे भवसागर थे हम, काढलिये जिसने धरध्याना ।
अंजनज्ञान अमूल्य दिया, जिससे अब देव निरंजन जाना ॥
छूटगये जड़देव उपासन, एक महाप्रभु को प्रभु माना ।
धन्य दयामय देव अमूरत, हैं सबके घट में नहीं आना ॥

६

कोउक मूड़मुड़ाय फिरे अरु भेषधरे जग में दशनामी ।
कोउक शीशजटा नख धारके, ढूंढफिरे प्रभु को सब धामी ॥
कोउ महेश गणेश कथे गुरु, कोउक भैरव के मत गामी ।
शंकर शंकरमूल कहें जिहिं, हैं मुनि के गुरु सो शुभनामी ॥

दोहा

मुनि बिन कबु किनहुन कथो गीता में यह ज्ञान ।
अहंब्रह्म मत टार के एक ईश को ध्यान ॥

२

गीतायोगप्रदीप में यही निरालो भेद ।
मायावाद मिटाय के मूल बखानो वेद ॥

गीता=गीयते इति गीता=जो गान किया जाय उसका नाम "गीता" है, और वह गान विना किसी शब्दविशेष के नहीं होसक्ता, इसलिये वेद के कर्म, उपासना तथा ज्ञान, यह तीनों काण्ड जिस शब्दसमुदायात्मक ग्रन्थविशेष से गान=वर्णन किये जा उसका नाम "गीता" है, यद्यपि गीता शब्द का प्रयोग रामगीता, अर्जुनगीता, अवधूतगीता इत्यादि अनेक ग्रन्थों में किया जाता है तथापि इसका मुख्य प्रयोग श्रीमद्भगवद्गीता में ही है, क्योंकि वैदिक कर्म, उपासना तथा ज्ञान, इन तीनों काण्डों का गान करने वाली भगवद्गीता से भिन्न अन्य कोई गीता नहीं, और इस त्रिकाण्डरूप वेद का व्याख्यान होने से ही गीता संसारभर के सब ग्रन्थों से उत्तम मानी गई है, और बात यह है कि उक्त तीनों वैदिक काण्डों का जैसा सरल और स्पष्ट वर्णन गीता में पाया जाता है वैसा किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिलता, यद्यपि ज्ञानकाण्ड में उपनिषदों का पद गीता से उच्च है तथापि जैसा गीता सर्वसाधारण के लिये प्रभावशाली ग्रन्थ है वैसा उपनिषद् नहीं, कारण यह है कि प्रथम तो उपनिषदों की भाषा गीता के समान सरल नहीं और दूसरे उपनिषदें प्रायः एक २ वेद का आश्रय करके प्रवृत्त हुई हैं, और गीता चारो वेदों को आश्रय करके प्रवृत्त हुई है, जैसाकि "छन्दोभिर्विविधैःपृथक्" गी० १३।४ इस श्लोक में वर्णन है कि सब वेदों ने जिस प्रकृति, पुरुष तथा परमात्मा के स्वरूप को विस्तारपूर्वक वर्णन किया है उस वैदिकविस्तार को गीता के कर्त्ता महर्षि व्यास ने अपनी दार्शनिक योग्यता से गीता में संग्रह किया है, और गीता का यही सर्वोपरि महत्व है कि वह वैदिक अर्थ को प्रतिपादन करती है ॥

ननु—सर्वोपनिषदोगावो दोग्धागोपालनन्दनः ।
पार्थोवत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

इत्यादि श्लोकों में लिखा है कि कृष्णजी ने उपनिषद्रूप गौओं से अर्जुन को वत्स बनाकर गीतारूप अमृत दोहन किया, फिर गीता को वैदिक अर्थों का भाण्डार कैसे कहते हो ? इसका उत्तर यह है कि जिस

प्रकार गीता में वेद के तीनो काण्डों का वर्णन पाया जाता है इस प्रकार उपनिषदों में नहीं, इसलिये केवल उपनिषदों को गीता का मूल मानना ठीक नहीं, यदि केवल उपनिषद् ही गीता का मूल होते तोः—

यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्नहन्ति न निबध्यते ॥ गी० १८।१७

इत्यादि श्लोक जो क्षात्रधर्म को निष्पाप कथन करते हैं कहां से लिये जाते ? यह ज्ञान केवल वेदों में ही मिलता है जिनमें धर्म की मर्यादा बांधने वाले क्षत्रियों का यह अद्भुत ज्ञान वर्णन किया गया है कि "ये युध्यन्ते प्रधनेषुशूरा सो ये तनूत्यजः" ऋग्०८।१८।१३।२ = जो शूरवीर क्षत्रिय धर्मरक्षा के लिये युद्ध में सन्मुख लड़कर शरीरों का त्याग करते हैं वह वीर अनुत्तम सुख वाले लोकों को प्राप्त होते हैं अर्थात् उत्तम योनियें पाते हैं, और " हत्वायदेवाअसुरान्यदायन्देवादेवत्वमभिरक्षमाणा " ऋग्० ८।१५।४ = जो तेजस्वी शूरवीर क्षत्रिय देवत्व के विरोधि शत्रुओं = असुरों को युद्ध में मार विजयी होकर अपने देश में आते हैं वह पाप के भागी न होकर अपने तेज तथा पराक्रम का संरक्षण करते हुए स्वदेश में सुखपूर्वक रहते हैं, इससे सिद्ध है कि अपने तेज तथा पराक्रम का संरक्षण करना क्षत्रिय का परमधर्म है, ऐसा क्षत्रिय अपने क्षात्रधर्म का संरक्षण करता हुआ कदापि पाप का भागी नहीं होता, और युक्ति यह है कि यदि गीता केवल उपनिषदर्थ को ही लक्ष्य रखकर बनाई गई होती तो उसको गी० १३।४ में विस्तार से वर्णन किये हुए वेदार्थ का संग्रह न कहा जाता, और जो उपनिषदों को गीता का एकमात्र मूल कथन करने में उक्त श्लोक प्रमाण दिया है वह आधुनिक है, और कई एक लोग जो उपनिषदों से भिन्न कोई ग्रन्थ ज्ञान का भाण्डार नहीं मानते यह भाव भी इसी श्लोक से लिया गया है, अस्तु—इस भाव ने भी स्पष्ट सिद्ध करदिया कि गीता पौराणिक अर्थों का संग्रह नहीं किन्तु उपनिषदों को आश्रयण करती है, इससे भी स्पष्ट होगया कि गीता आर्षग्रन्थ है, और जो कई एक लोग गीता पर यह आक्षेप करते हैं कि यह आधुनिक ग्रन्थ है और केवल

कृष्णजी की प्रशंसापरक है उन लोगों ने स्यात् गीता के गूढ़ सिद्धान्तों पर कभी भी दृष्टि नहीं दी, यह ग्रन्थ कृष्णजी की प्रशंसापरक नहीं किन्तु अक्षर परमात्मा का वर्णन करता है, जैसाकि गी० १३।२७ इत्यादि श्लोकों में वर्णन किया है कि:—

समं सर्वेषुभूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

सब भूत विनाशी और एकमात्र परमात्मा ही अविनाशीरूप से सब में स्थिर है, एवं इस समग्र विनाशी संसार में परमात्मा को अविनाशी समझने वाला पुरुष ही उसका यथार्थ ज्ञाता होसक्ता है अन्य नहीं, इस कूटस्थ नित्य परमात्मा का ज्ञान गीता में अत्यन्त बलपूर्वक भरा हुआ है और १८ वें अध्याय में जाकर इस बात को स्पष्ट करदिया है कि पदार्थ के यथावत् स्वरूप को जानना ही सात्विक ज्ञान है इससे भिन्न "अतस्मिँस्तद्बुद्धिः"=जो जिस रूप से न हो उसको उस रूप से जानना मिथ्याज्ञान कहलाता है, और इसी को तामसज्ञान कहते हैं, एवं सात्विक, राजस, तामस, इन तीन गुणों के तीनो भावों के भेद से गीता में सचाई का चित्र खेंच दिया है, जिन लोगों ने गीता का गुणत्रयविभागयोगाध्याय १४, प्रकृतिपुरुषविवेकयोगाध्याय १३ और दैवासुरविभागयोगाध्याय १६, इन अध्यायों को समझकर पढ़ा है वह कदापि नहीं कहसक्ते कि गीता में कृष्णजी की ही प्रशंसा भरी है, और मध्यम षट्क में कृष्णजी ईश्वर की विभूतियों का वर्णन करते हैं, जिनको वैदिक प्रमाणों द्वारा हमने भाष्य में वर्णन किया है, और प्रथम षट्क अर्जुन की मोहनिवृत्ति को कथन करता है, इस प्रकार विचार करने से गीता का समग्र अर्थ स्पष्ट होजाता है कि गीता आधुनिक अर्थ का भाण्डार नहीं किन्तु वेद का सार है, और यह आधुनिक अर्थ का भाण्डार हो ही कैसे सक्ती है जब कि इसको महर्षिव्यास ने ग्रन्थन किया है, जैसाकि:—

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमंगुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥

गी० १८।७५

इस श्लोक में स्पष्ट पाया जाता है कि गीता को महर्षिव्यास ने बनाया है, और इससे यह बात भी सिद्ध होगई कि योगेश्वर कृष्ण ने इस गीतारूप शास्त्र का कथन युद्ध के समय किया था ईश्वर कृष्ण ने नहीं ॥

ननु–युद्ध के समय में इतना विस्तृत अर्थ कृष्णजी ने कैसे ग्रन्थन कर दिया ? उत्तर—कृष्णजी ने अर्जुन को गीता का आशय वर्णन किया, उस आशय को व्यासजी ने अपने कवित्व सामर्थ्य से विस्तृत करदिया, जैसाकि उक्त श्लोक में वर्णन किया गया है, और जो कई एक लोग यह प्रश्न करते हैं कि गीता में अर्थवाद है इसलिये यह आर्षग्रन्थ नहीं ? इसका समाधान यह है कि गीता में अर्थवाद नहीं किन्तु उपचार है, जो पदार्थ अलङ्कार से वर्णन कियाजाय उसको "उपचार" कहते हैं, जैसाकिगी० ११।३२ में कृष्णजी ने काल के अलङ्कार से अपने आपको सबका संहारकर्त्ता वर्णन किया है, इसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि कृष्णजी ने अपने योगजसामर्थ्य से भविष्यत् का ध्यान धर के ऐसा कहा है कि इस काल भगवान् के आगे दुराचारी दुर्योधनादिकों को मरे ही समझो, यह एक रूपक बांधकर ऐसा कहा है, ऐसे रूपक गीताशास्त्र को उसकी सचाई और उच्चाई से गिरा नहीं सक्ते, और जो कृष्णजी की स्तुति कीगई है वह उनके योगेश्वर भाव को लेकर कीगई है, इस अर्थवाद से गीता दूषित नहीं होती, क्योंकि इस का मिथ्याज्ञान के प्रचार में तात्पर्य्य नहीं किन्तु कृष्णजी की योगजसामर्थ्य के वर्णन में है, जैसाकि यो० ४।११ के व्यासभाष्य में
"चित्तबल से दण्डकारण्य का शून्य करना, समुद्र का सुखा देना"
इत्यादि योगी के सामर्थ्य का वर्णन किया गया है, जब यह अर्थवाद महर्षि व्यासजी की रचना का अलङ्कार है तो कृष्णजी जैसे योगेश्वर की स्तुतिरूप जो अर्थवाद है वह इस गीताशास्त्र को आर्षत्व से कैसे गिरा सक्ता है, और जब व्याससूत्र तथा व्यासभाष्य के साथ गीताशास्त्र सङ्गत है अर्थात् जिसप्रकार व्याससूत्रों में ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया है तथा पातंजलयोगभाष्य में योगी के ऐश्वर्य्य प्रतिपादन किये हैं इसीप्रकार गीता में भी ब्रह्मविद्या और योगी के ऐश्वर्य्य वर्णित हैं, अतः गीता महर्षिव्यास कृत होने से आर्ष है ॥

ननु–जब तुम योगी का ऐसा अपरमित सामर्थ्य मानते हो तो फिर पुराणों में ननु नच क्यों ? उत्तर–पुराण अतस्मिँस्तद्बुद्धिरूप तामसज्ञान का भाण्डार हैं अर्थात् उनमें मिथ्याज्ञान की बातें अधिक भरी हैं, जैसाकि ब्रह्मा के अंगुष्ठ से दक्ष का उत्पन्न होना, ईश्वर का मोहित होकर अज्ञानी बन जाना तथा उसका मच्छ कच्छादि रूपों वाला आकार जन्मना, मोहिनी आदि वस्तुओं पर मोहित होकर अपने ऐश्वर्य्य को नष्ट करना, इत्यादि अनन्त मिथ्या बातें हैं, परन्तु महर्षिव्यास के रचे हुए ब्रह्मसूत्र तथा गीता में ऐसी एक बात भी नहीं, इसलिये इस तामसज्ञान को गी० १८ । २२ में युक्तिरहित लिखा है ।

ननु–महाभारत व्यासजी का बनाया हुआ है उसमें सहस्रों बातें युक्ति विरुद्ध हैं ? उत्तर–वास्तव में व्यासजी का बनाया हुआ महाभारत चौबीस सहस्र श्लोक हैं, जैसाकि:—

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रेभारतसंहिताम् ।
उपाख्यानैर्विनातावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥

महाभा० आ० प० १ । १०१

इस श्लोक में वर्णन किया है कि पहले महाभारत चौबीस हज़ार था * उस समय उसमें कहानियें न थीं, इस चौबीससहस्र में एक भी मिथ्या बात नहीं, परन्तु अब एकलक्ष से अधिक श्लोक माना जाता है जिसमें अनेक असम्भव बातें पाई जाती हैं ॥

ननु–जब महाभारत में आपके विचारानुसार सहस्रों श्लोक प्रक्षिप्त हैं तो गीता सम्पूर्ण सत्य कैसे मानीजाय ? उत्तर–गीता में केवल एक श्लोक प्रक्षिप्त है जिसमें "चतुर्भुज" नाम आया है, क्योंकि चतुर्भुज नाम पौराणिक है और वह पुराणों से लेकर गीता में डाला गया है, इससे भिन्न गीता में एक भी श्लोक प्रक्षिप्त नहीं, इस बात को हमने ११ वें अध्याय में विस्तार पूर्वक लिखा है, यदि कोई यह कहे कि गीता में कोई श्लोक प्रक्षिप्त हो ही नहीं सक्ता ? इसका उत्तर यह है कि:—

* "महाभारतार्य्यटीका" हम छाप रहे हैं जो आधे से अधिक छप गया और बिक रहा है, जिसमें असम्भव तथा अश्लील गाथाओं को निकालकर सत्यार्थ ग्रन्थन किया गया है जो पाठकों को बड़ा रुचिकर तथा शिक्षाप्रद है ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानंज्ञेयं च केशव ॥

गीता अ० १३ में यह श्लोक प्रक्षिप्त माना गया है, स्वामी शं० चा० तथा स्वामी रामानुज के समय में यह श्लोक न था और अब कई एक गीता की प्रतियों में मिलता है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह श्लोक अब नया मिलाया गया है. एवं गी० ११।४६ श्लोक भी जिसमें चतुर्भुज नाम आता है किसी ने गीता में मिला दिया है, इसलिये हम इसको प्रक्षिप्त मानते हैं ॥

जिन लोगों को शास्त्र के मर्म का गन्धमात्र भी ज्ञान नहीं उनके विचार में तो गीता में अध्याय के अध्याय प्रक्षिप्त हैं, जहां जिस श्लोक का अर्थ न सूझा वहीं प्रक्षिप्त कहदिया और जिसको सब सनातनधर्मियों ने प्रक्षिप्त माना वह उनके मत में ठीक है, ऐसे तामसज्ञान ग्रसित लोगों की कथा छोड़कर हम सात्त्विकज्ञानप्रधान लोगों की दृष्टि इस ओर दिलाते हैं कि गीता में केवल एक ही श्लोक प्रक्षिप्त है अन्य सब श्लोक गंभीरार्थ का भाण्डार, वेदोपनिषदों का सार और गीतारूप वैदिकधर्म का सर्वोपरि आधार हैं, जैसाकि "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकंशरणंव्रज" गी० १८।६६ श्लोक में कथन किया है कि सब अवैदिकधर्मों को छोड़कर एक मात्र परमात्मा की शरण को प्राप्त हो "मां" शब्द के अर्थ यहां वैदिकधर्म के हैं, इसी प्रकार गीता के अन्य कई श्लोकों में भी उक्त शब्द के यही अर्थ हैं जिनका भाष्य में भलेप्रकार समाधान किया है, और वैदिककर्म तथा वैदिकज्ञान से विना वैदिकधर्म की शरण कदापि उपलब्ध नहीं होसक्ती, इसलिये ज्ञानयोग और कर्मयोग का गीताशास्त्र में विस्तारपूर्वक वर्णन पाया जाता है, इसी वैदिक ज्ञानयोग और कर्मयोग को उक्त श्लोक में आकर शरणरूप कथनकिया गया है, और इस वैदिक शरण के आगे अन्य सब कल्पित धर्मों को तुच्छ माना है, मायावादी लोग शरण के यह अर्थ करते हैं कि भेदज्ञान को मिटा देना ही ईश्वर की शरण है अर्थात् इस सम्पूर्ण सृष्टि को स्वप्न समान समझ लेना ही "भगवत् शरण" है, जैसाकि स्वामी शं० चा० ने लिखा है कि "तस्माद्भ्रान्तिप्रत्ययनिमित्त एवायं संसारभ्रमो न तु परमार्थ इति"=भ्रान्तिज्ञान के कारण ही यह संसाररूप भ्रम है वास्तव में नहीं,

इस शरण से यहां तात्पर्य्य नहीं, यदि इस शरण से तात्पर्य्य होता तो भ्रमरूप मतों को छुड़ाकर भ्रमरूपी शरण का कदापि उपदेश न किया जाता, क्योंकि इनके मत में जिस प्रकार संसार भ्रम है इसीप्रकार कृष्णजी का शरण भी भ्रममात्र ही है, फिर इस मिथ्याभूत वस्तु की प्राप्ति से क्या लाभ ? हमारे विचार में गीता ऐसे मिथ्यार्थ का उपदेश नहीं करती किन्तु एकमात्र परमात्मा के यथार्थ ज्ञान का उपदेश करती है, जैसाकि "यदक्षरं वेदविदो वदन्ति" गी० ८ । ११ इत्यादि श्लोकों में परमात्मा के यथार्थ ज्ञान का वर्णन किया है कि जिसप्रकार अक्षर परमात्मा का वेदवेत्ता लोग वर्णन करते हैं और जिसको वीतराग यति लोग ज्ञानद्वारा उपलब्ध करते और जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य्य का आचार करते हैं, उस परमात्मा के परमपद को मैं तुम्हें संक्षेप से वर्णन करता हूं, एवंविध परमात्मा का परमपद भगवच्छरण नाम से गीता में वर्णन किया गया है, इसमें भ्रान्ति और माया की कथा कथना भ्रममात्र है, इस प्रकार विचार करने से जीव ब्रह्म को एक मानने वाले मायावादियों का मत वेद, उपनिषद् तथा गीता में सर्वथा निर्मूल है, और जो गी० ७ । १४–१५ तथा गी० ४ । ६ इत्यादि श्लोकों में "माया" शब्द का प्रयोग आया है वह प्रकृति के अर्थों में आया है इनकी ब्रह्म को मोहन करने वाली मिथ्याभूत माया के विषय में कहीं भी नहीं आया, इसीलिये इसको गुणमयी कथन किया गया है कि यह सत्वादि गुणों वाली है, यही भाव उपनिषदों में है, जैसाकि "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम्" श्वेता० ४ । १० इत्यादि स्थलों में "माया" शब्द के अर्थ प्रकृति के हैं, एवं मायावादियों का मायावाद गीता और उपनिषदों में सर्वथा निर्मूल है, इसीलिये स्वा० रामानुज ने माया शब्द का प्रयोग मिथ्यार्थों में औपचारिक माना है अर्थात् जहां कहीं तात्पर्य्य न बनसका वहां मिथ्यार्थों में माया शब्द का प्रयोग किया है, और माया शब्द का प्रयोग मुख्यवृत्ति से कहीं भी मिथ्यार्थों में नहीं आता, इस भाव को हमने "वेदान्तार्य्यभाष्यभूमिका" में विस्तारपूर्वक लिखा है, अतएव विस्तारभय से यहां इसका विस्तार नहीं करते, यहां केवल इतना ही लिखते हैं कि इस मायावाद के

कलंक को मिटाकर गीताशास्त्र को इस भाष्य में सुवर्ण के समान शुभ्र कर दिया है जिसके पढ़ने से ज्ञात होगा कि माया मोह का गन्ध इस शास्त्र में लेशमात्र भी नहीं, यह ग्रन्थ उस महापुरुष कृष्ण का आशय लेकर महर्षिव्यास ने ग्रन्थन किया है जिसके महत्व को महाभारत इस प्रकार वर्णन करता है किः—

यत्र धर्मो द्युतिः कान्तिर्यत्र ह्रीः श्रीस्तथा मतिः ।
यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥

म० भी० प० २३ । २८

अर्थ—(यत्र) जिस पक्ष की ओर (धर्मः) वैदिक आज्ञा का पालन करना (द्युतिः) तेज (कान्तिः) सौन्दर्य्य (ह्रीः) पाप से डरना (श्रीः) लक्ष्मी (मतिः) बुद्धि, यह सब गुण होते हैं उसी पक्ष की ओर कृष्ण होते हैं, और जिस पक्ष की ओर कृष्ण होते हैं उस पक्ष की जय होती है,इस श्लोक से यह बात स्पष्ट होगई कि कृष्णजी किसी पक्ष के अन्यथा पक्षपाती न थे किन्तु धर्म की ओर थे, और जो कृष्णजी पर यह कलंक लगाया जाता है कि यह भारतजाति का दाहक युद्धरूप दावानल कृष्णजी के प्रसादसे प्रदीप्त हुआ जिससे फलचतुष्टय के बीजभूत सम्पूर्ण भारतरूप महावन के भरतवंशी सुगन्धित पुष्प इस भारतयुद्धरूप यज्ञकुण्ड की अग्नि में आत्मसमर्पणरूप आहुति से दग्ध होगये, यह उन आक्षेपकर्ता लोगों के अज्ञान का प्रभाव है कृष्णजी इस युद्ध के निमित्त न थे, जैसाकि निम्नलिखित श्लोकों में वर्णन किया है किः—

तव पुत्रा दुरात्मानः सर्वे मन्युवशानुगा ।
प्राप्तकालमिदं वाक्यं कालपाशेन गुंठिताः ॥
द्वैपायनो नारदश्चकण्वोरामस्तथाऽनघ ।
अवारयस्तवसुतं न चासौ तद्गृहीतवान् ॥

म० भी० प० १३।२६—२७

अर्थ—व्यास, नारद, कण्वऋषि तथा बलराम, यह सब मिलकर तुम्हारे पुत्रों को समझा रहे कि तुम युद्ध मत करो पर उन दुरात्माओं ने एक न मानी और जब पाण्डव वनवास से घर आये तब भी उनके साथ

अच्छा वर्ताव नहीं किया और नाही उनके योगक्षेम के लिये कुछ दिया, फिर कृष्णजी ने इस व्यवस्था को देखकर पाण्डवों का पक्ष लिया, यह कथा महाभारत में बहुत विस्तार से है यहां केवल बीजमात्र ही लिखी है, एवं यह कुलघातक संग्राम अटल होगया, उस समय दुर्योधन जैसे दुष्टों को संहार करने से विना देश का कल्याण कदापि सम्भव न था, यही कारण अर्जुन को क्षात्रधर्म के उपदेश करने का था, जब दोनों ओर की सेनाओं के योद्धा जुड़कर कुरुक्षेत्र भूमि में इस प्रकार युद्धार्थ उद्यत हुए जैसाकि इन श्लोकों में वर्णित है कि:-

> वादित्रशब्दस्तुमुलः शंख भेरी विमिश्रितः ।
> शूराणां रणशूराणां गर्जतामितरेतरम् ॥
> उभयोः सेनयोः राजन् महान् व्यतिकरोऽभवत् ।
> अन्योऽन्यं वीक्ष्यमाणानां योधानां भरतर्षभ ॥
> कुंजराणां च नदतां सैन्यानां च प्रहृष्यताम् ॥

म० भी० प० २४ । ६–७–८

अर्थ—रण में शूरवीर और आपस में गर्जना करने वाले योद्धाओं के वाद्यों का शब्द शंख और भेरी के शब्दों से मिलकर बहुत होने लगा, और हे राजन् ! दोनो सेनाओं के योद्धाओं का देखते २ आपस में वड़ा व्यतिकर अर्थात् परस्पर मिलकर युद्ध होने के लिये जमाव होगया, और हस्ति तथा अन्य साधारण सैनिक भी आपस में युद्ध के लिये एक दूसरे के सन्मुख होगये, तव धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा कि "धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे"=धर्म के क्षेत्र कुरुक्षेत्र में मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने फिर क्या किया ? इस प्रकार उस समय के योद्धाओं का कुरुक्षेत्र भूमि में युद्धार्थ एकत्रित होना ही गीता का उपोद्घात था, इस कथाप्रसंग में मुख्य प्रयोजन क्षात्रधर्म में प्रवृत्त करते हुए "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि" इत्यादि आत्मविवेक के वाक्यों द्वारा षट्शास्त्रों के भावों को यों सङ्गत करते हैं कि अर्जुनविषादयोगाध्याय के अनन्तर अर्जुन को उक्त श्लोक द्वारा जीवात्मा की नित्यता प्रतिपादन करके कर्मविभाग का प्रतिपादन किया,

औरइस द्वितीयाध्याय में सांख्यशास्त्र को आत्मविवेक द्वारा सङ्गत करदिया कि जब तक आत्मविवेक नहीं होता तब तक परमात्मविवेक नहीं होसक्ता, इस प्रकार सांख्यादि पट्शास्त्र गीता में चरितार्थ होजाते हैं, आधुनिक वेदान्ति और नैयायिकादि सब लोग पट्शास्त्रों के सिद्धान्तों को आपस में भिन्न२ कथन करते हैं, जैसाकि आधुनिक नैयायिक २१ प्रकार के दुःखों के ध्वंस को मुक्ति मानते हैं, वह २१ दुःख यह हैं—शरीर, श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रिय, छठा मन, इन छओं के शब्दादि छ विषय तथा इन्द्रियों द्वारा इन छ विषयों का ज्ञान और सुख तथा दुःख, इन्हीं दुःखों के अभाव को नवीन नैयायिक "मुक्ति" मानते हैं, और शरीरादि २० पदार्थों को दुःख का उत्पादक होने से दुःख कथन किया गया है अर्थात् दुःखसम्बन्धि होने से दुःख शब्द से वह भी कथन किये गये हैं, जैसे विष सम्बन्धि अन्न खाने से विषभक्षण शब्द का प्रयोग आता है इसी प्रकार दुःखसम्बन्धि होने से श्रोत्रादि इन्द्रियों, उनके विषयों, उनके ज्ञानों और शरीर तथा सुख में दुःख शब्द का प्रयोग किया गया है, एवं वैशेषिकशास्त्र के मानने वाले भी दुःखनाश को ही "मुक्ति" मानते हैं, सांख्यशास्त्र वाले प्रकृति से पुरुष का असंग होकर रहना ही "मुक्ति" मानते हैं, यही सिद्धान्त नवीन योगमतावलम्बियों का है, सांख्यशास्त्र वाले प्रकृति पुरुष के विवेक से "मुक्ति" मानते हैं, और इनके मत में प्रकृति से पुरुष को भिन्न जानलेने से फिर प्रकृति उस पुरुष के बन्धन का हेतु नहीं होती, इनके मत में पुरुष का असंग होजाना ही "मुक्ति" है, योगशास्त्र वालों की कैवल्यमुक्ति में इनसे इतना भेद है कि वह अष्टांगयोग से "मुक्ति" मानते हैं, और पुरुष को असंग मानने में नवीन सांख्य और योग दोनों समान हैं, मीमांसक अक्षयसुख की प्राप्ति को "मुक्ति" मानते हैं, और नवीनवेदान्ति अविद्या की निवृत्ति द्वारा जीव के ब्रह्म बनने को "मुक्ति" मानते हैं, रामानुज के मत में ईश्वर के सत्यसङ्कल्पादि भावों को धारण करने का नाम "मुक्ति" है, वल्लभाचार्य्य के मत में

गोलोक में कृष्णजी के साथ रासलीला करने का नाम " मुक्ति " है, और माध्वाचार्य्य के मत में मुक्ति चार प्रकार की है अर्थात् सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य = विष्णु लोक में जारहने का नाम "सालोक्य" उस साकार विष्णु के समीप जारहने का नाम "सामीप्य" उसके समान रूप वाला होने का नाम "सारूप्य" और उसके साथ सिंहासनादिकों पर बैठने का नाम "सायुज्य" है, इस प्रकार के अवैदिक सिद्धान्तों को मानने से आर्य्यशास्त्र का महत्व नष्टप्रायः हो-रहा है, इसी कारण विदेशीय धर्मावलम्बी लोग आर्य्यदर्शनों पर "षट्दर्शनदर्पणादि" ग्रन्थ लिखकर यह सिद्ध करते हैं कि आर्य्यों की मुक्ति पाषाणतुल्य है, इत्यादि आक्षेपों का कारण नवीन वैशेषिकादि मत हैं जिनमें केवल दुःखाभाव को ही मुक्ति माना है, मूल दर्शनों में सुख दुःख के अभाव से पत्थर तुल्य होजाने का नाम मुक्ति कहीं भी नहीं, "दुःख जन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम्" न्या० १ । १ । २ इत्यादि सूत्रों में जो मुक्ति वर्णन कीगई है वह अवैदिक नहीं प्रत्युत वैदिक है, क्योंकि इस सूत्र में केवल दुःखाभाव का नाम मुक्ति नहीं किन्तु दुःखाभाव होने से जो जीव की ईश्वर के सत्यसङ्कल्पादि धर्मों के धारण द्वारा दशा विशेष होती है उसका नाम मुक्ति है, जैसाकि "जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदंगच्छन्त्यनामयम्" गी० २ । ५१ में कर्मयोगरूप बुद्धि से युक्त पुरुष अनामय नाम दुःखरहित पद को प्राप्त होते हैं, पर उस पद में केवल दुःखाभाव ही नहीं किन्तु दुःखों का अभाव होकर परमात्मा के निरवधिक सुख की प्राप्ति होती है, जैसाकि "रसंह्येवायंलब्ध्वानन्दीभवति" इत्यादि वाक्यों में मुक्त पुरुष को आनन्द का भोक्ता कथन किया गया है, उक्त गीता श्लोक में न्याय, वैशेषिक शास्त्रों को संगत करदिया कि इन दोनो शास्त्रों में केवल दुःखाभाव का नाम मुक्ति नहीं किन्तु दुःख के अभाव तथा ईश्वर के स्वरूपभूत आनन्द की उपलब्धि का नाम मुक्ति है, और उक्त न्यायसूत्र के यह अर्थ हैं कि तत्वज्ञान के होने से मिथ्याज्ञान नाश होजाता, मिथ्या ज्ञान के नाश होने से दोष नाश होजाते, दोषों के नाश से प्रवृत्ति,

प्रवृत्ति के नाश से जन्म और जन्म के नाश होने से सांसारिक दुःखों का नाश होजाता है, एवं पुरुष शुद्ध होकर उस परमात्मा की तद्धर्मतापत्ति रूप मुक्ति को प्राप्त होता है, इस प्रकार न्याय तथा वैशेषिक शास्त्र की मुक्ति पाषाण के सदृश नहीं, और "एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु" गी० २ । ३९ इत्यादि श्लोकों में सांख्य तथा योगशास्त्र को, और "ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव" गी० १३ । ४ इस श्लोक में वेदान्त शास्त्र को संगत करदिया, ब्रह्मसूत्र यहां मीमांसाशास्त्र का भी उप लक्षण है, इस प्रकार षट्शास्त्रों के सिद्धान्त गीता में गतार्थ होजाते हैं ॥

ननु—जब षट्शास्त्रों के सिद्धान्त आपस में इस प्रकार विरुद्ध हैं कि सांख्य, योग केवल प्रकृति पुरुष के विवेक से मुक्ति मानते अर्थात् जीव प्रकृति के तत्वज्ञान से मुक्ति मानते हैं और न्याय, वैशेषिक सब पदार्थों के तत्वज्ञान से तथा मीमांसक कर्म और वेदान्ती ब्रह्मज्ञान से मुक्ति मानते हैं, एवं भिन्न२ साधनों से उक्त शास्त्रकार मुक्ति मानते हैं तो फिर ऐसे स्थूल भेदों का विरोध परिहार कैसे होसक्ता है ? उत्तर—उक्त शास्त्रों का सिद्धान्त आपस में विरुद्ध नहीं, क्योंकि सभी शास्त्र वेदोक्त मुक्ति के ही साध-नादि निरूपण करते हैं भेद केवल इतना है कि यद्यपि मुक्ति का साक्षात् साधन ईश्वर का तत्वज्ञान है केवल प्रकृति पुरुष का विवेकादि ज्ञान नहीं तथापि जब तक प्रकृति से पुरुष = आत्मतत्व का विवेक ज्ञान नहीं होता तब तक परमात्मा का तत्वज्ञान होना असम्भव है और जब तक यावत् पदार्थों के साधर्म्य वैधर्म्य से उनके तत्त्व का ज्ञान न हो तब तक आत्मतत्व का विवेकज्ञान होना भी असंभव है, और जब तक पुरुष यज्ञादि कर्मों द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि को सम्पादन नहीं करता तब तक तत्वज्ञान का अधिकारी भी नहीं होसक्ता, इसलिये यज्ञादि कर्म, पदार्थतत्वज्ञान और प्रकृति पुरुष विवेक, यह सब मुक्ति के साक्षात् साधन ईश्वरतत्वज्ञान का साधन होने से मुक्ति के ही साधन हैं, अतएव मीमांसा यज्ञादि कर्मों को, न्याय, वैशेषिक पदार्थों के तत्वज्ञान को तथा सांख्य, योग प्रकृति पुरुष विवेक को मुक्ति का साधन कथन करते हैं, इस प्रकार उक्त शास्त्रों में मुक्ति के साधनों का भिन्न २ निरूपण होने पर भी कोई विरोध नहीं,

क्योंकि प्रक्रिया भेद होने पर भी सबका मुख्योद्देश्य एक ही है, एवं पांच दर्शनों में प्रकृति पुरुष विवेक का वर्णन सर्वाङ्ग पूर्ण होने से—

"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"

इस वैदिकभाव में मुक्ति के साक्षात् साधन ब्रह्मज्ञान को महर्षिव्यास ने ब्रह्मसूत्रों में वर्णन किया और वह परमात्मसाक्षात्कार श्रवण, मननादिकों से विना सर्वथा असम्भव है, अतएव उपनिषदों में कथन किये

"आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"

इन श्रवणादि साधनों से आत्मा का साक्षात्कार ब्रह्मसूत्रों ने विस्तार से वर्णन किया है, "द्रष्टव्य" के अर्थ परमात्मा की ओर दृष्टि लगाना "श्रोतव्य"=गुरुमुख द्वारा वेद का श्रवण करना, उस श्रवण को तर्क से विचार करने का नाम "मनन" और श्रवण, मनन किये हुए अर्थ को वारम्वार चिन्तन करने का नाम "निदिध्यासन" है, इन श्रवणादि साधनों से मुक्ति के साक्षात् साधन एकमात्र परमात्मविज्ञान को ब्रह्मसूत्रों के कर्त्ता=उत्तरमीमांसकार महर्षिव्यास ने पूर्ण किया, इस प्रकार शास्त्रों के सिद्धान्तों में विरोध नहीं ॥

और जो सांख्य, योग, वेदान्त यह तीन शास्त्र प्रकृति को उपादान कारण मानते हैं और न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा यह तीन परमाणुओं को उपादान कारण मानते हैं, यह विरोध इसलिये नहीं कि परमाणु प्रकृति की एक स्थूलावस्था है अर्थात् प्रकृति के ज्ञानार्थ उसको परमाणुओं की अवस्था से वर्णन किया गया है, जैसाकि प्रकृति के बोधनार्थ गुणत्रय-संघातरूप से प्रकृति को वर्णन किया है, एवं परमाणुरूप से प्रकृति का ही वर्णन है, और यदि ऐसा न होता तो परस्पर एक दूसरे के माने हुए उपादान कारण को एक दूसरा अवश्य खण्डन करता, पर ऐसा लेख शास्त्रों में कहीं नहीं, अतएव सब शास्त्रों का एकमत है, और इसी अर्थ को गीता में स्पष्ट रीति से वर्णन किया है, जैसाकिः—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ गी० १३।२४

इस श्लोक में ध्यान से वैशेषिकादि युक्तिप्रधान शास्त्रों का ग्रहण है, सांख्य, योग इसमें स्पष्ट हैं, कर्मयोग से मीमांसा का ग्रहण और वेदान्त को इसी अध्याय के चतुर्थ श्लोक में वर्णन कर आये हैं, इस प्रकार गीता षट्शास्त्र के अर्थ का भाण्डार और कर्मोपासना तथा ज्ञानरूप वेदार्थ का सार है, उक्त कारणों से गीता सर्व मनुष्य मनोहारिणी मानी गई है, इसी कारण गीता महात्म्य में ऐसे श्लोक पाये जाते हैं कि :—

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिनेदिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥

अर्थ—शरीर की शुद्धि के लिये प्रतिदिन स्नान करना पड़ता है पर गीतारूप जल में एकवार स्नान करने से संसाररूपी सम्पूर्ण मल नाश होजाते हैं ।

ननु—जब गीतामहात्म्य के उक्त श्लोक से आप गीता का महत्व वर्णन करते हैं तो :—

गीतासुगीताकर्त्तव्याकिमन्यैःशास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयंपद्मनाभस्यमुखपद्माद्विनिःसृता ॥

इत्यादि श्लोकों में वर्णन किये हुए भावों को ग्रहण क्यों नहीं करते ? उत्तर—यह श्लोक गी० १८ । ७५ से विरुद्ध है, क्योंकि इस श्लोक में यह लिखा है कि संजय ने व्यासजी के प्रसाद से गीता को सुना, इससे पाया जाता है कि गीता कृष्णजी के मुख से नहीं निकली किन्तु महर्षि व्यास ने ग्रन्थन की है ।

ननु—जब गीता को व्यासजी ने ग्रन्थन किया है तो गी० १८ । ७८ की संगति में यह कैसे कथन किया कि अब संजय अपनी नीति निपुणता से पाण्डवों की विजय कथन करते हैं ? उत्तर—व्यासजी स्वयं महाभारत युद्ध में उपस्थित थे और उस युद्ध के समाचार को संजय के पास प्रतिदिन भेजते रहते थे जिससे संजय ने युद्ध के भावी परिणाम को अनुमान द्वारा जानकर ऐसा कहा, इसको पौराणिक भावों वाले लोग दिव्यदृष्टि कथन करते हैं कि

व्यासजी ने संजय को ऐसी दिव्यदृष्टि दी थी कि जिससे संजय को हस्तिनापुर में बैठे हुए सब युद्ध दीखता था, अस्तु-किसी यन्त्र विशेष की शक्ति से ऐसा होता हो तो कुछ आश्चर्य्य नहीं, पर यहां खण्डनीय बात यह है कि जिसका नाम झूठ मूठ दिव्यदृष्टि रखा है वह ठीक नहीं, क्योंकि महाभारत के उस प्रकरण में इस दिव्यदृष्टि से संजय ने ८४ सहस्र योजन ऊंचे सुवर्ण के मेरु=पहाड़ को देखा और मेघों से मांस की वृष्टि होते हुए देखी, इत्यादि अनेक बातों को ईश्वरीय नियमविरुद्ध वर्णन किया गया है, कहां तक लिखें अधिक लिखने से ग्रन्थ बढ़ता है, जम्बूद्वीप का जो चित्र उसमें दिया है वह मिथ्या विश्वास सागर के पौराणिक भंवरों से भरा है, इस लिये विश्वास योग्य नहीं ॥

इस विचार से सार यह निकला कि गीता ग्रन्थ का ग्रन्थन महर्षि व्यासजी ने किया है, अतएव यह ग्रन्थ सब शास्त्रों का सार और एकमात्र परमात्मा की अनन्यभक्ति का आधार है ॥

ननु—गीता में तो बहुत स्थलों में कृष्णजी अपने आपको ईश्वर वर्णन करते हैं फिर इसको ईश्वर की अनन्यभक्ति का आधार कैसे कहा जाता है ? इसका उत्तर यह है किः—

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्त वा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥

ऋग्० ८।७।१२।६

अर्थ—मैं रुद्ररूप परमात्मा के धनुष को चढ़ाती, मैं ही वेदविरोधियों के हननार्थ उद्यत होती, मैं ही दैवीसम्पत्ति के विरोधियों का नाश करती और मैं ही द्युलोक तथा पृथिवीलोक के भीतर अन्तर्यामीरूप से व्याप्त हूं, इस मन्त्र में ब्रह्मवादिनी स्त्री की ओर से परमात्मा ने आत्मभाव का प्रकाश किया है अर्थात् "अहंग्रह" उपासना के भाव से ब्रह्मवादिनी स्त्री अपने आपको परमात्मभाव से कथन करती है अथवा ब्रह्म को उपास्य मानने वाली स्त्री परमात्मा के गुणों को धारण करके "अहंभाव" से परमात्मा का कथन करती है, एवं वेद के कई एक सूक्त कृष्णजी वाले "अहंभाव" का कथन करते हैं, ग्रन्थविस्तारभय से यहां नहीं लिखे, स्त्री

की ओर से इस अहंभाव के प्रकाशित करने का यह भी भाव है कि स्त्री पुरुष दोनों को वेद का समान अधिकार है, जैसाकि जिज्ञासुओं की ओर से वेद के अन्य स्थलों में भी यह कथन पायाजाता है कि यह बात हम धीर पुरुषों से श्रवण करें, एवं यहां भी ब्रह्मवादिनी स्त्री की ओर से अहंभाव का कथन है, यही भाव इन्द्रप्रतर्दनाधिकरण में महर्षिव्यास ने ब्रह्मसूत्रों में कथन किया है कि परमात्मा के गुणों को धारण करके जीव उसका अहंभाव से कथन करसक्ता है, और इसी भाव से कौषीतकी उपनिषद् में इन्द्र ने प्रतर्दन को कहा है कि " मैं ब्रह्म हूं " अधिक क्या वेदोपनिषदों के अनेक स्थलों में इस प्रकार के अहंभाव का उपदेश पायाजाता है जिसका तात्पर्य्य वक्ता के ब्रह्म होने का नहीं होता किन्तु परमात्मा की ओर से यह उपदेश होता है, इसी भाव से योगेश्वर कृष्ण ने गीता में परमात्मा की ओर से उपदेश किया है, पर इस मर्म को अविद्यान्धतम से तिरोहित नयनों वाले ईश्वरीय योग में अयुक्त पुरुष नहीं जानसकते, वास्तव में गीता तथा वेदों का जीव ब्रह्म के एकत्व में तात्पर्य्य नहीं, यदि गीता का जीव ब्रह्म के एकत्व में तात्पर्य्य होता तो "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" गी० १३। २० इत्यादि श्लोकों में प्रकृति को उपादान कारण और जीव को उससे पृथक् अनादि कथन न किया जाता, और "उपद्रष्टाऽनुमन्ता च" गी० १३। २२ इस श्लोक में ईश्वर को पृथक् वर्णन किया है अर्थात् गीता में ईश्वर, जीव तथा प्रकृति इन तीन पदार्थों को अनादि अनन्त माना है, अतएव यह भेदवाद का ग्रन्थ है एक ब्रह्मवाद का नहीं, और यह भेदवाद, या यों कहो कि भक्तिभाव गीता में वेदभगवान् से लियागया है, जैसाकिः—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थ शासश्चरन्ति॥

ऋग्० १०। ८२। ७

इस मंत्र में अन्यत्, युष्माकं, अन्तरं, इन तीन पदों से जीव—ब्रह्म के भेद को स्पष्ट रीति से वर्णन किया है अर्थात् (अन्यत्) और (युष्माकं) तुम्हारे तादात्म्य = आत्मत्व से (अन्तरं) स्पष्ट भेद का बोधक है,

सायणाचार्य्य ने उक्त तीनो पदों के यह अर्थ किये हैं कि "युष्माकमहं प्रत्ययगम्यानां जीवानां अन्यदहं प्रत्ययगम्यादतिरिक्तं"= जीवों से भिन्न ईश्वरतत्व है, जीव अहंप्रत्ययगम्य नहीं।

यहां यह आश्चर्य्य प्रतीत होता है कि मायावादी वेदान्ति लोग "अहं-ब्रह्मास्मि" इस वाक्यके यह अर्थ करते हैं कि "मैं ब्रह्म हूं" अर्थात् यह वाक्य ब्रह्म पदार्थ को आत्मत्वेन बोधन करता है, पर जब सिद्धांत में "अहं प्रत्यय" का वाच्य जीव ही होता है तो फिर यह वाक्य ब्रह्म का बोधक कैसे होसकता है, परन्तु इनका सिद्धान्त यह है कि "मैं ब्रह्म हूं" यह माया की वृत्ति है, इसी अभिप्राय से सायणाचार्य्य ने उक्त मंत्र के भाष्य में यह कथन किया है कि "अहं प्रत्यय" का विषय जो जीव उससे ब्रह्म भिन्न है, यहां प्रत्यय नाम ज्ञान का है, इससे यह मंत्र जीव ब्रह्म के भेद को स्पष्ट रीति से वर्णन करता है, जिस प्रकार उक्त ऋग्वेद के मंत्र में "अन्यद्" शब्द कहकर जीव ब्रह्म के भेद को बोधन किया है इसी प्रकार चारो वेदों में एक भी मंत्र नहीं जो जीव ब्रह्म को एक कथन करता हो अथवा इनका अभेद वर्णन करता हो।

भाव यह है कि "अहं ब्रह्मास्मि" यह भी मायिक ज्ञान है तत्त्वज्ञान नहीं, इसी अभिप्राय से पञ्चदशी के कर्त्ता विद्यारण्य स्वामी ने यह कथन किया है कि "कूटस्थोऽस्मीति बोधोऽपि मिथ्याचेन्नेतिको वदेत् नहि सत्यतयाभिष्टं रज्जुसर्पविसर्पणम्"=मैं ब्रह्म हूं, ऐसा बोध भी मिथ्या ही है सत्य नहीं, क्योंकि जो रज्जु में कल्पित सर्प है उसका गमनागमन भी मिथ्या ही है, इस प्रकार नवीन वेदान्ति "अहं-ब्रह्मास्मि" इस महावाक्य को भी मिथ्यार्थ का बोधक ही मानते हैं यथार्थ का बोधक नहीं।

इनके मत में महावाक्य के अर्थ जीव ब्रह्म की एकता बोधन करने वाले वाक्य के हैं और यह अवान्तर वाक्य उसको कहते हैं जो जीव ब्रह्म के स्वरूप को पृथक् २ बोधन करे, जैसाकि "सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" तैत्ति० २।१ यह वाक्य है, एवं तत्त्वमस्यादि चारो वाक्यों को नवीन वेदान्ति महावाक्य कहते हैं, जिनको हमने अर्थ सहित भाष्य में कई स्थानों

पर उद्धृत किये हैं, यहां इतना ही दर्शाना उपयुक्त था कि यह उपनिषद्वाक्य हैं वेदवाक्य नहीं, और उपनिषदों में भी यह जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य बोधन करने वाले वाक्य नहीं किन्तु नदी समुद्रादिकों के दृष्टान्त से ब्रह्म में निमग्न होना कथन करते हैं, अधिक क्या, गीता में भी कोई वाक्य ऐसा नहीं जो जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादक हो, यह लोग "ब्रह्मसम्पद्यते" गी० १३।३० इस वाक्य पर बहुत बल देते हैं परन्तु उक्त वाक्य में ब्रह्म कर्म है, जैसाकि "देवदत्तो ग्रामं गच्छति" इस वाक्य में ग्राम कर्म है, जब कर्म तथा कर्त्ता का स्पष्ट भेद है तो फिर उक्त दोनों का अभेद=एकता कैसे ?।

मधुसूदन स्वामी इसके यह अर्थ करते हैं कि " ब्रह्म सम्पद्यते—सजातीयविजातीयभेददर्शनाभावात् ब्रह्मैव सर्वानर्थशून्यं भवति "=सजातीय=जीव जैसा अन्य जीव, विजातीय=जीव से भिन्न जाति वाला जड़ पदार्थ, इस प्रकार के भेद का ज्ञान उस अवस्था में नहीं रहता इसलिये ब्रह्म होना कथन किया गया है, और जो यह कहा गया है कि जीव सब अनर्थों से रहित ब्रह्म ही होजाता है, जब इनके मत में सब अनर्थों का मूल माया, अविद्या वा अज्ञान ब्रह्माश्रित=ब्रह्म के सहारे रहता है तो फिर ब्रह्म सब अनर्थों से रहित कैसे होसक्ता है, इस प्रकार पूर्वोत्तर मीमांसा करने से सिद्ध है कि श्रीमद्भगवद्गीता एकमात्र ब्रह्मप्राप्ति का ग्रन्थ है ब्रह्म बनने का नहीं ॥

यह "गीतार्य्यभाष्य" इससे पूर्व पांच बार छपकर प्रकाशित होचुका है परन्तु पूर्व की दो आवृत्तियों में इस भाष्य के छापने का भार ऐसे आदमियों के सिर पर रहा जो इसके योग्य न थे, अब इस बार इस भाष्य को भलेप्रकार शोधकर तथा बढ़ाकर छापा है, इस भाष्य के पदार्थ तथा संगति आदि में जहां २ त्रुटि थीं और जिन श्लोकों के पदार्थ में स्पष्टार्थ विदित नहीं होते थे उनको ठीक करके अन्य त्रुटियों को भी पूर्ण किया है जो पाठकों को अब पढ़ने में रुकावट न होगी, इस आवृत्ति में भी प्रेस की कुछ अशुद्धियें दृष्टिगत होती हैं, सो आशा है पाठक महाशय देखभालकर पढ़ेंगे और इस अनुपम ग्रन्थ से लाभ उठावेंगे ॥

आर्य्यमुनि

विषयसूची

प्रथमाध्याय

द्वितीयाध्याय

तृतीयाध्याय

चतुर्थाध्याय

पंचमाध्याय

षष्ठाध्याय

सप्तमाध्याय

अष्टमाध्याय

नवमाध्याय

दशमाध्याय

एकादशाध्याय

द्वादशाध्याय

त्रयोदशाध्याय

चतुर्दशाध्याय

पंचदशाध्याय

षोडशाध्याय

सप्तदशाध्याय

अष्टादशाध्याय

इति शम्

ओ३म्

अथ गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्यं प्रारभ्यते

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामका पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

पद०-धर्मक्षेत्रे । कुरुक्षेत्रे । समवेताः । युयुत्सवः । मामकाः । पाण्डवाः । च । एव । किं, अकुर्वत । संजय ॥

पदा०-धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा कि (संजय) हे संजय ! (धर्मक्षेत्रे, कुरुक्षेत्रे) धर्म के क्षेत्र=स्थान कुरुक्षेत्र में (मामकाः) मेरे (च) और (पाण्डवाः, एव) पांडु के पुत्र (समवेताः) एकत्रित होकर (युयुत्सवः) युद्ध की इच्छा करते हुए (किं, अकुर्वत) क्या करते हैं ।

भाष्य-कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र इस अभिप्राय से कहा गया है कि वह स्थान युद्ध के लिये नियत किया गया था और क्षात्रधर्म की पूर्त्ति का स्थान होने से भी इसको धर्मक्षेत्र माना है अथवा प्रथम इस स्थान में कई एक यज्ञ होने के कारण भी इसको धर्मक्षेत्र कथन किया गया है, इसका वर्णन शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट है ॥

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजावचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

पद०-दृष्ट्वा । तु । पाण्डवानीकं । व्यूढं । दुर्योधनः । तदा । आचार्य्यं । उपसंगम्य । राजा । वचनं । अब्रवीत् ॥

पदा०-(पांडवानीकं) पांडवों की अनीक=सेना को (दृष्ट्वा, तु) देखकर, जो (व्यूढं) विचित्र रचना से सजाई गई थी (दुर्योधनः) राजा दुर्योधन (तदा) तब (आचार्य्यं, उपसंगम्य) द्रोणाचार्य्य को प्राप्त होकर (वचनं, अब्रवीत्) यह वचन बोला किः-

पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य्य महतीं चमूम् ।

व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

पद०-पश्य । एतां । पांडुपुत्राणां । आचार्य्य । महतीं । चमूम् । व्यूढां । द्रुपदपुत्रेण । तव । शिष्येण । धीमता ॥

पदा०-हे आचार्य्य (पश्य) देख (एतां) इस (पांडुपुत्राणां) पाण्डु के पुत्रों की (महतीं, चमूम्) बड़ी सेना को जो (तव) आपके (धीमता) बुद्धिमान् (शिष्येण) शिष्य (द्रुपदपुत्रेण) द्रुपद राजा के पुत्र से (व्यूढां) सजाई गई है ॥

अत्रशूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

पद०-अत्र । शूराः । महेष्वासाः । भीमार्जुनसमाः । युधि । युयुधानः । विराटः । च । द्रुपदः । च । महारथाः ॥

पदा०-(अत्र, शूराः) इस सेना में वहुत शूरवीर (महेष्वासाः) बड़े धनुषों वाले और (युधि) युद्ध में (भीमार्जुनसमाः)भीम अर्जुन के समान हैं और जिनके युयुधान, विराट, द्रुपद नाम हैं और यह सब महारथी हैं ॥

भाष्य-जो अकेला ही दशसहस्र सेना को युद्ध में लड़ावे अर्थात् जो दशहज़ार सेना का नेता हो उसको "महारथ" कहते हैं ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्य्यवान् ।
पुरुजित्कुंतीभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥

पद०-धृष्टकेतुः । चेकितानः । काशिराजः । च । वीर्य्यवान् । पुरुजित् । कुन्तीभोजः । च । शैब्यः । च । नरपुंगवः ॥

पदा०-धृष्टकेतु, चेकितान, वलवान् काशीराज तथा वहुत विजयवाला कुन्तीभोज और नरों में श्रेष्ठ राजा शिवि का पुत्र ॥

युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्चवीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

पद०-युधामन्युः । च । विक्रांतः । उत्तमौजाः । च । वीर्य्यवान् । सौभद्रः । द्रौपदेयाः । च । सर्वे । एव । महारथाः ॥

पदा०-बड़े पराक्रम वाला युधामन्यु, वलवान् उत्तमौजा तथा सुभद्रा का पुत्र और द्रौपदी के पुत्र यह सभी महारथी हैं ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

पद०—अस्माकं । तु । विशिष्टाः । ये । तान् । निबोध । द्विजोत्तम । नायकाः । मम । सैन्यस्य । संज्ञार्थं । तान् । ब्रवीमि । ते ॥

पदा०—(द्विजोत्तम) हे द्विजों में श्रेष्ठ (अस्माकं, तु, विशिष्टाः, ये) जो हमारे साथी हैं (तान्) उनको (निबोध) जान (नायकाः, मम, सैनस्य) जो मेरी सेना के नायक=सेनापति हैं (ते) तुमको (संज्ञार्थं) उनके नाम (ब्रवीमि) कहता हूं ॥

भवान्भीष्मश्चकर्णश्चकृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्चसौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

पद०—भवान् । भीष्मः । च । कर्णः । च । कृपः । च । समितिंजयः । अश्वत्थामा । विकर्णः । च । सौमदत्तिः । तथा । एव । च ।

पदा०—(भवान्)) आप, भीष्मपितामह, कर्ण, सभा को जीतनेवाला कृपाचार्य्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सौमदत्ति ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

पद०—अन्ये । च । बहवः । शूराः । मदर्थे । त्यक्तजीविताः । नाना-शस्त्रप्रहरणाः । सर्वे । युद्धविशारदाः ॥

पदा०—(अन्ये, च, बहवः, शूराः) और बहुत से शूरवीर (मदर्थे, त्यक्त-जीविताः) मेरे लिये जिन्होंने अपने जीवन को त्याग दिया है अर्थात् मेरे लिये मरने को उद्यत हैं (नानाशस्त्रप्रहरणाः) नाना शस्त्र हैं शत्रु को मारने के उपाय जिनके (सर्वे, युद्धविशारदाः) और यह सब युद्ध में विशारद=चतुर हैं ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तंत्विमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

पद०—अपर्याप्तं । तत् । अस्माकं । बलं । भीष्माभिरक्षितं । पर्याप्तं ।

तु । इदं । एतेषां । बलं । भीमाभिरक्षितं ॥

पदा०-(तत्, अस्माकं, बलं) वह हमारा सेनाबल (अपर्याप्तं) पूरा नहीं, क्योंकि (भीष्माभिरक्षितं) इसके सेनापति भीष्म हैं (इदं, एतेषां, बलं, तु) और पाण्डवों का बल तो (पर्याप्तं) पूरा है, क्योंकि (भीमाभिरक्षितं) उनका सेनापति भीमसेन है अर्थात् भीमसेन उभय पक्षपाती नहीं वह एक पक्ष में दृढ़ है, इसलिये उनका यह बल पूरा है ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तःसर्व एव हि ॥ ११ ॥

पद०-अयनेषु । च । सर्वेषु । यथाभागं । अवस्थिताः । भीष्मं । एव । अभिरक्षन्तु । भवन्तः । सर्वे । एव । हि ॥

पदा०-(अयनेषु, च, सर्वेषु) सर्व भागों=मोरचों पर (यथाभागं, अवस्थिताः) अपने २ भाग में ठहरे हुए (भवन्तः) आप (सर्वे, एव, हि) सब ही (भीष्मं, एव, अभिरक्षन्तु) भीष्मपितामह की ही रक्षा करें ॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादंविनद्योच्चैः शंखंदध्मौप्रतापवान् ॥ १२ ॥

पद०-तस्य । संजनयन् । हर्षं । । कुरुवृद्धः । पितामहः । सिंहनादं । विनद्य । उच्चैः । शंखं । दध्मौ । प्रतापवान् ॥

पदा०-इसके अनन्तर (तस्य) दुर्योधन को (संजनयन्, हर्षं) हर्ष उत्पन्न करते हुए (कुरुवृद्धः) कुरुवंश में वृद्ध (पितामहः) भीष्मपितामह (उच्चैः) उच्चस्वर से (सिंहनादं, विनद्य) सिंह समान गर्जकर युद्ध के वाद्यविशेष शंख को (दध्मौ) बजाने लगे ॥

ततः शंखाश्चभेर्यश्च पणवानक गोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यंत स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

पद०-ततः । शंखाः । च । भेर्यः । च । पणवानकगोमुखाः । सहसा । एव । अभ्यहन्यन्त । सः । शब्दः । तुमुलः । अभवत् ।

पदा०-(ततः) इसके अनन्तर (शंखाः) शंख (भेर्यः) भेरी, पणव अनक (च) और गोमुख आदि अनेक वाद्य (सहसा, एव) एक साथ ही (अभ्यहन्यन्त) बजाये गये (सः, शब्दः, तुमुलः, अभवत्) वह शब्द

तुमुल=वड़ा हुआ अर्थात् नभोमण्डल में व्याप्त होकर परिपूरित होगया ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवःपांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

पद०—ततः । श्वेतैः । हयैः । युक्ते । महति । स्यन्दने । स्थितौ । माधवः । पाण्डवः । च । एव । दिव्यौ । शंखौ । प्रदध्मतुः ॥

पदा०—(ततः) इसके पश्चात् (श्वेतैः, हयैः, युक्ते) श्वेत घोड़ों से युक्त (महति) बड़े (स्यन्दने) रथ पर (स्थितौ) स्थित (माधवः) कृष्ण (च) और (पाण्डवः) अर्जुन (दिव्यौ, शंखौ, प्रदध्मतुः) दिव्य शंखों को वजाने लगे ॥

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौंड्रंदध्मौ महाशंखं भीमकर्मावृकोदरः ॥ १५ ॥

पद०—पाञ्चजन्यं । हृषीकेशः देवदत्तं । धनंजयः । पौण्ड्रं । दध्मौ । महाशंखं । भीमकर्मा । वृकोदरः ॥

पदा०—(पाञ्चजन्यं) पाञ्चजन्य शंख (हृषीकेशः) कृष्ण ने (देवदत्तं) देवदत्त (धनञ्जयः) अर्जुन ने और पौण्ड्र नामक महाशङ्ख (भीमकर्मा) वड़े कर्मों वाले भीमसेन ने वजाया ॥

अनंतविजयं राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

पद०—अनन्तविजयं । राजा । कुन्तीपुत्रः । युधिष्ठिरः । नकुलः । सहदेवः । च । सुघोषमणिपुष्पकौ ॥

पदा०—(अनन्तविजयं) अनन्तविजय नामक शङ्ख (राजा, कुन्तीपुत्रः, युधिष्ठिरः) कुन्ती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने और (नकुलः) नकुल (च) तथा (सहदेवः) सहदेव ने (सुघोषमणिपुष्पकौ) सुघोष और मणिपुष्पक नामक शङ्खों को वजाया ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नोविराटश्चसात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

पद०—काश्यः । च । परमेष्वासः । शिखण्डी । च । महारथः ।

धृष्टद्युम्नः । विराटः । च । सात्यकिः । च । अपराजितः ॥

पदा०-(काश्यः, च, परमेष्वासः) बड़ा धनुषधारी काशी का राजा, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट और जो शत्रुओं से नहीं जीता जाता ऐसा सात्यकिः ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥

पद०-द्रुपदः । द्रौपदेयाः । च । सर्वशः । पृथिवीपते । सौभद्रः । च । महाबाहुः । शङ्खान् । दध्मुः । पृथक् । पृथक् ॥

पदा०-द्रुपद राजा और द्रौपदी के पुत्र तथा महाबल वाला सुभद्रा-का पुत्र, इन सब राजाओं ने युद्ध के उपयोगी अपने २ वाद्यों को बजाया॥

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

पद०-सः । घोषः । धार्त्तराष्ट्राणां । हृदयानि । व्यदारयत् । नभः । च । पृथिवीं । च । एव । तुमुलः । व्यनुनादयन् ॥

पदा०-युद्ध के वाद्यों का (तुमुलः) वह तीव्र शब्द (नभः) आकाश (च) और (पृथिवीं) पृथिवी को (व्यनुनादयन्) प्रतिध्वनि-रूप गूंज उत्पन्न करता हुआ (धार्त्तराष्ट्राणां) धृतराष्ट्र के पुत्रों के (हृदयानि) हृदयों को विदीर्ण करता था ॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥

पद०-अथ । व्यवस्थितान् । दृष्ट्वा । धार्त्तराष्ट्रान् । कपिध्वजः । प्रवृत्ते । शस्त्रसम्पाते । धनुः । उद्यम्य । पांडवः ॥

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (व्यवस्थितान्) युद्ध के लिये सन्नद्ध हुए (धार्त्तराष्ट्रान्) धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादिकों को (दृष्ट्वा) देखकर (कपि-ध्वजः) कपि का चिन्ह है ध्वजा में जिसके ऐसा (पांडवः) अर्जुन (शस्त्रसम्पाते, प्रवृत्ते) शस्त्रों के चलाने समय (धनुः, उद्यम्य) धनुष को उठाकर बोला किः-

अर्जुन उवाच

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्येरथंस्थापयमेऽच्युत ॥ २१ ॥

पद०–हृषीकेशं । तदा । वाक्यं । इदं । आह । महीपते । सेनयोः । उभयोः । मध्ये । रथं । स्थापय । मे । अच्युत ॥

पदा०–(महीपते) हे राजन् (तदा) तब अर्जुन (हृषीकेशं) कृष्ण को (इदं, वाक्यं) यह वाक्य (आह) बोला कि (अच्युत) हे कृष्ण ! (सेनयोः, उभयोः, मध्ये) दोनों सेनाओं के बीच (मे) मेरा (रथं) रथ (स्थापय) स्थित कर ॥

भाष्य–अच्युत=कृष्ण को इस अभिप्राय से कहा गया है कि वह किसी देश काल में भी अपनी दृढ़ नीति और प्रतिज्ञा से च्युत नहीं होते थे ॥

हृषीकेश=हृषीक नाम इन्द्रियों का ईश = स्वामी अर्थात् शमदमादि साधनसम्पन्न होने से कृष्ण को " हृषीकेश " कहा गया है ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

पद०–यावत् । एतान् । निरीक्षे । अहं । योद्धुकामान् । अवस्थितान् । कैः । मया । सह । योद्धव्यं । अस्मिन् । रणसमुद्यमे ॥

पदा०–(यावत्) जबतक (एतान्) इनको (निरीक्षे, अहं) मैं देखलूं (योद्धुकामान्, अवस्थितान्) जो युद्ध की कामना से स्थित हैं (कैः) किन के साथ (अस्मिन्, रणसमुद्यमे) इस रण में (मया, योद्धव्यं) मुझको युद्ध करना पड़ेगा ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

पद०–योत्स्यमानान् । अवेक्षे । अहं । ये । एते । अत्र । समागताः । धार्त्तराष्ट्रस्य । दुर्बुद्धेः । युद्धे । प्रियचिकीर्षवः ॥

पदा०–(योत्स्यमानान्) युद्ध करने वालों को (अवेक्षे, अहं) मैं देखलूं (ये, एते, अत्र, समागताः) जो यहां आये हुए हैं और (धार्त्तराष्ट्रस्य,

दुर्बुद्धेः) धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधन के (युद्धे) युद्ध में (प्रियचिकीर्षवः) प्रिय की इच्छा करते हैं ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्येस्थापयित्वारथोत्तम् ॥ २४ ॥

पद०—एवं । उक्तः । हृषीकेशः । गुडाकेशेन । भारत । सेनयोः । उभयोः । मध्ये । स्थापयित्वा । रथोत्तमं ॥

पदा०—संजय बोला कि भारत ! (एवं) इस प्रकार (गुडाकेशेन) वशीभूत निद्रा वाले अर्जुन ने कृष्ण को कहा तब (हृषीकेशः) कृष्ण (सेनयोः, उभयोः, मध्ये) दोनों सेनाओं के बीच (स्थापयित्वा, रथोत्तमं) उत्तम रथ को स्थापित करके:—

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

पद०—भीष्मद्रोणप्रमुखतः । सर्वेषां । च । महीक्षितां । उवाच । पार्थ । पश्य । एतान् । समवेतान् । कुरून् । इति ॥

पदा०—(भीष्मद्रोणप्रमुखतः) भीष्म, द्रोणाचार्य्य (च) और (सर्वेषां, च, महीक्षितां) सब राजाओं के सन्मुख (उवाच) बोले कि हे अर्जुन ! (पश्य, एतान्, समवेतान्) इन सब युद्ध में जुड़े हुए राजाओं को देख ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथपितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।
श्वसुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥ २६ ॥

पद०—तत्र । अपश्यत् । स्थितान् । पार्थः । पितॄन् । अथ । पितामहान् । आचार्यान् । मातुलान् । भ्रातॄन् । पुत्रान् । पौत्रान् । सखीन् । तथा । श्वसुरान् । सुहृदः । च । एव । सेनयोः । उभयोः । अपि ॥

पदा०—(तत्र) उस युद्ध में (अपश्यत्स्थितान्पार्थः) अर्जुन ने स्थित लोगों को देखा (पितॄन्, अथ, पितामहान्) जिनमें से कोई पिता के सदृश, कोई पितामह के सदृश, जैसे भीष्मपितामह (आचार्यान्) कोई आचार्य्य,

जैसे द्रोणाचार्य्य प्रभृति (मातुलान्) कोई मामा जैसे शकुनि आदि (भ्रातॄन्) कोई भाई जैसे दुर्योधनादि (पुत्रान्) कोई पुत्र, जैसे लक्ष्मणादि (पौत्रान्) कोई पौत्र, जैसे लक्ष्मणादिकों के पुत्र (सखीन्) कोई सखा, जैसे अश्वत्थामा आदि ॥

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बंधूनवस्थितान् ।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

पद०—तान् । समीक्ष्य । सः । कौन्तेयः । सर्वान् । बन्धून् । अवस्थितान् । कृपया । परया । आविष्टः । विषीदन् । इदं । अब्रवीत् ॥

पदा०—(सः, कौन्तेयः) वह अर्जुन (सर्वान्, बन्धून्, अवस्थितान्) सब बन्धुओं को युद्ध में स्थित देखकर (कृपयाः, परयाः, आविष्टः) परम कृपा के वश हुआ २ (विषीदन्) ताप को प्राप्त (इदं, अब्रवीत्) यह वचन बोलाः—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।
सीदन्ति ममगात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥ २८ ॥

पद०—दृष्ट्वा । इमं । स्वजनं । कृष्ण । युयुत्सुं । समुपस्थितं । सीदन्ति । मम । गात्राणि । मुखं । च । परिशुष्यति ॥

पदा०—(युयुत्सुं) युद्ध की इच्छा से (समुपस्थितं) उपस्थित हुए इस (स्वजनं) अपने बन्धुवर्ग को (दृष्ट्वा) देखकर (मम, गात्राणि) मेरे अंङ्ग (सीदन्ति) शिथिलता को प्राप्त होरहे हैं (मुखं, च, परिशुष्यति) और मुख सूखा जारहा है ॥

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।
गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ॥ २९ ॥

पद०—वेपथुः । च । शरीरे । मे । रोमहर्षः । च । जायते । गांडीवं । स्रंसते । हस्तात् । त्वक् । च । एव । परिदह्यते ॥

पदा०—(मे, शरीरे) मेरे शरीर में (वेपथुः) कम्प होरहा है (रोम हर्षः, च, जायते) रोम खड़े होरहे हैं (गाण्डीवं) गाण्डीव धनुष (हस्तात्)

हाथ से (स्रंसते) गिर रहा है (त्वक्, च, एव) और त्वचा भी (परिदह्यते) दाह को प्राप्त होरही है ॥

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि च केशव ॥ ३० ॥

पद०—न । च । शक्नोमि । अवस्थातुं । भ्रमति । इव । च । मे । मनः । निमित्तानि । च । पश्यामि । विपरीतानि । च । केशव ॥

पदा०—(केशव) हे कृष्ण ! (न, च) और न मैं (अवस्थातुं, शक्नोमि) ठहरने को समर्थ हूं (भ्रमति, इव, मे, मनः) मेरा मन घूमने के समान चलायमान होरहा है और (निमित्तानि) निमित्तों को (विपरीतानि, पश्यामि) विपरीत देखता हूं ॥

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।
न कांक्षेविजयंकृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥ ३१ ॥

पद०—न । च । श्रेयः । अनुपश्यामि । हत्वा । स्वजनं । आहवे । न । कांक्षे । विजयं । कृष्ण । न । च । राज्यं । सुखानि । च ॥

पदा०—(न, च) और न (हत्वा, स्वजनं, आहवे) अपने जनों को युद्ध में मारकर (श्रेयः, अनुपश्यामि) कल्याण देखता हूं, हे कृष्ण ! मैं (विजयं, न) न विजय की (न, च, राज्यं) न राज्य की और न (सुखानि, च) सुखों की (कांक्षे) इच्छा करता हूं ॥

किन्नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ॥३२॥

पद०—किं । नः । राज्येन । गोविन्द । किं । भोगैः । जीवितेन । वा । येषां । अर्थे । कांक्षितं । नः । राज्यं । भोगाः । सुखानि । च ॥

पदा०-गोविन्द=वैदिक वाणी के जानने वाले हे कृष्ण ! (नः) हमको (राज्येन) राज्य से (किं) क्या (किं, भोगैः) भोगों से क्या (वा) अथवा (जीवितेन) जीने से क्या (नः) हमको (भोगाः, सुखानि, च) भोग और सुख जिनके लिये प्यारे हैं (येषां, अर्थे, कांक्षितं, राज्यं) और जिनके लिये राज्य प्यारा है ॥

तइमेऽवस्थितायुद्धेप्राणांस्त्यक्त्वाधनानि च ।
आचार्याःपितरःपुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥३३॥

पद०—ते । इमे । अवस्थिता । युद्धे । प्राणान् । त्यक्त्वा । धनानि । च । आचार्याः । पितरः । पुत्राः । तथा । एव । च । पितामहाः ॥

पदा०—(ते, इमे) वह आचार्यादि (प्राणान्) प्राण (च) और (धनानि, त्यक्त्वा) धनों को छोड़कर (युद्धे, अवस्थितः) युद्ध में स्थित हैं ॥

मातुलाःश्वशुराःपौत्राःश्यालाःसंबंधिनस्तथा ।
एतान्न हंतुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ॥३४॥

पद०—मातुलाः । श्वशुराः । पौत्राः । श्यालाः । सम्बन्धिनः । तथा । एतान् । न । हन्तुं । इच्छामि । घ्नतः । अपि । मधुसूदन ॥

पदा०—मामे, श्वशुरे, पौत्र, साले और सम्बन्धि (घ्नतः, अपि) मुझको यह मारने के लिये तैयार भी हों तो हे मधुसूदन ! (एतान्, न, हन्तु, इच्छामि) मैं इनके मारने की इच्छा नहीं करता ॥

अपित्रैलोक्यराजस्य हेतोः किंनु महीकृते ।
निहत्यधार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिःस्याज्जनार्दन ॥ ३५ ॥

पद०—अपि । त्रैलोक्यराज्यस्य । हेतोः । किंनु । महीकृते । निहत्य । धार्त्तराष्ट्रान् । नः । का । प्रीतिः । स्यात् । जनार्दन ॥

पदा०—(त्रैलोक्यराज्यस्य, अपि, हेतोः) तीनों लोकों के राज्य के हेतु भी मैं इनको मारने की इच्छा नहीं करता (किंनु) क्या तो (महीकृते) पृथिवी के राज्य के लिये अर्थात् जब मैं तीन लोक के राज्य के लिये भी इनको मारना नहीं चाहता तो इस तुच्छ भूमि के लिये क्या (धार्त्तराष्ट्रान्, निहत्य) धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर (नः) हमको हे जनार्दन ! (का, प्रीतिः, स्यात्) क्या फल होगा ॥

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।
तस्मान्नार्हा वयं हंतुं धार्त्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३६ ॥

पद०—पापं । एव । आश्रयेत् । अस्मान् । हत्वा । एतान् । आततायिनः ।

तस्मात् । न । अर्हाः । वयं । हन्तुं । धार्त्तराष्ट्रान् । स्वबान्धवान् । स्वजनं । हि । कथं । हत्वा । सुखिनः । स्याम । माधव ॥

पदा०—(एतान्, आततायिनः) इन आततायियों*को (हत्वा) मारकर (पापं, एव, आश्रयेत्, अस्मान्) हमको उलटा पाप ही लगेगा (धार्त्तराष्ट्रान्, स्वबान्धवान्) धृतराष्ट्र के पुत्र जो यह हमारे बन्धु हैं (तस्मात्, न, अर्हाः, वयं, हन्तुं) हम इनको मारना योग्य नहीं समझते, हे माधव ! (स्वजनं, हि, हत्वा) अपने जनों को मारकर (कथं, सुखिनः, स्याम) हम कैसे सुखी हों ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३७ ॥

पद०—यद्यपि । एते । न । पश्यन्ति । लोभोपहतचेतसः । कुलक्षयकृतं । दोषं । मित्रद्रोहे । च । पातकं ॥

पदा०—(यद्यपि, लोभोपहतचेतसः) यद्यपि लोभी चित्तवाले (एते) ये दुर्योधनादि (कुलक्षयकृतं, दोषं) कुल के क्षय करने से जो दोष होता और (मित्रद्रोहे, च, पातकं) मित्र के साथ द्रोह करने से जो पातक होता है (न, पश्यन्ति) उसको नहीं देखते ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभि पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३८ ॥

पद०—कथं । न । ज्ञेयं । अस्माभिः । पापात् । अस्मात् । निवर्त्तितुं । कुलक्षयकृतं । दोषं । प्रपश्यद्भिः । जनार्दन ॥

पदा०—(जनार्दन) हे जनार्दन ! (कुलक्षयकृतं, दोषं, प्रपश्यद्भिः) कुल के क्षय करने वाले दोष को जानने वाले हम (अस्मात्पापान्निवर्त्तितुं) इन सम्बन्धियों के हत्या रूपी पाप से हटने के लिये (कथं, न, ज्ञेयं, अस्माभिः) किस प्रकार इस पाप को न जानें ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ३९ ॥

* जो अग्नि लगावे, विष दे, शस्त्र लेकर मारने को तैयार हो, धन चुरा ले जाय, भूमि और स्त्री को हर लेने वाला हो, यह छः "आततायी" कहलाते हैं ॥

पद०–कुलक्षये । प्रणश्यन्ति । कुलधर्माः । सनातनाः । धर्मे । नष्टे । कुलं । कृत्स्नं । अधर्मः । अभिभवति । उत ॥

पदा०–(सनातनाः, कुलधर्माः) सनातन जो कुल के धर्म हैं वह (कुलक्षये, प्रणश्यन्ति) कुल के नाश होने से नाश होजाते हैं (उत) और (धर्मे, नष्टे) धर्म के नष्ट होने पर (कुलं, कृत्स्नं) सम्पूर्ण कुल को (अधर्मः, अभिभवति) अधर्म तिरस्कृत कर देता है ॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषुदुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४० ॥

पद०—अधर्माभिभवात् । कृष्ण । प्रदुष्यन्ति । कुलस्त्रियः । स्त्रीषु । दुष्टासु । वार्ष्णेय । जायते । वर्णसंकरः ।

पदा०–हे कृष्ण ! (अधर्माभिभवात्) अधर्म बढ़ जाने के कारण (कुलस्त्रियः, प्रदुष्यन्ति) कुल की स्त्रियें दूषित होजाती हैं (स्त्रीषु, दुष्टासु) स्त्रियों के दुष्ट होने पर वार्ष्णेय=हे यादवकुलोद्भव (जायते, वर्णसंकरः) वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतंतिपितरोह्येषांलुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४१ ॥

पद०–संकरः । नरकाय । एव । कुलघ्नानां । कुलस्य । च । पतन्ति । पितरः । हि । एषां । लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।

पदा०–(संकरः) वर्णसंकर (कुलघ्नानां) कुल के नाश करने वाले (च) और (कुलस्य, नरकाय, एव) कुल को नरक में लेजाने वाले ही होते हैं (एषां) इनके (पितरः) पितर=माता पितादि (लुप्तपिण्डोदकक्रियाः) अन्न जल प्राप्त न होने के कारण (हि) निश्चयकरके (पतन्ति) दुःख को प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य–"लुप्तपिण्डोदकक्रिया" शब्द के अर्थ कई एक आधुनिक टीकाकार मृतकश्राद्ध के करते हैं, पर यह अर्थ इस शब्द से नहीं निकलते, क्योंकि वर्णसंकरों की उत्पत्ति अर्थात् व्यभिचार से उत्पन्न हुई सन्तति अपने वृद्ध पुरुषों का सन्मान न करेगी, इसलिये "लुप्तपिण्डो-

क्रिया" यह पितरों को विशेषण दिया गया है और इसी भाव को आगे के श्लोक में प्रकट किया है कि वर्णसंकर करने वाले दोषों से ही जाति नष्ट होती है मृतकश्राद्ध न करने से नहीं, यदि पुत्र को मृतकश्राद्ध का अधिकार न रहने से जाति नष्ट होती तो स्वामी शङ्कराचार्य्यादि जो संन्यासी होगये उनके पितरों को भी नरकवास होना चाहिये, पर ऐसे स्थलों में मृतकश्राद्धवादियों को यह अभिमत नहीं कि मृतकश्राद्ध के अभाव से ही पितर नरक में पड़ते हैं ॥

और बात यह है कि यदि यहां पितृशब्द से मृतपितरों का ग्रहण होता तो जो धर्मयुद्ध में मरगये हैं वह नरक में कैसे पड़ेंगे ? यदि मृतकश्राद्ध न करना ही मृतपितरों के नरक का हेतु है तो धर्मयुद्धादिकों के फ़ल तुच्छ होजावेंगे, और फिर "धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यतत्त्क्षत्रियस्य न विद्यते" गी० २ । ३१ इत्यादि श्लोक निष्फल होजावेंगे, अधिक क्या, इस स्थल में वर्णसंकर पर ही ग्रन्थकर्त्ता का तात्पर्य्य है, यदि इसके यही अर्थ किये जांय कि "पिण्डोदकक्रिया" से तात्पर्य्य उसी क्रिया का है जो आधुनिक ग्रन्थकारों ने मृतपितरों के निमित्त मानी है तो इसका उत्तर यह है कि मृतकश्राद्धवादियों के मत में क्षेत्रज पुत्र को भी पिण्डदान देने का अधिकार है फिर पितर नरक में क्यों पड़ेंगे ? यदि यह कहाजाय कि क्षेत्रज को तो अधिकार है पर वर्णसंकर क्षेत्रज को नहीं ? इसका उत्तर यह है कि व्यासादिकों के नियोग से जहां पाण्डु आदि की उत्पत्ति मानी गई है वहां ब्राह्मण और क्षत्रियों के सम्बन्ध से वर्णसंकर क्यों नहीं ? अतएव वास्तव में इसके अर्थ यह हैं कि व्यभिचार दोष से जो सन्तति उत्पन्न होती है उसको "वर्णसंकर" कहते हैं और उन संकरों के पितर इसलिये नरक में पड़ते अर्थात् दुःख भोगते हैं कि वह अपने वृद्धों का यथायोग्य सत्कार नहीं करते अर्थात् उन वृद्ध पितरों की जीतेजी सेवा न होना ही उनका नरकवास है ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः । उत्सा-
द्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४२ ॥

पद०—दोषैः । एतैः । कुलघ्नानां । वर्णसंकरकारकैः । उत्साद्यन्ते । जातिधर्माः । कुलधर्माः । च । शाश्वताः ॥

पदा०—(कुलघ्नानां) कुल के नाश करने वालों के (वर्णसंकर-करकैः) वर्णसंकर करने वाले (एतैः, दोषैः) उक्त दोषों से (जातिधर्माः) जाति के धर्म (च) और (कुलधर्माः) कुल के धर्म (शाश्वताः) निरन्तर (उत्साद्यन्ते) नाश होजाते हैं ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४३॥

पद०—उत्सन्नकुलधर्माणां । मनुष्याणां । जनार्दन । नरके । नियतं । वासः । भवति । इति । अनुशुश्रुम ॥

पदा०—हे जनार्दन ! (उत्सन्नकुलधर्माणां) नाश होगये हैं कुल के धर्म जिन मनुष्यों के उनका (नरके) नरक में (नियतं) नियमपूर्वक (वासः) निवास (भवति) होता है (इति) ये (अनुशुश्रुम) हमने शास्त्र से सुना है ॥

अहोबत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हंतुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४४ ॥

पद०—अहो । वत । महत्पापं । कर्तुं । व्यवसिताः । वयं । यत् । राज्यसुखलोभेन । हन्तुं । स्वजनं । उद्यताः ॥

पदा०—(अहो) बड़ा आश्चर्य्य है (वत) खेद है (महत्पापं) बड़े पाप के (कर्तुं) करने को (वयं) हम लोग (व्यवसिताः) उद्यत हुए हैं (यत्) जिस कारण (राज्यसुखलोभेन) राज्यसुख के लोभ से (स्वजनं) अपने बन्धुवर्ग को (हन्तुं) मारने के लिये (उद्यताः) तैयार हैं ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४५ ॥

पद०—यदि । मां । अप्रतीकारं । अशस्त्रं । शस्त्रपाणयः । धार्त्तराष्ट्राः । रणे । हन्युः । तत् । मे । क्षेमतरं । भवेत् ॥

पदा०—(अशस्त्रं) खाली हाथ (अप्रतीकारं) आगे से कोई उपाय

न करने वाले (मां) मुझको (शस्त्रपाणय:) हाथ में शस्त्र लिये हुए (धार्त्तराष्ट्राः) धृतराष्ट्र के पुत्र (रणे) युद्ध में (हन्युः) मारें (तत्) वह (मे) मेरे लिये (क्षेमतरं) कल्याणकारी (भवेत्) होगा ॥

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४६ ॥

पद०—एवं । उक्त्वा । अर्जुनः । संख्ये । रथोपस्थे । उपाविशत् । विसृज्य । सशरं । चापं । शोकसंविग्नमानसः ॥

पदा०—सञ्जय बोला (शोकसंविग्नमानसः) शोक से संविग्न = भग्न होगया है मन जिसका ऐसा (अर्जुनः) अर्जुन (एवं) इस प्रकार (उक्त्वा) कहकर (संख्ये) युद्ध में (सशरं) बाण के सहित (चापं) धनुष को (विसृज्य) छोड़कर (रथोपस्थे) रथ में (उपाविशत्) बैठगया ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे श्रीमद्भग-
वद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये, अर्जुनविषाद
योगो नाम प्रथमोऽध्यायः

अथ द्वितीयोऽध्यायः प्रारभ्यते

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

पद०—तं । तथा । कृपया । आविष्टं । अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं । विषीदन्तं । इदं । वाक्यं । उवाच । मधुसूदनः ॥

पदा०—(तथा) पूर्वोक्त प्रकार से (कृपया, आविष्टं) करुणा वाले (अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं) आंसुओं के भर आने से व्याकुल नेत्रों वाले (विषीदन्तं) विषाद को प्राप्त (तं) अर्जुन को (मधुसूदनः) कृष्ण (इदं, वाक्यं) यह वाक्य (उवाच) बोले कि:—

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

पद०—कुतः । त्वा । कश्मलं । इदं । विषमे । समुपस्थितं । अनार्यजुष्टं । अस्वर्ग्यं । अकीर्तिकरं । अर्जुन ।

पदा०—हे अर्जुन (इदं) यह (कुतः) किसलिये (त्वा) तुमको (कश्मलं) शिष्ट लोगों से निन्दित पाप (विषमे) भय के स्थान में (समुपस्थितं) प्राप्त हुआ है (अनार्यजुष्टं) जो वैदिकमर्यादा से रहित अनार्य्य पुरुषों के सेवन योग्य (अस्वर्ग्यं) नरक के देने वाला और (अकीर्तिकरं) अपयश का देने वाला है ॥

भाष्य—यहां "भगवान्" से तात्पर्य्य कृष्णजी का है अर्थात् जिसमें ऐश्वर्य्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष की इच्छा, यह छः गुण हों उसको "भगवान्" कहते हैं ॥

क्लैब्यं मास्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

पद०—क्लैब्यं । मास्मगमः । पार्थ । न । एतत् । त्वयि । उपपद्यते । क्षुद्रं । हृदयदौर्बल्यं । त्यक्त्वा । उत्तिष्ठ । परंतप ॥

पदा०—(परंतप) हे शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन ! (क्लैब्यं) क्लीवभाव जो अधीरता है (मास्मगमः) तुम उसको प्राप्त मत हो (एतत्) यह (त्वयि) तुम में (न, उपपद्यते) नहीं होना चाहिये (हृदयदौर्बल्यं, क्षुद्रं) हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को (त्यक्त्वा) छोड़कर (उत्तिष्ठ) उठ खड़ा हो ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

पद०—कथं । भीष्मं । अहं । संख्ये । द्रोणं । च । मधुसूदन । इषुभिः । प्रतियोत्स्यामि । पूजार्हौ । अरिसूदन ॥

पदा०—अर्जुन बोला कि (मधुसूदन) हे मधुसूदन ! * (अहं) मैं (कथं) कैसे (भीष्मं) भीष्मपितामह (च) और (द्रोणं) द्रोणाचार्य्य को (संख्ये) युद्ध में (इषुभिः) बाणों से (प्रतियोत्स्यामि) हनन करूं, क्योंकि (पूजार्हौ) यह दोनों पूजा के योग्य हैं ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

पद०—गुरून् । अहत्वा । हि । महानुभावान् । श्रेयः । भोक्तुं । भैक्ष्यं । अपि । इह । लोके । हत्वा । अर्थकामान् । तु । गुरून् । इह । एव । भुंजीय । भोगान् । रुधिरप्रदिग्धान् ॥

पदा०—(महानुभावान्) बड़े पुण्यशील (गुरून्) गुरुओं को (अहत्वा) न मारकर (हि) निश्चयकरके (भैक्ष्यं) भिक्षा का अन्न (भोक्तुं) खाना (श्रेयः) श्रेष्ठ है (इह, लोके) इस लोक में (अपि) भी (अर्थकामान्) अर्थ तथा काम के देनेवाले (गुरून्) गुरुओं को (हत्वा) मारकर (इह) यहीं (एवं) इस प्रकार (रुधिरप्रदिग्धान्) रुधिर से सिंचन किये हुए (भोगान्) भोगों को (भुंजीय) भोगूंगा ॥

---

* मधु नामा दैत्य को मारने के कारण कृष्ण का नाम "मधुसूदन" था ॥

नचैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः ॥६॥

पद०—नच । एतत् । विद्मः । कतरत् । नः । गरीयः । यद्वा । जयेम । यदिवा । नः । जयेयुः । यान् । एव । हत्वा । न । जिजीविषामः । ते । अवस्थिताः । प्रमुखे । धार्त्तराष्ट्राः ॥

पदा०—(नच, एतत्, विद्मः) हम यह भी नहीं जानते (कतरत्) कौनसी बात (नः) हमारे लिये (गरीयः)श्रेष्ठ है (नः)हम (जयेम) जीतेंगे (यदिवा) अथवा वह (जयेयुः) जीतेंगे (यान्, एव) जिनको (हत्वा) मारकर (जिजीविषामः) हम जीने की इच्छा (न) नहीं करते (ते) वह (धार्त्तराष्ट्राः) धृतराष्ट्र के पुत्र (प्रमुखे) सन्मुख (अवस्थिताः) स्थित हैं ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ॥
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।७।

पद०—कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः । पृच्छामि । त्वां । धर्मसंमूढचेताः । यत् । श्रेयः । स्यात् । निश्चितं । ब्रूहि । तत् । मे । शिष्यः । ते । अहं । शाधि । मां । त्वां । प्रपन्नं ॥

पदा०—(कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः) कृपणतारूप जो दोष उससे अपहत= तिरस्कृत हुआ है स्वभाव जिसका, ऐसा मैं (त्वां) तुमको (पृच्छामि) पूछता हूं (धर्मसंमूढचेताः) धर्म विषय में मोह को प्राप्त है चित्त जिसका उसके लिये (निश्चितं) निश्चयकरके (यत्) जो (श्रेयः) कल्याण (स्यात्) हो (तत्)वह (मे) मेरे लिये (ब्रूहि) कहो (अहं) मैं (ते) तुम्हारा (शिष्यः) शिष्य हूं (त्वां) तुमको (प्रपन्नं) प्राप्त हुए (मां) मुझको (शाधि) शिक्षा दो ॥

नहि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ॥
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

पद०—नहि । प्रपश्यामि । मम । अपनुद्यात् । शोकं । उच्छोषणं । इन्द्रियाणां । अवाप्य । भूमौ । असपत्नम् । ऋद्धं । राज्यं । सुराणां । अपि । च । आधिपत्यं ॥

पदा०-(नहि, प्रपश्यामि) मैं ऐसी कोई वस्तु नहीं देखता (यत्) जो (मम, शोकं) मेरे शोक को (अपनुद्यात्) दूर करे, वह शोक कैसा है जो (उच्छोषणं, इन्द्रियाणां) मेरी इन्द्रियों को सुका रहा है (असपत्नमृद्धं, राज्यं) जिसके सदृश कोई अन्य न हो ऐसे राज्य को (भूमौ) पृथिवी में (अवाप्य) प्राप्त होकर (सुराणां, च, आधिपत्यं) फिर वह राज्य कैसा हो जिसमें देवताओं का भी आधिपत्य हो अर्थात् देवताओं का का स्वामी वन जाना जिस राज्य में हो ऐसे राज्य को प्राप्त होकर भी मैं शोक की निवृत्ति किसी प्रकार नहीं देखता ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ।
नयोत्स्य इति गोविंदमुक्त्वा तूष्णीं वभूव ह ॥९॥

पद०-एवं । उक्त्वा । हृषीकेशं । गुडाकेशः । परंतपः । न । योत्स्य । इति । गोविन्दं । उक्त्वा । तूष्णीं । वभूव । ह ॥

पदा०-संजय बोला कि हे (परतंप) शत्रुओं को तपाने वाले राजन् ! (ह) प्रसिद्ध है कि (हृषीकेशं) वशीभूत इन्द्रियों वाले (गोविंदं) * कृष्ण को (गुडाकेशः) वशीभूत निद्रा वाला अर्जुन (एवं, उक्त्वा) इस प्रकार कहकर कि (न, योत्स्य) मैं युद्ध नहीं करुंगा (तूष्णीं) चुप (वभूव) होगया ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ॥ १० ॥

पद०-तं । उवाच । हृषीकेशः । प्रहसन् । इव । भारत । सेनयोः । उभयोः । मध्ये । विषीदन्तं । इदं । वचः ॥

पदा०-(भारत) हे धृतराष्ट्र ! (हृषीकेशः) कृष्ण (सेनयोः, उभयोः) दोनों सेनाओं के (मध्य) बीच में (तं) उस अर्जुन को (विषीदन्तं) जो विषाद को प्राप्त होरहा था (प्रहसन्, इव) हंसते हुए के समान (इदं, वचः) यह वक्ष्यमाण वचन (उवाच) बोला ॥

---

* गो=वेदवाणी के लाभ करने वाले को "गोविन्द" कहते हैं ॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्चभाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

पद०-अशोच्यान् । अन्वशोचः । त्वं । प्रज्ञावादान् । च । भाषसे । गतासून् । अगतासून् । च । न । अनुशोचन्ति । पण्डिताः ।

पदा०-(अशोच्यान्) जो शोक करने योग्य नहीं उनका तुम (अन्वशोचः) शोक करते हो कि भीष्मद्रोणादि मर जायंगे और उनके मरने पर फिर मैं इस राज्य को क्या करूंगा (च) और (प्रज्ञावादान्) जो बुद्धिमानों के विचार हैं उनको (भाषसे) कथन करते हो, " प्रज्ञा वाद " यह हैं कि " कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये " = भीष्म और द्रोणाचार्य्य जो पूजा योग्य हैं उनको मैं कैसे मारूं (गतासून्) गत प्राणों वाले अर्थात् जो मर गये और (अगतासून्) जो नहीं मरे उनको (पण्डिताः) पण्डित लोग (न, अनुशोचन्ति) नहीं सोचते ॥

भाष्य-इस श्लोक में कृष्णजी ने आत्मा की नित्यता सिद्ध करने के लिये उससे भिन्न सब देहादि जड़ जगत् को अनित्य माना है, इसी अभिप्राय से कहा है कि अनित्य शरीर के नाश का पण्डित लोग शोक नहीं करते ॥

स्वामी शं० चा० इस श्लोक का तात्पर्य्य यह निकालते हैं कि इस मिथ्याभूत संसार का बीज शोक मोह है उनकी निवृत्ति के लिये यह श्लोक उपक्रमभूत है यथाः—

तथा च सर्वप्राणिनां शोकमोहादिदोषाविष्टचेतसां स्वभवत एव स्वधर्मपरित्यागः वा प्रतिषिद्धसेवा च स्यात्, स्वधर्मे प्रवृत्तानामपितेषां वाङ्मनः कायादीनांप्रवृत्तिः फलाभिसंधिपूर्विकैवसाहंकारा चा भवति । तत्रैवं सति धर्माधर्मोपचयादिष्टानिष्टजन्मसुखदुःखसंप्राप्ति लक्षणः संसारोऽनुपरतोभवतीत्यतः संसारबीजभूतौ शोकमोहौ तयोश्चसर्वकर्मसंन्यासपूर्वकादात्मज्ञानान्नान्यतो निवृति-

रिति तदुपदिदिक्षुः सर्वलोकानुग्रहार्थमर्जुनं निमित्ती- कृत्याऽऽह भगवान् वासुदेवः—अशोच्यानीत्यादि—

अर्थ--शोक मोहादि दोषविशिष्टचित्त वाले प्राणियों का यह स्वभाव ही है कि वह स्वधर्म का परित्याग कर धर्मविरुद्ध तथा शास्त्र से निषिद्ध को ग्रहण करलेते हैं और यदि वह स्वधर्म में प्रवृत्त भी हों तो भी उनकी प्रवृत्ति अहंकार वाली होती है, तात्पर्य्य यह है कि धर्माधर्म वाला तथा इष्टा- निष्ट जन्म और सुखदुःख वाला संसार मिट नहीं सकता, इसलिये संसार के बीजभूत जो शोक मोह हैं उनकी निवृत्ति सब कर्मों के त्यागरूप संन्यास के बिना नहीं होसक्ती, ऐसे संन्यास का उपदेश करने के अभिप्राय से अर्जुन को निमित्त करके उक्त श्लोक कहा है, स्वामी शंकराचार्य्य और उनके शिष्यों की मति में गीता इस मिथ्याभूत संसार की निवृत्ति और सर्व कर्म त्यागरूप संन्यास की प्राप्ति के लिये लिखी गई है, इस अभिप्राय को शङ्कर फिलासफी के परमभक्त मधुसूदन स्वामी यों वर्णन करते हैं किः—

"नहि रज्जुतत्वसाक्षात्कारेण सर्पभ्रमेऽपनीते तन्निमित्तभ- यकम्पादि सम्भवति न वा पित्तोपहतेन्द्रियस्य कदाचिद् गुडे तिक्तताप्रतिभासेऽपितिक्तार्थितया तत्र प्रवृत्तिः सम्भ- वति, मधुरत्वनिश्चयस्य बलवत्वात् एवमात्मस्वरूपाज्ञान- निबन्धनत्वाच्छोच्यभ्रमस्य तत्स्वरूपज्ञानेन तदज्ञानेऽपनीते तत्कार्य्यभूतः शोच्यभ्रमः कथमवतिष्ठेत इति भावः"

अर्थ—जब रज्जु के तत्व का साक्षात्कार होजाता है फिर उसमें भय कम्पादि नहीं होते और जिसको पित्त दोष से गुड़ कटु लगता है वह उस कड़वेपन के लिये कदापि प्रवृत्त नहीं होता, एवं आत्मा के ज्ञान होने से भ्रमरूप जो शोकादिक हैं वह नहीं रहते, इनके मत में शोकादिक मिथ्या हैं जो जीव ब्रह्म के एकत्वज्ञान से दूर होजाते हैं और वह एकत्वज्ञान संन्यास से होता है, इसलिये उस सर्व कर्म के त्यागरूप संन्यास का उपदेश करने के लिये " अशोच्यानन्वशोचस्त्वं " कहा है ॥

यह वह भाव है जिसको लेकर लोकप्रसिद्धि यह है कि "पढ़ी गीता

तो घर काहे को कीता" पर यह भाव गीता में कदापि नहीं, यदि संसार को मिथ्या मानकर संन्यासी बना देने का भाव गीता में होता तो निम्नलिखित श्लोक में यह न कहा जाता कि:—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥

गी० २ । ३१

अर्थ—स्वधर्म को देखकर भी तुम्हारा काम डरने का नहीं, क्योंकि युद्ध में मरना क्षत्रिय के लिये कल्याण का हेतु है, अन्य कोई मुख्य-कर्तव्य नहीं ॥

अधिक क्या जिस महाभारत का एक अंशमात्र गीता है वह क्षात्र-धर्मविषयक इस प्रकार बलपूर्वक उपदेश करता है कि:—

"यथा राजन् हस्तिपदे पदानि संलीयन्ते सर्व सत्वोद्भवानि ।
एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान् सर्वावस्थान् संप्रलीनान्निबोध ॥

जैसे हस्ति के पाद में सब जीवों के पाद आजाते हैं एवं सम्पूर्ण धर्म राजधर्म के अन्तर्गत हैं ॥

अल्पाश्रयानल्पफलान् वदन्ति धर्मानन्यान् धर्मविदो मनुष्याः ।
महाश्रयं बहुकल्याणरूपं क्षात्रंधर्मं नेतरं प्राहुरार्य्याः ॥

आर्य्य लोग और धर्मों को छोटे आश्रय और थोड़े फल वाले कहते हैं परन्तु महाकल्याणरूप केवल एकमात्र राजधर्म=क्षात्रधर्म ही है, ऐसे क्षात्रधर्म की दृढ़ता के लिये अर्जुन को दृढ़ करते हुए कृष्णजी मिथ्यात्व का उप-देश क्यों करते," और जो स्वामी शं० चा० ने यह लिखा है कि **तस्माद्गीतासु केवलादेव तत्वज्ञानान् मोक्षप्राप्तिर्न कर्मसमुच्चितादिति निश्चितोऽर्थः"** = गीता में केवल ज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति मानी है ज्ञान कर्म के समुच्चय से नहीं, यह भाव गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, यदि केवल ज्ञान से ही मुक्ति होती और सब कर्मों के त्यागरूप संन्यास के वर्णन में ही गीता का तात्पर्य्य होता तो:—

न हि देहभृताशक्यं त्यक्तुंकर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥
गी० १८ । ११

अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ॥
गी० ६ । १

अर्थ—देहधारी मनुष्य सब कर्मों का त्याग कदापि नहीं करसक्ते, जो कर्म करता हुआ कर्म के फल को त्यागता है वह त्यागी और वही संन्यासी कहा जाता है (२) कर्म के फल की इच्छा न करके जो कर्तव्यकर्मों को करता है वही संन्यासी और वही योगी है कोई निरग्नि वा निष्कर्मी संन्यासी नहीं कहला सक्ता, और "तमेतंवेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" बृहदा० ४ । ४ । २२ = उस परमात्मा को वैदिककर्मरूप वेदानुवचन से ब्राह्मण लोग जानने की इच्छा करते हैं, इत्यादि अनेक ज्ञानकर्म के समुच्चय बोधक वाक्यों से पाया जाता है कि गीता ज्ञानकर्म के समुच्चयवाद का ग्रन्थ है केवल ज्ञान से मुक्ति का विधान नहीं करता और ब्र० सू० ३ । ४ । २७ में स्वामी शं० चा० ने कर्मों को ज्ञान का सहकारी माना है अर्थात् कर्मज्ञान की उत्पत्ति में हेतु और ज्ञान मुक्ति का साक्षात् साधन है, यह भी एक प्रकार का ज्ञान कर्म का समुच्चयवाद ही है पर इसको भी यहां गीताभाष्य में उड़ाकर केवल ज्ञान से ही मुक्ति मानी है ॥

ननु—वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेवविदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
यजु० ३१ । १८

इस वेद मन्त्र में केवल ज्ञान को ही मुक्ति का साधन माना है, फिर तुम ज्ञान कर्म का समुच्चय कैसे कहते हो ? इसका उत्तर यह है कि इस मन्त्र में ब्रह्म का जानना जो विदि क्रिया से विधान किया गया है वह मानसकर्म है उसमें जो ब्रह्म वस्तु का रूप निश्चायक अंश है वह केवल ज्ञानांश है, एवं ज्ञान कर्म का समुच्चय ही मुक्ति का साक्षात्

साधन हुआ न कि केवल ज्ञान, और "विद्यांचाविद्यांच यस्तद्वेदोभयं सह" यजु० ४० । १४ इत्यादि मन्त्रों में ज्ञानकर्म के समुच्चय का सम्यक् रीति से वर्णन किया है और जो "एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु । बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि" गी०।२।३९

इस श्लोक का ताप्तन शङ्करभाष्य में इस प्रकार किया है कि ज्ञान और कर्म का फल भिन्न २ न होता तो उक्त दोनों बुद्धियों का भिन्न २ वर्णन न किया जाता ? इसका उत्तर यह है कि उक्त श्लोक में ज्ञानकर्म के समुच्चय का भेद नहीं किन्तु ज्ञान के अनन्तर अनुष्ठानरूप कर्म का विधान है, जैसाकि:—

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्तेचास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ मुण्ड० २ । २

इस श्लोक में दर्शनरूप ज्ञान के अनुष्ठानरूप कर्म से हृदयग्रंथि का भेदन वर्णन किया है, इसी प्रकार कर्मयोग और ज्ञानयोग में अनुष्ठान का ही भेद है, इसी अभिप्राय से कृष्णजी ने कहा है कि:—

"एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पण्डितः" गी० ५ । ५

सांख्य योग को बालक पृथक् समझते हैं पण्डित नहीं, इससे स्पष्ट सिद्ध करदिया कि ज्ञान कर्म का समुच्चय है, क्योंकि यह बात सर्वसम्मत है कि गीता में सांख्य नाम ज्ञान का है, एवं केवल ज्ञानवादी के मत का खण्डन गीता में स्पष्ट है ॥

यदि "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं" इस श्लोक में सर्वकर्मत्यागरूप संन्यास के विधान का प्रयोजन होता और सर्व संसार को मिथ्या सिद्ध करने के अभिप्राय से यह श्लोक होता तो " देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा" गी० २ । १३ इस श्लोक में यौवनादि अवस्थाओं को अनित्य प्रतिपादन करके आत्मा का नित्यत्व सिद्ध न किया जाता, इससे आशय यह निकलता है कि गीता संसार को अनित्य सिद्ध करती है अर्थात् यह समग्र संसार प्रलयकालीनध्वंस का प्रतियोगी है, इस समग्र संसार का प्रलयकाल में नाश होजाता है, यायों कहो कि अपने प्रकृतिरूप कारण के साथ कार्य्य जगत् कारणावस्था को प्राप्त होता है ॥

भाष्यकार स्वामी शं० चा० और उनके शिष्य मधुसूदन स्वामी ने जो इस श्लोक के भाष्य में यह सिद्ध किया है कि अर्जुन को इन मिथ्या देहों में सत्यभ्रान्ति होरही थी उसकी निवृत्ति के लिये यह श्लोक है, यह इसलिये ठीक नहीं कि मिथ्या का अर्थ मायावादियों के मत में यह है कि जो वस्तु जिस देशकाल में प्रतीत होती हो उसी देश काल में उसका नाश होना मिथ्या है, जैसाकि रज्जु के सर्प और शुक्ति के रजत का उसी देश काल में बाध पाया जाता है ॥

"कौमारंयौवनंजरा" इस कथन से कृष्णजी ने यह सिद्ध कर दिया कि जैसे कौमारादि अवस्थायें अपने देश काल में होती हैं एवं यह शरीर भी अपने देश काल में होने से अनित्य है, वैदिक फ़िलासफ़ी में यह सब कार्य्यजगत् अनित्य है, मायावादी इसको मिथ्या इस अभिप्राय से बनाते हैं कि इसके मिथ्या होने से जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध होजाय, जब एकमात्र आत्मा से भिन्न सब वस्तु मिथ्या हैं तो भेद कहां रहा पर इस भेद का मिटाना अत्यन्त दुष्कर है, देखो इस वक्ष्यमाण श्लोक में जीवात्माओं का परस्पर भेद कथन किया है और आगे सातवें अध्याय में प्रकृति और परमात्मा के भेद का वर्णन स्पष्ट है, जैसाकि " ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति " गी० १८ । ६१ इत्यादि श्लोकों में जीव जगत् तथा जीव ईश्वर और जीवों का परस्पर भेद जिनका आधुनिक वेदान्ति खण्डन करते हैं उनका स्पष्ट रीति से गीता में वर्णन पाया जाता है, जैसाकिः—

नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

पद०—न । तु । एव । अहं । जातु । न । आसं । न । त्वं । न । इमे । जनाधिपाः । न । च । एव । न । भविष्यामः । सर्वे । वयं । अतः । परं ॥

पदा०—(अहं) मैं (जातु) कदाचित् (न, आसं) नहीं था यह (न, तु, एव) ठीक नहीं (इमे, जनाधिपाः) यह राजा लोग कभी न थे यह भी ठीक नहीं (सर्वे, वयं) हम सब लोग (अतः, परं) इसके अनन्तर (न, भविष्यामः) न होंगे (न, च, एव) यह भी ठीक नहीं ॥

भाष्य–इस श्लोक में कृष्णजी ने जीवात्माओं का नित्यत्व सिद्ध करते हुए यह स्पष्ट सिद्ध करदिया कि जीवात्मा परस्पर भिन्न हैं, इस श्लोक के भाष्य में स्वामी शं० चा० यह लिखते हैं कि यहां जीवात्माओं में जो बहुत्व वर्णन किया गया है वह देहों के भेद के अभिप्राय से वर्णन किया है आत्मा के भेद के अभिप्राय से नहीं ॥

ज्ञात होता है कि यहां यह लेख अद्वैतवाद को लेशमात्र भी न देखकर लिखा गया है, इस लेख से अद्वैतवादी स्वामी के मत में अभ्युपगम विरोध भी आता है वह इस प्रकार कि वेदान्त के अंशाधिकरण में स्वामी ने जीवात्माओं को नाना माना है और प्रयोजनवत्वाधिकरण में भी इसी प्रकार जीवात्माओं का भेद माना है, क्योंकि इससे विना उक्त अधिकरणों में पुण्य पाप की व्यवस्था नहीं बनसक्ती थी और यहां उससे विरुद्ध जीवात्माओं को एक मान लिया है, एवं पूर्वोत्तर विरोध और अभ्युपगमविरोध है ॥

ननु-अविद्या उपाधि से जीवात्माओं में नानात्व है और वास्तव में एकत्व है, फिर इसमें क्या दोष? उत्तर–प्रथम तो उक्त श्लोकों में अविद्यारूप उपाधि का वर्णन ही नहीं और दूसरी बात यह है कि "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं" इस तत्वोपदेश के प्रकरण में इस मिथ्योपदेश का क्या प्रकरण था, यहां आत्मा का नित्यत्व अभिप्रेत था न कि मिथ्यात्व, और युक्ति यह है कि यदि मिथ्यात्व ही अभिप्रेत होता तो आत्मा के नित्यत्व को मिथ्या क्यों न माना जाता, क्योंकि उसका भी इस श्लोक में उपदेश है, इत्यादि तर्कों से स्पष्ट है कि इस श्लोक में कृष्णजी ने परमार्थभूत जीवों के भेद का उपदेश किया है मिथ्याभूत भेद का नहीं, यह भेद औपनिषद है जिसको गीता में ग्रन्थन किया गया है, जैसा कि "नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेकोबहूनां यो विदधाति कामान्" श्वे० ५ । १३=जो नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन और एक ही बहुतों की कामनाओं को सिद्ध करता है, स्वामी रामानुज इस श्लोक पर यह लिखते हैं कि:–

"अज्ञानकृतभेददृष्टिवादे तु परमपुरुषस्यपरमार्थदृष्टेर्निर्विशेषकू-

टस्थनित्यचैतन्यात्मयाथात्म्यसाक्षात्कारान्निवृत्ताज्ञानतत्कार्यतया अज्ञानकृतभेददर्शनंतन्मूलोपदेशादि व्यवहाराश्चनसंगच्छन्ते"

यदि इस श्लोक में अज्ञानकृत भेद इष्ट होता तो कूटस्थ नित्य आत्मा के बोधन करने के लिये यह उपदेश न किया जाता, अधिक क्या "नह्यनुन्मत्तः कोऽपिमणिकृपाणदर्पणादिषुप्रतीयमानेषुस्वात्म प्रतिबिम्बेषुतेषांस्वात्मनोऽन्यत्वंजानन्तेभ्य कर्मण्यर्थमुपदिशति"

अर्थ—अनुन्मत्त=उन्मत्त से विना कोई भी ऐसा नहीं कहसक्ता कि जो मणि कृपणादिकों में प्रतिविम्बित पुरुष है उसको उपदेश करना प्रारम्भ करदे, एवं कृष्णजी ने उक्त श्लोक में कल्पित अर्जुनादिकों को उपदेश नहीं किया किन्तु तात्विक अर्जुनादिकों को तात्विक उपदेश किया है, इससे मायावादियों का मत स्पष्टतया खण्डन होजाता है॥

सं०—ननु, यदि आत्मा नित्य है तो उसमें जन्म मरणादि व्यवहार क्यों होते हैं ? उत्तरः—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

पद०—देहिनः । अस्मिन् । यथा । देहे । कौमारं । यौवनं । जरा । तथा । देहान्तरप्राप्तिः । धीरः । तत्र । न । मुह्यति ॥

पदा०—(देहिनः) देहवाला जो जीवात्मा उसको (देहान्तरप्राप्तिः) देहान्तरों की प्राप्ति (यथा) इस प्रकार होती है (तथा) जिस प्रकार (अस्मिन्, देहे) इस शरीर में (कौमारं) बाल्यावस्था (यौवनं) युवावस्था (जरा) वृद्धावस्था होती हैं (धीरः) धीर पुरुष (तत्र) वहां (न, मुह्यति) मोह को प्राप्त नहीं होता ॥

भाष्य—तात्पर्य्य यह है कि जैसे कोई पुरुष युवा होने पर रोने नहीं बैठ जाता कि मेरा कुमारपन चलागया इसलिये मैं नष्ट होगया किन्तु वह यह समझता है कि यह स्थूल शरीर अनित्य है और एक देह में अनेक अवस्थायें होती हैं, एवं जीवात्मा के अनित्य शरीर अनेकधा उत्पन्न होते और अनेकधा नष्ट होते हैं, धीरपुरुष इनमें मोह नहीं करते, इस

श्लोक से चार्वाक के मत का भी खण्डन स्पष्ट रीति से होता है ॥

सं०-ननु, जब यह जन्ममरणादि भाव अनित्य हैं तो जीव को इनके ग्रहण तथा त्यागादिकों में दुःख क्यों होता है ? उत्तरः-

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

पद०-मात्रास्पर्शाः । तु । कौन्तेय । शीतोष्णसुखदुखदाः । आगमापायिनः । अनित्याः । तान् । तितिक्षस्व । भारत ॥

पदा०-हे कौन्तेय (मात्रास्पर्शाः) इन्द्रियों के सम्बन्ध (शीतोष्णसुखदुःखदाः) शीत, उष्ण तथा सुख दुःख के देने वाले और (आगमापायिनः) आने जाने वाले हैं इसलिये (अनित्याः) अनित्य हैं (तान्) उनको हे भारत ! (तितिक्षस्व) तितिक्षा से सहन कर ॥

भाष्य-"मीयन्ते आभिर्विषया इति मात्रा इन्द्रियाणि"=जिनसे विषयों का ज्ञान होता है उन इन्द्रियों का नाम "मात्रा" है, इस श्लोक में "अनित्य" शब्द आया है जिसके अर्थ सदा एकरस रहने वाली वस्तु के नहीं किन्तु नियत समय तक रहने वाली वस्तु के हैं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि गीता मिथ्यार्थ को प्रतिपादन नहीं करती किन्तु शरीरादि मोहरूप पदार्थों को अनित्य सिद्ध करती है, जब विद्वान् की इन पदार्थों में अनित्य बुद्धि होजाती है तो वह शीतोष्णादि सहारने में कष्ट नहीं मानता, इसी भाव को इस अग्रिम श्लोक में वर्णन किया है कि:—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

पद०-यं । हि । न । व्यथयन्ति । एते । पुरुषं । पुरुषर्षभ । समदुःखसुखं । धीरं । सः । अमृतत्वाय । कल्पते ॥

पदा०-(यं, पुरुषं) जिस पुरुष को (एते) यह विषय (न, व्यथयन्ति) कष्ट उत्पन्न नहीं करते (तथा समदुःखसुखं) जिसको सुख दुख समान हैं, हे पुरुषर्षभ! ऐसा धीर पुरुष (अमृतत्वाय) मुक्ति के (कल्पते) योग्य होता है ॥

भाष्य-"अमृत" शब्द यहां इस अभिप्राय से आया है कि सुख दुःख की तितिक्षा करने वाला पुरुष मरण से भय नहीं करता सर्वथा निर्भय रहता है. इस श्लोक से यह स्पष्ट होगया कि सुखदुःखादि पदार्थों में जिसकी अनित्य बुद्धि है वह कदापि दुःखी नहीं होता, और युद्ध से उपराम होने का प्रसङ्ग भी यही था. संसार को मिथ्या सिद्ध करने का यहां कोई प्रसङ्ग नहीं, यदि अर्जुन को संसार का मिथ्यात्व ही बोधन करना इष्ट होता तो "स्वधर्ममपिचावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि" इत्यादि कथन न किया जाता, क्योंकि मिथ्यावादियों के मत में स्वधर्म भी मिथ्या ही है फिर उसमें क्या विशेषता ॥

सं०-ननु, जब देहादि पदार्थ अनित्य हैं तो इनकी अनित्यता सबको प्रतीत क्यों नहीं होती जिससे सब निर्भय होकर युद्धादि उत्तम कार्मो से न डरें ? उत्तरः—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपिदृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

पदा०-न । असतः । विद्यते । भावः । न । अभावः । विद्यते । सतः । उभयोः । अपि । दृष्टः । अन्तः । तु । अनयोः । तत्त्वदर्शिभिः ॥

पदा०-(न, असतः) जो देहादि असत्=अनित्य हैं उनकी (भावः) नित्यता नहीं होसक्ती और (सतः) नित्य पदार्थों की कभी (अभावः) अनित्या नहीं होसक्ती, असत् वह जो सत् न हो अर्थात् अनित्य हो (उभयोः) इन दोनों का (अन्तः) तत्व (तत्वदर्शिभिः) तत्वदर्शी लोगों ने जाना है साधारण प्राकृत पुरुष इस तत्त्व को नहीं जानसक्ते, इसलिये उन्हें अभिनिवेश=मरण से भय बना रहता है ॥

भाष्य-स्वामी शं० चा० जी ने इसके यह अर्थ किये हैं कि "तदिति सर्वनाम सर्वञ्च ब्रह्म तस्य नाम तदिति तद्भावस्तत्त्वं ब्रह्मणो याथात्म्यं द्रष्टुँशीलं येषां ते तत्त्वदर्शिनः" "तत्" यह सर्वनाम संज्ञक शब्द है, और यह सब ब्रह्म है इसलिये ब्रह्म का नाम तत् है "तत् भावस्तत्वं"=ब्रह्म के भाव का नाम तत्त्व है अर्थात् जिन लोगों ने जीव को ब्रह्म मानलिया है वही शङ्करमत में तत्त्वदर्शी कहलाते हैं,

पर "तत्त्व" शब्द के अर्थ यहां शङ्करमत में कदापि नहीं घटते, क्योंकि इसके अर्थ "तत्त्ववित्तुमहाबाहोगुणकर्मविभागयोः" गी० ३। २८ "तत्त्वदर्शिनः" गी० ३।३४ "संन्यासस्यमहाबाहो तत्त्वमिच्छामिवेदितुं" गी० १८।१ इत्यादि अनेक स्थलों में स्वामी शङ्कराचार्य्य स्वयं तत्त्व के अर्थ यथार्थपन के करते हैं फिर यहां इसके अर्थ ब्रह्म बनने के कैसे होसक्ते हैं ? वस्तुतः बात यह है कि मयावादियों को कहीं नाममात्र का सहारा मिलना चाहिये फिर यह अपनी अघटनघटनापटीयसी माया का ऐसा जाल फैलाते हैं कि जिससे निकलना दुर्घट होजाता है, अतएव सब मायामोह जाल में फसकर शास्त्र के तत्व से वञ्चित रहजाते हैं अन्यथा क्या कारण है कि ऐसे स्पष्ट अर्थाभासों को पढ़ सुनकर भी लोग शङ्करमत के माया जाल को मोह जाल नहीं कहते, इस श्लोक में प्रकृत भी यही था कि भाव और अभाव के यथार्थपन को जानने वाले तत्त्वदर्शी देहों में ममत्व नहीं करते और यही अर्जुन को बोध कराना था, इसमें जीव ब्रह्म की एकता का क्या प्रकरण, और इससे अग्रिम श्लोक में यह कथन किया है कि "अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्" इसमें भी नित्यानित्य का विचार है और आगे "अन्तवन्त इमे देहा" गी० २ । १८ इत्यादि श्लोकों में देहादिकों की अनित्यता और आत्मा की नित्यता स्पष्ट वर्णन की है फिर जीव ब्रह्म की एकता की क्या कथा ॥

और जो स्वामी शं० चा० जी ने इस श्लोक का यह अर्थ किया है कि "शीतोष्णादीनि नियतानित्यरूपाणि द्वंद्वानि विकारोऽयमसन्नेव मरीचि जलवन्मिथ्याऽवभासत इति मनसि निश्चित्यतितिक्षस्वेत्यभिप्रायः"=शीत और ऊष्णादि पदार्थ मृगतृष्णा के जलसमान मिथ्या प्रतीत होते हैं, तू निश्चयकरके तितिक्षा कर, यह गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, गीता में किसी स्थान में भी मिथ्या शब्द का प्रयोग इनके मिथ्यावाद के अभिप्राय से नहीं आया और न किसी श्लोक में यह तात्पर्य्य है कि ब्रह्म से भिन्न सब वेद, शास्त्र, गुरु आदि मिथ्या हैं प्रत्युत जीव, ईश्वर, प्रकृति इन तीन पदार्थों को गीता के अनेक स्थलों में अनादि अनन्त सिद्ध किया गया है ॥

स्वामी रामानुज इस श्लोक पर यह लिखते हैं कि "अन्तवन्तइमे देहा इत्यन्तादुपपद्यते, अतो यथोक्त एवार्थः"="अन्तवन्तइमेदेहा" इस कथन से इस श्लोक में शरीरों को अनित्य सिद्ध किया है, संसार को मिथ्या बना देने का उक्त श्लोक का आशय नहीं, स्वामी शं० चा० के शिष्य मधुसूदन स्वामी ने तो इस श्लोक से आधुनिक वेदान्त की सम्पूर्ण फिलासफी निकाली है अर्थात् "तत्त्वमसि" की समग्र कथा इसी में भरदी है, जीव को ब्रह्म बनाने का कोई उपाय इसके टीकाकार ने उठा नहीं रखा, वाचारम्भण न्याय भी उक्त स्वामी ने इसमें विस्तारपूर्वक लिखा है, वाचारम्भण न्याय का उत्तर जो जिज्ञासु देखना चाहें वह "वेदान्तार्य्यभाष्य" ब्र० सू० २।१।१४ आरम्भणाधिकरण में देखलें, यहां हम विस्तार के भय से नहीं लिखते ॥

इस लेख से गीता का सत्यार्थ जिज्ञासुओं को यह ज्ञात होगा कि इस प्रकार गीता के अर्थ भी मायावादी अपनी ओर खींचते हैं, यही कारण है कि जिससे लोग गीता के अनन्त अर्थ कर लेते हैं, हमारे विचार में यह उनकी बुद्धि का दोष है गीता के अक्षरों का अंशमात्र भी दोष नहीं, और आगे के श्लोक में आत्मा का अविनाशित्व स्पष्ट है:—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति ॥ १७ ॥

पद०—अविनाशि । तु । तत् । विद्धि । येन । सर्वं । इदं । ततं । विनाशं । अव्ययस्य । अस्य । न । कश्चित् । कर्त्तुं । अर्हति ।

पदा०—(तु) निश्चयकरके (अविनाशि) विनाशरहित (तत्) उसी को (विद्धि) जान (येन) जिसने (इदं. सर्वं) यह सब (ततं) विस्तार किया है (अस्य. अव्ययस्य) इस अव्यय का (विनाशं) विनाश (कश्चित्) कोई (कर्त्तुं) करने को (अर्हति) समर्थ (न) नहीं ॥

भाष्य—इस श्लोक ने स्पष्ट करदिया कि जिस आत्मा के ज्ञान से यह सब वस्तुजात प्रकाशित हैं अर्थात् जिससे यह सब जड़वर्ग जाना जाता है उसको तुम अविनाशी = विनाश रहित जानो, इस अव्यय=अविनाशी

का कोई विनाश नहीं करसक्ता, इससे इतर सम्पूर्ण कार्य्यजात जगत् विनाशी है ॥

ननु-"येन सर्वमिदं ततं" इस कथन से तो यह सिद्ध होगया कि जिस परमात्मा ने इस जगत् को बनाया है वही केवल अविनाशी है और सब विनाशी हैं फिर जीव भिन्न कहां रहा ? उत्तर—इसमें परमात्मा का वर्णन नहीं, क्योंकि प्रथम तो यहां परमात्मा का प्रकरण ही नहीं और गी० २। १८ में शरीर=जीवात्मा का नित्य कथन करके उसके देहों को अनित्य कथन किया है. इससे स्पष्ट है कि इस श्लोक में जीवात्मा का ही वर्णन है परमात्मा का नहीं, अब रही यह बात कि जीव के विषय में उक्त वाक्य क्यों कथन किया है ? इसका उत्तर यह है कि तनु-विस्तारे का "ततं" बना है जिसका यही अर्थ है कि जिस सूक्ष्मरूप चिच्छक्ति ने ज्ञान का विस्तार किया है वह ज्ञानी अविनाशी है, यद्यपि अविनाशी होने में परमात्मा भी आजाता है पर उसका यहां प्रकरण नहीं, यहां प्रकरण जीवात्मा की नित्यता बोधन करके अर्जुन को युद्ध से निर्भय करने का हैं, जैसाकि इस अग्रिम श्लोक में स्पष्ट है किः—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

पद०—अन्तवन्तः । इमे । देहाः । नित्यस्य । उक्ताः । शरीरिणः । अनाशिनः । अप्रमेयस्य । तस्मात् । युध्यस्व । भारत ॥

पदा०—(इमे, देहाः) यह देह (अन्तवन्तः) अन्तवाले=विनाशी और (नित्यस्य, शरीरिणः) जीवात्मा नित्य=अविनाशी है, वह अनाशी और अप्रमेय है अर्थात् रूपादि रहित होने से अप्रमेय=दुर्विज्ञेय कथन किया गया है, आत्मा को नित्य और देहों को अनित्य समझकर हे भारत ! तू (युध्यस्व) युद्ध कर, यह उपसंहार जीवात्मा की नित्यता का बोधन करता है ॥

सं०—ननु, जब शरीरी जीवात्मा मरता नहीं तो फिर उसके मारने में क्या दोष ? उत्तरः—

य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते ॥ १६ ॥

पद०—यः । एनं । वेत्ति । हन्तारं । यः । च । एनं । मन्यते । हतं । उभौ । तौ । न । विजानीतः । न अयं । हन्ति । न । हन्यते ॥

पदा०—(एनं) इसको (यः) जो (हन्तारं) हनन करने वाला मानता है और जो इसको (हतं) मरजाने वाला मानता है (उभौ, तौ, न, विजानीतः) वह दोनों नहीं जानते (न, अयं) न यह (हन्ति) हनन करता (न, हन्यते) न मारा जाता है किन्तु पूर्वप्रारब्ध कर्मों का फल भुगाता है ॥

भाष्य—शंकरभाष्य में इस श्लोक को जीव पक्ष में लगाया है, उक्त श्लोक कठ० २ । १९ से लिया गया है, वहां यह ईश्वर के प्रकरण में आया है, इसलिये इसमें जीव ब्रह्म की एकता नहीं होसक्ती, क्योंकि यहां जीव का प्रकरण नहीं, जैसाकिः—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ कठ० २ । १७

अर्थ—" ओ३म् " शब्द का अर्थ ब्रह्म जो पूर्व प्रतिपादन किया गया है वही आलम्बन=सहारा उपासक के लिये श्रेष्ठ है, वही सहारा परं=सबसे बड़ा है, इसी आलम्बन को जानकर ब्रह्मलोक में महीयते=पूजा जाता है अर्थात् ब्रह्मदर्शी लोगों में श्रेष्ठ समझा जाता है, इस प्रकरण के विषय वाक्यों से यह गीता के श्लोक लिये गये हैं, देखोः—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।२०।

पद०—न । जायते । म्रियते । वा । कदाचित् । न । अयं । भूत्वा । भविता । वा । न । भूयः । अजः । नित्यः । शाश्वतः । अयं । पुराणः । न । हन्यते । हन्यमाने । शरीरे ॥

पदा०—(न, जायते) वह परमात्मा कभी उत्पन्न नहीं होता (न, म्रियते) न मरता है (अयं, भूत्वा) यह होकर (भूयः) फिर कल्पान्तर में (भविता, न) न होगा यह नहीं किन्तु सदैव होगा, वह अज है, नित्य

है (शाश्वतः) निरन्तर (पुराणः) प्राचीन है (न, हन्यते, हन्यमाने, शरीरे) शरीर के नाश होने से वह नाश नहीं होता ॥

भाष्य–ननु, परमात्मा का तो तुम्हारे मत में शरीर ही नहीं फिर यह कैसे कहा कि "हन्यते हन्यमाने शरीरे" उत्तर— "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यामन्तरोऽयं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं" बृहदा० ३ । ७ । १ इत्यादि वाक्यों में प्रकृति को परमात्मा का शरीर माना है और उस प्रकृतिरूपी शरीर के नाश होने से वह नाश नहीं होता, क्योंकि वह कूटस्थनित्य है ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हंति कम् ॥ २१ ॥

पद०–वेद । अविनाशिनं । नित्यं । यः । एनं । अजं । अव्ययं । कथं । सः । पुरुषः । पार्थ । कं । घातयति । हन्ति । कम् ॥

पदा०–(पार्थ) हे अर्जुन ! (अविनाशिनं) जो इस नाशरहित (अव्ययं) विकार रहित को (वेद) जानता है (सः, पुरुषः) वह पुरुष (कथं) किस प्रकार से (कं, घातयति) किसके मारने का प्रयोजक बनता और (हन्ति, कं) किसको मारता है अर्थात् जो परमात्मा के कूटस्थ नित्य स्वरूप को जान लेता है वह इस बात को भी जान लेता है कि परमात्मा किसी को हनन नहीं करता स्वकर्मों से ही लोग जन्म मरण को प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य–ननु, जब यहां जीवात्मा की नित्यता का निरूपण पूर्व से चला आता है तो परमात्मा विषयक उक्त तीनों श्लोकों का क्या प्रकरण था ? उत्तर–जिस प्रकार जीवात्मा विषयक यह सन्देह था कि वह वास्तव में जन्म मरण में आता है या नहीं ? इसी प्रकार परमात्मा विषयक भी सन्देह था कि भारतादि महायुद्धों की हिंसा का परमात्मा प्रयोजक है वा नहीं ? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये परमात्माविषयक उक्त तीनों श्लोक यहां सङ्गत समझकर उद्धृत किये गये हैं, इसी अभिप्राय से "नादत्ते कस्यचित्पापं" इत्यादि श्लोकों में परमात्मा को पाप पुण्य का हेतु नहीं माना, शङ्करभाष्य में जो उक्त तीनों श्लोकों की व्याख्या जीव पक्ष

में की है वह उपनिषद् के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, यदि यह कहा जाय कि शङ्करमत में जीव ईश्वर दोनों एक हैं तो उत्तर यह है कि "प्रकरणाच्च" अ० सू० १ । २ । ५ इत्यादि सूत्रों में शङ्कराचार्य्यजी ने जीव ब्रह्म का भेद माना है, आत्मा का प्रकरण जीव ईश्वर उभय साधारण समझकर महाभारत में यह उपनिषद् उद्धृत किया गया, अब फिर पूर्व प्रकृत जीव के प्रकरण को सिंहावलोकन न्याय से ग्रन्थन करते हैं:-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।२२।

पद०-वासांसि । जीर्णानि । यथा । विहाय । नवानि । गृह्णाति । नरः । अपराणि । तथा । शरीराणि । विहाय । जीर्णानि । अन्यानि । संयाति । नवानि । देही ॥

पदा०-(यथा, नरः) जैसे पुरुष (वासांसि, जीर्णानि) पुराने वस्त्रों को (विहाय) छोड़कर (नवानि) नवीन वस्त्रों को (गृह्णाति) ग्रहण करता है (तथा) इसी प्रकार (देही) जीवात्मा (जीर्णानि, शरीराणि, विहाय) पुराने शरीरों को छोड़कर (अन्यानि, नवानि, शरीराणि) अन्य नये शरीरों को (संयाति) प्राप्त होता है ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

पद०-न । एनं । छिन्दन्ति । शस्त्राणि । न । एनं । दहति । पावकः । न । च । एनं । क्लेदयन्ति । आपः । न । शोषयति । मारुतः ॥

पदा०-(एनं) इस जीवात्मा को (शस्त्राणि) शस्त्र (न) नहीं (छिन्दन्ति) काटसक्ते, इसको (पावकः) अग्नि (न, दहति) जला नहीं सक्ती (आपः) पानी इसको (न, क्लेदयन्ति) गला नहीं सक्ते (च) और (मारुतः) वायु इसको (न, शोषयति) सुखा नहीं सक्ती ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

पद०-अच्छेद्यः । अयं । अदाह्यः । अयं । अक्लेद्यः । अशोष्यः । एव ।

च । नित्यः । सर्वगतः । स्थाणुः । अचलः । अयं । सनातनः ।

पदा०-(अयं) यह जीवात्मा (अच्छेद्यः) शस्त्रों से छेदन नहीं किया जासकता (अदाह्यः) अग्नि से दाह नहीं होता (अक्लेद्यः) जलों से गलाया नहीं जासक्ता (अशोष्यः) वायु से सुखाया नहीं जासक्ता (नित्य) नित्य है (सर्वगतः) सब पदार्थों में प्रवेश करसकता=अप्रतिहतगति है (स्थाणुः) कूटस्थ नित्य है इसीलिये अचल कहा गया है और (सनातनः) सनातन है, जैसाकि "द्वासुपर्णासयुजासखाया" इत्यादि मंत्रों में सनातन वर्णन किया गया है ।

शंकरभाष्य में "सर्वगत" के अर्थ सर्वव्यापक के किये हैं जो जीव विषयक असम्भव हैं, देखो-जैसे स्थाणु शब्द निश्चल को कहता और स्थाणु शब्द के मुख्य अर्थ गति के अभाव वाले पदार्थ के हैं, एवं "सर्वगत" शब्द के अर्थ यहां योग्यतावश सर्ववस्तु विषयक गतिशील के हैं सर्वव्यापक के नहीं यदि जीव सर्वव्यापक होता तो बन्धन में कदापि न आता ॥

अव्यक्तोऽयमचिंत्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

पद०-अव्यक्तः । अयं । अचिन्त्यः। अयं । अविकार्यः । अयं । उच्यते । तस्मात् । एवं । विदित्वा । एनं । न । अनुशोचितुं । अर्हसि ॥

पदा०-(अयं) यह जीवात्मा (अव्यक्तः) सूक्ष्म (अचिंत्यः) अचिन्त्य = इन्द्रियागोचर और (अयं) यह (अविकार्यः, उच्यते) अविकारी कहा गया है (तस्मात्) इसलिये (एवं) इस प्रकार (एनं) इसको (विदित्वा) जानकर (न, अनुशोचितुं, अर्हसि) तुमको शोक नहीं करना चाहिये ॥

सं०—अब आत्मा के अनित्य पक्ष में भी शोकाभाव कथन करते हैं:-

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

पद०-अथ । च । एनं । नित्यजातं । नित्यं । वा । मन्यसे । मृतं । तथापि । त्वं । महाबाहो । न । एवं । शोचितुं । अर्हसि ॥

पदा०-(च) और (अथ) यदि (एनं) इसको (नित्यजातं) नित्य उत्पन्न (वा) अथवा (मृतं, मन्यसे) नित्य मरता हुआ मानो (तथापि) तब भी (महाबाहो) हे बड़े बल वाले (त्वं. न, एवं, शोचितुं. अर्हसि) तुमको इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिये ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

पद०-जातस्य । हि । ध्रुवः । मृत्युः । ध्रुवं । जन्म । मृतस्य । च तस्मात् । अपरिहार्ये । अर्थे । न । त्वं शोचितुं । अर्हसि ॥

पदा०-(हि) निश्चयकरके (जातस्य) उत्पत्ति वाले पदार्थ का (ध्रुवः) अवश्य (मृत्युः) नाश (च) और (मृतस्य) नष्ट हुए पदार्थ का (ध्रुवं, जन्म) अवश्य जन्म होता है (तस्मात्) इसलिये (अपरिहार्ये) इस न मिटने वाले (अर्थे) अर्थ में (न, त्वं. शोचितुं, अर्हसि) तुमको शोक करना ठीक नहीं ॥

सं०-अब अन्य प्रकार से शोकाभाव कथन करते हैं:—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

पद०-अव्यक्तादीनि । भूतानि । व्यक्तमध्यानि । भारत । अव्यक्तनिधनानि । एव । तत्र । का । परिदेवना ॥

पदा०-(भारत) हे भारत ! (भूतानि) सब भूत (अव्यक्तादीनि) उत्पत्ति से पूर्व अव्यक्तरूप और (व्यक्तमध्यानि) मध्य में व्यक्त=इन्द्रियागोचर होकर (अव्यक्तनिधनानि) अंत में फिर अव्यक्तरूप होजाते हैं (तत्र) इस अवस्था में (का, परिदेवना) शोक करना वृथा है ॥

भाष्य-शङ्करभाष्य में इसके यह अर्थ किये गये हैं कि इस मिथ्या भ्रान्तिभूत विश्ववर्ग का क्या शोक करना है, और इसी अर्थ को मधुसूदन स्वामी ने अवलम्बन किया है, जैसाकि " तथाचाज्ञानकल्पितत्वेन तुच्छान्याकाशादि भूतन्युद्दिश्यशोकोनोचितः"=अज्ञान से कल्पना किये हुए जो यह सब आकाशादि भूत हैं इनका शोक उचित नहीं, इनके

मत में ब्रह्म के आश्रित जो अविद्या उससे यह सम्पूर्ण संसार उत्पन्न हुआ है इसलिये शोक नहीं करना चाहिये, हमारे विचार में तो सब शोकों का आकर इनका ब्रह्म ही बनगया जिसको आच्छादन करके अज्ञान ने यह नानाविध शोक मोहादि दुःखजात की राशि इस संसार को उत्पन्न कर दिया, जिनके मत में ब्रह्म में मोह होजाता है उनके मत में जीव को मोह होजाने की तो कथा ही क्या ॥

वस्तुतः यह श्लोक कार्य्य जो शरीरादिक हैं उनकी अनित्यता को प्रतिपादन करता है मायावादियों के मायाकृत मोह को नहीं, क्योंकि आगे के श्लोक में जीवात्मा की नित्यता और शरीर की अनित्यता कथन की है ॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।२९।

पद० आश्चर्यवत् । पश्यति । कश्चित् । एनं । आश्चर्यवत् । वदति । तथा । एव । च । अन्यः । आश्चर्यवत् । च । एनं । अन्यः । शृणोति । श्रुत्वा । अपि । एनं । वेद । न । च । एव । कश्चित् ॥

पदा०-(कश्चित्) कोई (एनं) इस आत्मा को (आश्चर्य्यवत्) अद्भुत के समान (पश्यति) देखता (च) और (अन्यः) कोई (आश्चर्य्यवत्) अद्भुत के समान (वदति) कथन करता (च) और (अन्यः) कोई (आश्चर्य्यवत्) आश्चर्य्य के समान (एनं) इसको (शृणोति) सुनता है (च) और (श्रुत्वा, अपि, एनं) सुनकर भी इसके तत्व को (नच, एव, कश्चित्, वेद) निश्चय करके कोई नहीं जानता ॥

भाष्य—यह श्लोक इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि अनेकधा सुनने पर भी केवल श्रवणमात्र से आत्मा का यथार्थ तत्व प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वह अति सूक्ष्म होने से दुर्गम है, अतएव कई एक लोग शरीर को, कोई इन्द्रियों को और कोई प्राणादिकों को ही आत्मा मान लेते हैं परन्तु जब तक उसका शरीरादिकों से भिन्न यथार्थ साक्षात्कार न हो तब तक मृत्यु का भय बना रहता है, जब पुरुष साधनसम्पन्न होकर शरीरादिकों को अनित्य और इस सत्चित्रूप अपने आपको साक्षात्कार कर लेता है फिर शरीर के नाश होने का भय नहीं रहता ॥

अद्वैतवादी इस श्लोक को इस प्रकार लगाते हैं कि " ब्रह्माऽभिन्न-

मपिमद्भिन्नमिव”=यह जाव ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी इसको भिन्न देखना आश्चर्य्य है अर्थात् इस श्लोक को भी जीव ब्रह्म की एकता में लगाते हैं, पर यह भाव इस श्लोक से कदापि नहीं निकलता, क्योंकि आगे का श्लोक इससे सर्वथा विरुद्ध है, और आधुनिक अद्वैतवादी टीकाकारों ने तो इस पर ऐसा रंग चढ़ाया है कि “यतो वाचो नि-वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह” इत्यादि सब उपनिषद्वाक्य जो परमात्मा प्रकरण के थे वह भी इसी में सङ्गत कर दिये हैं और अविद्या के वशीभूत होकर जो अपने आपको न जानना है इसी को आश्चर्य्य शब्द से कथन किया है, पर इनके यह अर्थ यहां गन्धमात्र भी नहीं निकलते, क्योंकि यहां आत्मा की नित्यता का प्रकरण है, जैसाकि इस अग्रिम श्लोक में वर्णन किया है कि:—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

पद०—देही । नित्यं । अवध्यः । अयं । देहे । सर्वस्य । भारत । तस्मात् । सर्वाणि । भूतानि । न । त्वं । शोचितुं । अर्हसि ॥

पदा०—हे भारत (सर्वस्य, देहे) सब प्राणीमात्र के देह में (अयं, देही) यह जीवात्मा (नित्यं अवध्यः) नाशरहित है (तस्मात्) इसलिये (सर्वाणि, भूतानि) सब प्राणियों का (त्वं) तू (शोचितुं) शोक करने योग्य (न, अर्हसि) नहीं अर्थात् जीवात्मा अविनाशी है मरता नहीं, इसलिये तुम जीवहत्या के भय से क्षात्रधर्म को छोड़कर भिक्षादि अनुचित वृत्तियों का आश्रयण न करो ॥

सं०—अब क्षत्रिय के लिये युद्ध को परमधर्म कथन करते हैं:—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

पद०—स्वधर्मं । अपि । च । अवेक्ष्य । न । विकम्पितुं । अर्हसि । धर्म्यात् । हि । युद्धात् । श्रेयः । अन्यत् । क्षत्रियस्य । न । विद्यते ॥

पदा०—(च) और (स्वधर्मं) अपने धर्म को (अवेक्ष्य) देखकर

(अपि) भी (न, विकम्पितुं, अर्हसि) तुमको युद्ध से हटना योग्य नहीं, क्योंकि (हि) निश्चकरके (धर्म्यात्, युद्धात्) धर्मयुद्ध से (अन्यत्) अन्य (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय के लिये (श्रेयः) कल्याण का मार्ग (न, विद्यते) कोई नहीं ॥

भाष्य—इस श्लोक से स्पष्ट होगया कि क्षात्रधर्म की दृढ़ता के लिये गीता का उपक्रम है, मायावादियों के मनोरथमात्र के अद्वैतवाद तथा मनोरथमात्र से सर्वत्यागरूप संन्यास के लिये नहीं ॥

जिस क्षात्रधर्म को स्वधर्म कहा है उसका वर्णन महाभारत में इस प्रकार है कि:—

(१) ब्राह्मणानां यथा धर्मो दानमध्ययनं तपः ।
क्षत्रियाणां तथा कृष्ण समरे देहपातनम् ॥
(२) यथा हि रश्मयोऽश्वस्य द्विरदस्यांकुशो यथा ।
नरेन्द्र धर्मो लोकस्य तथा प्रग्रहणं स्मृतम् ॥
(३) अधर्मः क्षत्रियस्यैषः यच्छय्यामरणं भवेत् ।
विसृजन् श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन् ॥
(४) अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति ।
क्षत्रिया नास्य,तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥
(५) न गृहे मरणं तात क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
शौण्डीर्याणामप्यशौण्डीर्य्यमधर्म्यं कृपणं च तत् ॥

महाभा० शा० ६ । २५

अर्थ—(१) जिसप्रकार ब्राह्मणों का धर्म यज्ञ, दान, तप करना है एवं क्षत्रियों का धर्मयुद्ध में देहत्याग है ॥

(२) जिसप्रकार गर्वित घोड़े को उसकी रासें स्थिर रखती हैं और जिसप्रकार मत्तहस्ति को अंकुश वश में रखता है इसी प्रकार क्षात्रधर्म लोकमर्य्यादा की स्थिरता का हेतु है ॥

(३) क्षत्रिय के लिये यह महा अधर्म है जो बीमार होकर खाट पर

पड़कर मरना है जिसमें श्लेष्म मलमूत्रादि त्याग द्वारा अति कृपणता से देह त्यागा जाता है ॥

(४) जो क्षत्रिय क्षत=घाव से रहित देह त्याग करता अर्थात् विना शस्त्र प्रहार के मरता है उसको प्राचीन क्षत्रिय लोग क्षत्रिय नहीं कहते थे ॥

(५) गृह में मरना क्षत्रियों का प्रशंसित नहीं गिना जाता किन्तु ऐसा मरना निन्दित से निन्दित अधर्म और अति कायरता का काम समझा जाता था ॥

यह " क्षात्रधर्म " है जिसको कृष्णजी ने कहा है कि " **स्वधर्म-मपिचावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि** "=तुम स्वधर्म को देखकर भी भीरू नहीं बन सक्ते, क्योंकि तुम्हारा स्वधर्म भी युद्ध में करने को कल्याण मानता है नकि भीख मांगने को, और यह युद्ध तुमको तुम्हारे पूर्व पुण्यों के प्रताप से उपस्थित हुआ है ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रिया पार्थ लभंते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

पद०—यदृच्छया । च । उपपन्नं । स्वर्गद्वारं । अपावृतं । सुखिनः । क्षत्रियाः । पार्थ । लभन्ते । युद्धं । ईदृशम् ॥

पदा०—(पार्थ) हे पार्थ ! यह युद्ध (यदृच्छया) अकस्मात् (उपपन्नं) प्राप्त हुआ है जो (स्वर्गद्वारं, अपावृतं) खुले हुए स्वर्ग का द्वार है (युद्धं, ईदृशं) ऐसे युद्ध को (सुखिनः, क्षत्रियाः) बड़े पुण्यात्मा क्षत्रिय सुख से (लभन्ते) लाभ करते हैं ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

पद०—अथ । चेत् । त्वं । इमं । धर्म्यं । संग्रामं । न । करिष्यसि । ततः । स्वधर्मं । कीर्तिं । च । हित्वा । पापं । अवाप्स्यसि ॥

पदा०-(अथ, चेत्) यदि तुम इस धर्मपूर्वक (संग्रामं) युद्ध को (न, करिष्यसि) न करोगे (ततः) तो (स्वधर्मं) अपने धर्म (च) और

(स्वकीर्तिं) अपनी कीर्ति को (हित्वा) नाश करके (पापं) पाप को (अवाप्स्यसि) प्राप्त होगे ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यंति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

पद०—अकीर्तिं । च । अपि । भूतानि । कथयिष्यन्ति । ते । अव्ययां । सम्भावितस्य । च । अकीर्तिः । मरणात् । अतिरिच्यते ॥

पदा०—(च) और (भूतानि) लोग (ते) तुम्हारे (अकीर्तिं) अपयश को (अव्ययां) सदा (कथयिष्यन्ति) कथन करेंगे (च) और (सम्भावितस्य) मानी पुरुष की अपकीर्ति (मरणात्, अतिरिच्यते) मरण से भी अधिक होती है ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

पद०—भयात् । रणात् । उपरतं । मंस्यन्ते । त्वां । महारथाः । येषां । च । त्वं । बहुमतः । भूत्वा । यास्यसि । लाघवम् ॥

पदा०—(महारथाः) योद्धा लोग (त्वां) तुमको (भयात्) भयभीत होकर (रणात्, उपरतं) रण से हटा हुआ (मंस्यन्ते) मानेंगे (च) और (येषां) जिनके मध्य में (त्वं) तुम (बहुमतः, भूत्वा) बड़े हो उनके मध्य (लाघवं) छोटेपन को (यास्यसि) प्राप्त होगे ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यंति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तवसामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

पद०—अवाच्यवादान् । च । बहून् । वदिष्यन्ति । तव । अहिताः । निन्दन्तः । तव । सामर्थ्यं । ततः । दुःखतरं । नु । किम् ॥

पदा०—(बहून्) बहुत (अवाच्यवादान्) कुवाच्य वादों को (तव) तेरे (अहिताः) शत्रु (वदिष्यन्ति) कथन करेंगे अर्थात् कोई कहेगा कि अर्जुन वास्तव क्षत्रिय नहीं, कोई कहेगा भीरू है, इत्यादि (तव) तेरे (सामर्थ्यं) सामर्थ्य की (निन्दन्तः) निन्दा भी करेंगे (ततः) इससे परे (दुःखतरं) अधिक दुःख क्या है ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

पद०—हतः । वा । प्राप्स्यसि । स्वर्गं । जित्वा । वा । भोक्ष्यसे । महीं । तस्मात् । उत्तिष्ठ । कौन्तेय । युद्धाय । कृतनिश्चयः ॥

पदा०—(हतः, वा) यदि तुम मारे गये तो (स्वर्गं) स्वर्ग को (प्राप्स्यसि) प्राप्त होगे (जित्वा, वा) यदि जीत गये तो (महीं) पृथिवी को (भोक्ष्यसे) भोगोगे (तस्मात्) इसलिये (कौन्तेय) हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! (कृतनिश्चयः) निश्चय वाला होकर (युद्धाय) युद्ध के लिये (उत्तिष्ठ) उठ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

पद०—सुखदुःखे । समे । कृत्वा । लाभालाभौ । जयाजयौ । ततः । युद्धाय । युज्यस्व । न । एवं । पापं । अवाप्स्यसि ॥

पदा०—(सुखदुःखे) सुख, दुःख (लाभालाभौ) लाभ हानि (जयाजयौ) जय पराजय (समे, कृत्वा) समान समझकर (युद्धाय) युद्ध के लिये (युज्यस्व) तैयार हो (एवं) इस प्रकार तू (पापं) हिंसारूप पाप को (न, अवाप्स्यसि) प्राप्त न होगा अर्थात् जब तुम क्षात्रधर्म की मर्यादा को पालन करोगे और दुर्योधन जैसे आततायी लोगों के वध करने के लिये उद्यत होगे तो तुमको पाप न लगेगा, क्योंकि आततायियों का वध करना वैदिक लोगों के लिये पाप नहीं ॥

भाष्य—गीता में यह स्वधर्म का उपदेश अर्जुन को तात्विक किया गया है मिथ्या नहीं, इस क्षात्रधर्म के भाव को कौन अन्यथा लापन करसक्ता और इस सचाई को कौन छिपा सकता है, यह वह स्थल है जहां मायावादियों की माया का मोहजाल मनोरथमात्र भी नहीं नहीं चलसक्ता और नाही अद्वैतवाद के अर्थों का गन्धमात्र भी उक्त श्लोकों में कोई लासक्ता है, सच है, सत्य को कौन छिपा सक्ता और मिथ्या को सत्य कौन बना सक्ता है, इसलिये उक्त श्लोकों का भाष्य मायावादियों ने भी बिना ननु नच किये क्षात्रधर्मपरक ही किया

है पर फिर भी इसमें इतना मायावाद का मोह डाल ही दिया कि "नैवं युद्धंकुर्वन् पापमवाप्स्यसि, इत्येष उपदेशः प्रासंगिकः" गी० २।१८ शं० भा०=उक्त क्षात्रधर्म को पूर्ण करता हुआ पाप को प्राप्त नहीं होता, यह बात प्रासङ्गिक है अर्थात् गीता में मुख्य प्रसङ्ग कर्मत्याग रूप संन्यासी बनाने वा सबको ब्रह्म बना देने का है और क्षात्रधर्म प्रसङ्ग सङ्गति से कथन किया गया है ॥

स्वामी शं० चा० जी का उक्त लेख गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि गीता में मुख्य प्रसङ्ग अर्जुन के गिरते हुए मन को उठाना अर्थात् बलवान् बनाना है और प्रसङ्गसङ्गति से वर्णचतुष्टय के धर्म भी इसमें सङ्गत हैं, इसी प्रसङ्गसङ्गति में शम दम प्रधान मुनियों का मोक्षधर्म भी निरूपण किया गया है पर मुख्य धर्म "स्वधर्ममपिचावेक्ष्य" इत्यादि श्लोकों से अर्जुन को स्वधर्म पर आरूढ़ करना है ॥

ननु–यदि इस ग्रन्थ में मुख्य क्षात्रधर्म ही है तो ज्ञानयोग तथा मोक्ष धर्म का अधिक उपदेश क्यों किया गया है ? इसका उत्तर यह है कि जिन लोगों ने महाभारत का पाठ किया है उनको ज्ञात होगा कि यह ग्रन्थ मुख्यतया क्षात्रधर्म को वर्णन करता है और प्रसंगसंगति से अन्य धर्म भी इसमें संगत हैं, क्योंकि गीता महाभारतरूप अम्बुधि का एक बिन्दुमात्र है, इसलिये इसमें वर्णन किये गये ज्ञानयोगादि धर्म मुख्य नहीं कहे जासकते ।

और जो स्वामी शं० चा० के मत में संसार से निवृत्ति के लिये गीता शास्त्र का उपक्रम है यह भी ठीक नहीं किन्तु अभ्युदय तथा निःश्रेयस इन दोनों के लिये गीताशास्त्र का उपदेश किया गया है, अभ्युदय=इस लोक का ऐश्वर्य्य जो क्षात्रधर्म के बिना सर्वथा असंभव है, इसलिये कृष्णजी ने लोकमर्यादा के एकमात्र मूल क्षात्रधर्म को प्रारम्भ में दृढ़ किया है, इसी की दृढ़ता के लिये "नैनं छिन्दन्तिशस्त्राणि" इत्यादि आत्मज्ञान का आदेश है और इसी की दृढ़ता के लिये भिक्षावृत्ति को तुच्छ बतलाकर "स्वधर्ममपिचावेक्ष्य" इत्यादि उपदेश किया है ।

अधिक क्या क्षात्रधर्म प्रमुख प्रारम्भ इस ग्रन्थ का भूषण है जिसको मिथ्या बनाकर मायावादियों ने नष्ट करदिया और अपनी माया के

मनोरथ में पड़कर भारत को मिथ्यार्थ भूमि बना दिया है, और क्षात्र धर्म के प्रकरण में जो " नैनंछिन्दन्तिशस्त्राणि " कथन किया है यह सांख्यमति है जिसको प्राप्त कर अर्जुन जंबुक से मृगेन्द्र बन गया और इसी को नित्यानित्य वस्तु का विवेक कहते हैं, जिस विवेक ने अर्जुन का क्षण भर में कलेवर बदल दिया ॥

सं०-अब इसके दृढ़ अनुष्ठान के लिये कर्मयोग का कथन करते हैं:-

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

पद०-एषा । ते । अभिहिता । सांख्ये । बुद्धिः । योगे । तु । इमां । शृणु । बुद्ध्या । युक्तः । यया । पार्थ । कर्मबन्धं । प्रहास्यसि ॥

पदा०-(पार्थ) हे पार्थ ! (ते) तेरे लिये (एषा) यह (सांख्ये) सांख्य = सदसद्विवेचन के विषय में (बुद्धिः) ज्ञानयोग का उपदेश किया और अब (योगे, तु, इमां, शृणु) कर्मयोग विषयक इस उपदेश को सुन (यया, बुद्ध्या) जिस बुद्धि से (युक्तः) युक्त होकर तू (कर्मबन्धं) कर्मबन्धन से (प्रहास्यसि) छूट जायगा ॥

भाष्य-यहां " कर्मबन्ध " पद से सकामकर्मों का बन्धन अभिप्रेत है कर्ममात्र का नहीं, क्योंकि शास्त्र में जिज्ञासु के लिये निष्कामकर्मों के अनुष्ठान का विधान किया गया है, जैसाकि गी० ३।८ में वर्णन किया है कि तुमको नित्यकर्मों का अवश्य ही अनुष्ठान कर्तव्य है, और इसी अभिप्राय से यजु० ४०।२ में विधान किया है कि मनुष्य को यावज्जीवन सन्ध्या, अग्निहोत्रादि नित्यकर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये ॥

शङ्करभाष्य में इसके यह अर्थ किये गये हैं कि "कर्मणैव धर्माऽधर्माख्यो बन्धः कर्मबंधः तं प्रहास्यसि ईश्वरप्रसादनिमित्तं ज्ञानं प्राप्तेरित्यभिप्रायः" = जो धर्म और अधर्मरूप कर्मों से बन्धन होता है उसका नाम " कर्मबन्ध " है, और वह ईश्वर की कृपा द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान से निवृत्त होजाता है ॥

"मधुसूदन स्वामी" इसके यह अर्थ करते हैं कि " अत्यन्तमलि-

नान्तःकरणत्वात् बहिरंगसाधनंकर्मैवत्वयाऽनुष्ठेयं नाधुनाश्रवणादियोग्यतापितवजाता"=हे अर्जुन ! तुमको अभी बहिरंग साधनरूप जो कर्म हैं उन्हीं का अधिकार है, क्योंकि तुम में अभी श्रवणादिकों की योग्यता नहीं, यदि यह मान भी लिया जाय कि अर्जुन को मलिन अन्तःकरण वाला होने से पहले कर्म का ही अधिकारी समझा गया तो फिर बुद्धयायुक्तोययापार्थकर्मबन्धं प्रहास्यसि " = इस बुद्धि से कर्मबंधन से छूट जायगा, इस प्रकार कर्मयोग को ज्ञानयोग से श्रेष्ठ क्यों कथन किया गया ? इसका उत्तर मायावादी यह देते हैं कि कर्म से ज्ञान का प्रतिबन्ध रूप पाप दूर किया जाता है इस अभिप्राय से कहा है कि इस कर्मयोग से कर्म के बन्धन को त्याग दोगे, इत्यादि मायावादियों की अनेक कल्पनायें यहां काम नहीं देसक्तीं, यहां तो महर्षिव्यास ने ज्ञान से कर्म को श्रेष्ठ सिद्ध करदिया जो पूर्व ज्ञानरूपी सांख्य बुद्धि को वर्णन करके फिर कर्म से बन्धन की निवृत्ति को कथन किया है, मायावादियों के मत में कर्म को प्रतिष्ठा ज्ञान से बहुत कम है यहां तक कि " कर्मचितोलोकः क्षीयते" इत्यादि वाक्यों पर यही बल दिया जाता है कि कर्म का फल अनित्य है. फिर यहां कर्म को बन्ध की निवृत्ति का मुख्य कारण कैसे मानागया, हमारे मत में तो ज्ञान कर्म का समुच्चय है जिसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि ज्ञान होने के अनन्तर अनुष्ठानरूप कर्म से बन्ध की निवृत्ति होती है ॥

नेहाभिक्रमनाशोस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

पद०—न । इह । अभिक्रमनाशः । अस्ति । प्रत्यवायः । न । विद्यते । स्वल्पं । अपि । अस्य । धर्मस्य । त्रायते । महतः । भयात् ।

पदा०-(इह) इस कर्मयोग में (अभिक्रमनाशः) जिस फल का कर्म से प्रारम्भ कियाजाय उसको "अभिक्रम" कहते हैं अर्थात् इस कर्मयोग का प्रारम्भ करके भी यदि छोड़ दियाजाय तो भी इसमें अन्य कार्य्यों के समान अधूरा रहने का दोष नहीं लगता (प्रत्यवायः) प्रत्यवाय उस पाप को कहते हैं जो सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्मों के न करने से

लगता है वह प्रत्यवाय इस कर्मयोग में नहीं लगता (स्वल्पं) थोड़ा (अपि) भी इस कर्मयोगरूप धर्म का अंश पालन किया जाय तो वह भी (महतः) बड़े (भयात्) भय से (त्रायते) रक्षा करता है ॥

सं०-ननु, तुम्हारे कर्मयोग के तो कई कर्म हैं, कोई साकार उपासना को कर्मयोग कहते हैं, कोई नानाविध कर्मकाण्डरूप पशुमेधादिकों को कर्मयोग कहते हैं, ऐसा अव्यवस्थित कर्मयोग बड़े से बड़े भय से कैसे रक्षा करसकता है ? उत्तरः—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन ।
बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

पद०-व्यवसायात्मिका । बुद्धिः । एका । इह । कुरुनन्दन । बहुशाखाः । हि । अनंताः । च । बुद्धयः । अव्यवसायिनाम् ॥

पदा०-(कुरुनन्दन) हे कुरुवंश को आनन्दित करने वाले अर्जुन ! (हि) निश्चयकरके (व्यवसायात्मिका) निश्चयात्मिक (बुद्धिः) बुद्धि (इह) इस संसार में (एका) एक है (च) और (अव्यवसायिनां) अनिश्चयात्मिक पुरुषों की (बहुशाखाः) बहुत शाखाओं वाली (बुद्धयः) बुद्धियें (अनन्ताः) नाना प्रकार की होती हैं ॥

भाष्य-इसी निश्चयात्मिक कर्मयोग को वेद इस प्रकार विधान करता है कि:—

वेदाहमेतंपुरुषंमहान्तमादित्यवर्णंतमसः परस्तात् ।
तमेवविदित्वातिमृत्युमेतिनान्यःपंथाविद्यतेऽयनाय ॥
यजु० ३१ । १८

अर्थ-उसी परमात्मा को जानकर पुरुष मोक्ष को प्राप्त होता है ज्ञान से भिन्न उसकी प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं " एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयंध्रुवंविजरः पराकाशादयमात्मामहान्ध्रुवः " वृहदा० ४।४।२० = एक ही प्रकार से वह परमात्मा द्रष्टव्य है जो ध्रुव = एकरस, विजर = विकार रहित है " मृत्योःसमृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति " कठ० ४ ११ "असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेतिवेदचेत्"

तैत्ति० ६ । १ इत्यादि अनेक वेदोपनिषदों के वाक्य इस कर्मयोग=ज्ञान के अनुष्ठानरूप मुक्ति के साधन को एक ही बतलाते हैं. इस परमात्मविषयक एकत्वनिष्ठभाव को छोड़कर शङ्करभाष्यादि भाष्यों में और ही अर्थ किये हैं जो इस प्रकरण से संगति नहीं रखते, हां इतने अंश में संगत हैं कि इन्होंने भी एक यथावस्थित बुद्धि मानकर काम्यकर्मों से स्वर्गादि फलों का खण्डन किया है अर्थात् क्रियाविशेषवाली तथा अध्यासमात्र से फल देने वाली नाना बुद्धियों का इन्होंने बलपूर्वक खण्डन किया है जो ठीक नहीं, जैसाकि इस अग्रिम श्लोक में स्पष्ट है:—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदंत्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

पद०—यां । इमां । पुष्पितां । वाचं । प्रवदन्ति । अविपश्चितः । वेदवादरताः । पार्थ । न । अन्यत् । अस्ति । इति । वादिनः ।

पदा०—(वेदवादरताः) वेदों के मर्म को न जानने वाले (अविपश्चितः) अविवेकी पुरुष (यां, इमां) इस (वाचं) वाणी को (पुष्पितां) अर्थवादरूप कथन करते हैं, हे अर्जुन ! वह लोग (न, अन्यत्, अस्ति) वेदों में अन्य किसी परमार्थ का उपदेश नहीं (इति, वादिनः) इस प्रकार मानते हैं अर्थात् वेदों के तत्व को न समझकर अज्ञानी पुरुष अनेक अर्थाभास करते हैं ॥

भाष्य—वेदों के अर्थाभास में रत लोगों का यह विचार है कि सब मनोरथ यज्ञादि काम्यकर्मों से ही सिद्ध होजाते हैं किसी अन्य पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं, जैसाकि किसी एक यज्ञ का फल पुत्र प्राप्ति माना जाता है और किसी का वृष्टि होना, जैसाकि सोमयज्ञ का फल ब्रह्महत्यादि पापों को दूर करने वाला माना जाता है, एवं कई एक अन्य भी वेद को न समझने वाले यज्ञों में पशुवध मानते हैं, इस प्रकार वेदवाद में फूलों के समान इस वाणी को पुष्पित बनाते हैं पर वास्तव में इसमें कुछ तत्व नहीं ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

पद०-कामात्मानः । स्वर्गपराः । जन्मकर्मफलप्रदां । क्रियाविशेषबहुलां । भोगैश्वर्य्यगतिं । प्रति ॥

पदा०-(कामात्मानः) कामना वाले पुरुष (स्वर्गपराः) स्वर्ग की इच्छा वाले ऐसी वाणी की शरण लेते हैं जो (जन्मकर्मफलप्रदां) जन्मरूपी कर्म का फल देने वाली है, फिर कैसी है (क्रियाविशेषबहुलां) क्रिया की जो विशेषता उसकी है अधिकता जिसमें अर्थात् व्यर्थ क्रिया की अधिकता वाली वाणी का (भोगैश्वर्य्यगतिं, प्रति) भोग और ऐश्वर्य्य के लिये आश्रय लेते हैं ॥

भाष्य-कामना वाले पुरुष अपनी सिद्धि के लिये नाना प्रकार का अर्थवाद वेद में कल्पना करलेते हैं, कोई कहता है इसके पढ़ने से शत्रु मरजाता है, कोई कहता है इसके करने से राज्य मिल जाता है, इत्यादि अनेक अर्थों की कल्पना करते हुए पुरुषार्थ से भ्रष्ट होजाते हैं, इसलिये ऐसे अर्थवाद से हटाने के लिये कृष्णजी अर्जुन को आगे के श्लोक में निश्चयात्मिक सत्यबुद्धि का उपदेश करते हैं:—

भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

पद०-भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां । तया । अपहृतचेतसां । व्यवसायात्मिका । बुद्धिः । समाधौ । न । विधीयते ॥

पदा०-(भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां) भोग और ऐश्वर्य्य में आसक्त (तया) उस पुष्पित वाणी से (अपहृतचेतसां) हरा गया है मन जिनका उनकी (व्यवसायात्मिका, बुद्धिः) निश्चयात्मिका बुद्धि (समाधौ, न, विधीयते) परमात्मा में विधान नहीं कीजाती ॥

भाष्य-जो लोग भोग और ऐश्वर्य्य में लगे हुए हैं और पूर्वोक्त अर्थवाद की बुद्धि से जिनका चित्त हरा गया है अर्थात् स्थिर नहीं उनकी बुद्धि परमात्मा के एकत्व में कदापि नहीं ठहरती, वह लोग कभी अजन्मा परमात्मा का जन्म वर्णन करते हैं, कभी उसके अनन्त शरीर वर्णन करते हैं, कभी उस निराकार के अनन्त आकार वर्णन करते हैं, एवं सदैव उनकी अनिश्चयात्मिका बुद्धि उस परमात्मा में रहती है और वेद इसका

सर्वथा निषेध करते हैं, जैसाकि "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं" इस मन्त्र में परमात्मा के ज्ञान को ही मुक्ति का साधन माना है. और "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" बृह० ४। ४। १९ "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्ववेद" बृह० ५। ५। ७ इत्यादि वाक्यों में यह कथन किया गया है कि वह मरन से भी मरन को प्राप्त है जो परमात्मा में नानापन देखता है अर्थात् परमात्मा निराकार भी है, साकार भी है, जन्मता भी है, मरता भी है, इत्यादि विरुद्ध धर्मों का जो आश्रय मानता है, इस प्रकार वैदिक और औपनिषद वाक्यों में परमात्मा की प्राप्ति के लिये अनिश्चयात्मिक मति का निषेध किया गया है॥

सं०-ननु, वेद उन उत्तम जिज्ञासुओं का विषय है जो अज्ञानादि दोषों से रहित हैं फिर उनमें अर्थाभास की सम्भावना न होने से वेदवादरता क्यों कहा ? उत्तरः—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥४५॥

पद०-त्रैगुण्यविषयाः। वेदाः। निस्त्रैगुण्यः। भव। अर्जुन। निर्द्वन्द्वः। नित्यसत्त्वस्थः। निर्योगक्षेमः। आत्मवान्॥

पदा०-तीनों गुणों का जो भाव उसको "त्रैगुण्य" कहते हैं अर्थात् तीनों गुणों वाले जो पुरुष हैं उनका विषय वेद है, इसलिये "त्रैगुण्यविषया वेदा" कहा है, हे अर्जुन! यह मनुष्य तीनों गुणों का भाव=तीनो गुणों वाला है, इसलिये वेद के अर्थाभास में फसजाता है और तू निस्त्रैगुण्य=तीनों गुणों से रहित (निर्द्वन्द्वः) शीत, ऊष्ण, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि द्वन्दों से रहित (नित्यसत्त्वस्थः) सदा सत्त्वगुण में स्थिर अर्थात् सत्वप्रधान होजा (निर्योगक्षेमः) अप्राप्त की प्राप्ति का नाम "योग" और प्राप्त की रक्षा को "क्षेम" कहते हैं अर्थात् इस प्रकार का निष्कामकर्म कर कि जिससे अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा की चिन्ता न हो (आत्मवान्) "आत्मविद्यते यस्य स आत्मवान्"= तुम आत्मिक बलवाले बनो॥

भाष्य—प्रकृति के सत्व, रज, तम इन तीनो गुणों में जो लोग फसे हुए हैं वह अर्थाभास और अर्थवाद से कदापि नहीं बचसक्ते, सत्वप्रधान लोग ही वेदार्थ में वेदवाद से बचसक्ते हैं, इस अभिप्राय से "नित्यसत्त्वस्थः" कहा है, और जो लोग यह अर्थ करते हैं कि वेद तीनो गुणों वाला है और तुम तीन गुणों से परे होजाओ, यह अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि सत्व भी तीनो गुणों में से एक गुण है फिर "निस्त्रैगुण्य" कैसे ? इसलिये "निस्त्रैगुण्य" के अर्थ सत्वप्रधान के हैं, अतएव वेदों की न्यूनता इस श्लोक में नहीं किन्तु सत्त्व की प्रधानता का उपदेश है और इसी भाव के ज्ञापन करने से वक्ष्यमाण श्लोक सङ्गत होसकता है अन्यथा मोक्षार्थ का श्रोत वेद को कदापि वर्णन न किया जाता और नाही वेद विज्ञानी ब्राह्मण को मोक्षार्थ का एकमात्र साधन बतलाया जाता, इस स्थल में वेदों का महत्व वर्णन किया गया है, जैसाकिः—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

पद०—यावान् । अर्थः । उदपाने । सर्वतः । संप्लुतोदके । तावान् । सर्वेषु । वेदेषु । ब्राह्मणस्य । विजानतः ॥

पदा०—(यावान्) जितना (अर्थः) प्रयोजन (उदपाने, सर्वतः, संप्लुतोदके) सब ओर से जल वहने वाली बावड़ी में होता है अर्थात् कोई उसमें से खेती को जल देता, कोई गौ आदि को पिलाता और कोई स्वयं पीता है, एवं सर्व प्रयोजन सिद्धि के लिये वह जलाशय पर्य्याप्त होता है (तावान्) उतना ही (सर्वेषु) सब (वेदेषु) वेदों में (विजानतः) विज्ञानी ब्राह्मण का प्रयोजन होता है अर्थात् ब्राह्मण की दृष्टि में धर्म सम्बन्धि सर्वार्थ की सिद्धि का आकर वेद है पर उस मोक्षार्थी के लिये मोक्षोपयोगी बातें ही उपादेय हैं ॥

सं०—ननु, जब विज्ञानी ब्राह्मण को केवल मुक्ति सम्बन्धि साधन ही उपादेय हैं तो फिर उसको कर्मों से क्या प्रयोजन ? उत्तरः—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

पद०—कर्मणि । एव । अधिकारः । ते । मा । फलेषु । कदाचन । मा । कर्मफलहेतुः । भूः । मा । ते । संगः । अस्तु । अकर्मणि ॥

पदा०— (कर्मणि) कर्म में ही (एव) निश्चयकरके (ते) तुम्हारा (अधिकारः) अधिकार है (मा, फलेषु, कदाचन) फलों में कदापि नहीं (मा,-कर्मफलहेतुः, भूः) तुम कर्मफल के हेतु मत बनो, इस प्रकार (ते) तुम्हारा (अकर्मणि) अकर्मों में (सङ्गः) संग (मा, अस्तु) न होगा ॥

भाष्य—पूर्व श्लोक में जो यह संदेह हुआ था कि विज्ञानी ब्राह्मण के लिये मुक्तिसाधन सम्बन्धि कर्मों से भिन्न अन्य कर्मों की आवश्यकता नहीं, इस संदेह की निवृत्ति के लिये इस श्लोक में यह प्रतिपादन किया है कि सदैव निष्कामकर्म करने चाहियें फल का सङ्कल्प रखकर नहीं ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

पद०-योगस्थः । कुरु । कर्माणि । सङ्गं । त्यक्त्वा । धनंजय । सिद्ध्यसिद्ध्योः । समः । भूत्वा । समत्वं । योगः । उच्यते ॥

पदा०- (धनंजय) हे अर्जुन ! (कर्माणि) कर्मों को (योगस्थः) योग में स्थिर होकर (कुरु) कर (संगं, त्यक्त्वा) संग छोड़कर (सिद्ध्यसिद्ध्योः) सिद्धि असिद्धि में अर्थात् कार्य्य सिद्ध हो अथवा न हो दोनों दशाओं में (समः, भूत्वा) सम होकर जो कार्य्य किया जाता है उसका नाम " योग " है, इसलिये कहा है कि (समत्वं, योगः, उच्यते) उक्त दोनों अवस्थाओं में सम रहने का नाम ही योग है ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

पद०-दूरेण । हि । अवरं । कर्म । बुद्धियोगात् । धनंजय । बुद्धौ । शरणं । अन्विच्छ । कृपणाः । फलहेतवः ॥

पदा०-(धनंजय) हे अर्जुन ! (बुद्धियोगात्) निष्कामकर्मरूप योग से (दूरेण) अधिकता करकें (हि) निश्चयपूर्वक (कर्म, अवरं) कर्म छोटा है, इसलिये (बुद्धौ) परमात्मरूप बुद्धि में (शरणं) आश्रय (अन्विच्छ) ढूंढ, क्योंकि (फलहेतवः) फल के हेतु जो सकामकर्म हैं फिर वह (कृपणाः) कृपण होजाने से फल देने के लिये समर्थ नहीं रहते ॥

भाष्य–जो परमात्मा में निश्चय रखकर निष्कामकर्म करता है उसके लिये सकामकर्म तुच्छ हैं, इसलिये हे अर्जुन ! तू निष्कामकर्म कर, इस श्लोक का मूलभूत यह उपनिषद्वाक्य है "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ एतदक्षरंगार्गिविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः" बृहदा० ३ । ८ । १०=हे गार्गी ! जो इस अक्षर परमात्मा को न जानकर मरता है वह कृपण है और जो जानकर इस लोक से प्रयाण करता है वह ब्राह्मण है ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

पद०–बुद्धियुक्तः । जहाति । इह । उभे । सुकृतदुष्कृते । तस्मात् । योगाय । युज्यस्व । योगः । कर्मसु । कौशलं ॥

पदा०–(बुद्धिः) निष्कामकर्मरूप बुद्धि से (युक्तः) युक्त=निष्कामकर्म करने वाला पुरुष (सुकृतदुष्कृते) पुण्य, पाप (उभे) दोनों को (जहाति) छोड़ देता है (तस्मात्) इसलिये तू (योगाय) निष्कामकर्मरूपी योग के लिये (युज्यस्व) जुड़, क्योंकि (योगः) योग (कर्मसु) कर्मों में (कौशलं) श्रेष्ठ है ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छंत्यनामयम् ॥ ५१ ॥

पद०–कर्मजं । बुद्धियुक्ताः । हि । फलं । त्यक्त्वा । मनीषिणः । जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः । पदं । गच्छन्ति । अनामयं ॥

पदा०–(हि) निश्चयकरके (बुद्धियुक्ताः, मनीषिणः) निष्कामकर्मरूप बुद्धि से युक्त मननशील पुरुष (कर्मजं, फलं, त्यक्त्वा) कर्म से उत्पन्न होने वाले फल को छोड़कर (अनामयं) कल्याणरूप (पदं) पद को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं, जैसाकि "तद्विष्णोः परमं पदं सदापश्यन्ति सूरयः"=उस विष्णु=व्यापक परमात्मा के परमपद को विद्वान् लोग सदा देखते हैं ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गंतासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

पद०—यदा । ते । मोहकलिलं । बुद्धिः । व्यतितरिष्यति । तदा । गंता । असि । निर्वेदं । श्रोतव्यस्य । श्रुतस्य । च ॥

पदा०—(यदा) जब (ते) तुम्हारे (मोहकलिलं) मोहरूपी कलङ्क को (बुद्धिः, व्यतितरिष्यति) बुद्धि तैर जायगी (तदा) तब (गंता असि, निर्वेदं) तुम निर्वेद=वैराग्य को प्राप्त होगे (श्रोतव्यस्य) सुनने योग्य (च) और (श्रुतस्य) जो कुछ तुमने सुना है अथवा आगे सुनोगे, उन सब पदार्थों से तुम्हें वैराग्य होजायगा ॥

भाष्य—अहंममेदमिति = मैं यह हूं, यह मेरा है, इस प्रकार का अध्यास जब निवृत्त होजायगा तब तुम्हें वैराग्य होगा, एवंविध अध्यास निवृत्ति का नाम वैराग्य शङ्करमत में ही है वैदिकमत में नित्यानित्य पदार्थों के विवेक का नाम वैराग्य है संसार को मिथ्या मान लेने का नाम वैराग्य नहीं ॥

सं०—ननु, योगप्राप्ति किस अवस्था में होती है ? उत्तरः—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

पद०—श्रुतिविप्रतिपन्ना । ते । यदा । स्थास्यसि । निश्चला । समाधौ । अचला । बुद्धिः । तदा । योगं । अवाप्स्यसि ॥

पदा०—(श्रुतिविप्रतिपन्ना) श्रुति मे विप्रतिपन्न = संशय को प्राप्त (ते) तुम्हारी (बुद्धिः) बुद्धि (यदा) जब (निश्चला, स्थास्यति, समाधौ) परमात्मा में निश्चल होगी (तदा, योगं, अवाप्स्यसि) तब तुम योग को प्राप्त होगे ॥

भाष्य—इस श्लोक में "योग" पद भाष्य करने योग्य है, स्वामी शं० चा० "योगं—अवाप्स्यसि" के यह अर्थ करते हैं कि " विवेक प्रज्ञासमाधिं प्राप्स्यसि"=विवेकरूप बुद्धि को प्राप्त होने के अर्थ योग के हैं और मधुसूदन स्वामी के मत में इसके अर्थ यह हैं कि "योगंजीवपरमात्मैकलक्षणंतत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यमखण्डसाक्षात्कारसर्वयोगफलं अवाप्स्यसि "=

जीव और परमात्मा का एकरूप होजाना जो "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से अखण्ड का साक्षात्कार है उसका नाम "योग" है, अखण्डार्थ इनके मत में यह कहलाता है कि भागत्यागलक्षणा द्वारा जैसे "सोऽयं देवदत्त" में पूर्वदेश = जिस देश में उसको देखा था और एतद्देश को छोड़कर देवदत्त के शरीर मात्र का ग्रहण होता है, एवं जीव की अल्पज्ञता और ईश्वर की सर्वज्ञता छोड़कर जो एक चेतनमात्र का ग्रहण किया जाता है उसका नाम "अखण्डार्थ" है, यह अर्थ मायावादियों ने गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध कल्पना किये हैं, गीता में योग के अर्थ दूसरी वस्तु के साथ जुड़ने के हैं अर्थात् उसके साथ सम्बन्ध पाना, जैसाकि "**परंज्योतिरुपसम्पद्यस्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते**" छान्दो० ८ । ३ । ४ = उस परंज्योति परमात्मा को पाकर अपने स्वरूप से जीव स्थिर होता है, इस प्रकार की स्थिरता के लिये यहां योग शब्द आया है, और "**योगयुक्तात्मा**" गी० ६ । १९ "**योगवित्तमा**" गी० १२ । १ "**योगसंज्ञितं**" गी० ६ । २३ "**योगसंन्यस्तकर्माणं**" गी० ४ । ४१ "**योगसंसिद्धः**" गीता० ४ । ३८ "**योगसंसिद्धिं**" गी० ६ । ३७ "**योगसेवया**" गी० ६ । २० "**योगस्थः**" गी० २ । ४८ '**योगस्य**' गी० ६ । ४४ "**योगं**" गी० २ । ५३ इत्यादि अनेक स्थानों में योग शब्द के अर्थ अन्य वस्तु के साथ युक्त होने के ही हैं, फिर गीता में इसके अर्थ जीव ब्रह्म की एकता के कैसे होसक्ते हैं ॥

ननु-जीव ब्रह्म की एकता भी तो एक प्रकार का योग ही है फिर "योग" शब्द का प्रयोग इसमें क्यों नहीं घटता ? उत्तर-जीव ब्रह्म की एकता को अद्वैतमत में "योग" इसलिये नहीं कहसक्ते कि इसमें जीव का जीवभाव मिटकर ब्रह्म के साथ एकता होती है, प्रत्युत आत्मनिवास कहसक्ते हैं, यदि यहां योग से तात्पर्य्य जीव ब्रह्म के ऐक्य का होता तो इससे आगे स्थिर प्रज्ञा वाले पुरुष का लक्षण न पूछा जाता, इस प्रश्न से पाया जाता है कि "**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**" यो० १। २ इस सूत्र के अनुकूल यहां योग से तात्पर्य्य चित्तवृत्तिनिरोध का है जीव ब्रह्म की एकता का नहीं, इसलिये अर्जुन ने निम्नलिखित प्रश्न पूछा है कि:—

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

पद०—स्थितप्रज्ञस्य । का । भाषा । समाधिस्थस्य । केशव । स्थितधीः । किं । प्रभाषेत । किं । आसीत । व्रजेत । किम् ॥

पदा०—(केशव) हे कृष्ण ! (स्थितप्रज्ञस्य) स्थित बुद्धि वाले (समाधिस्थस्य) समाधिस्थ पुरुष का (भाषा) लक्षण (का) क्या है (स्थितधीः) जिसकी स्थिर बुद्धि है (किं, प्रभाषेत) वह क्या बोलता (किं, आसीत) किस प्रकार स्थिरता से इन्द्रियों का निरोध करता और (किं, व्रजेत) इन्द्रियों के किन २ विषयों को ग्रहण करता है ? ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

पद०—प्रजहाति । यदा । कामान् । सर्वान् । पार्थ । मनोगतान् । आत्मनि । एव । आत्मना । तुष्टः । स्थितप्रज्ञः । तदा । उच्यते ॥

पदा०—हे पार्थ ! (तदा) जब पुरुष (मनोगतान्) मन में स्थित (सर्वान्, कामान्) सब कामनाओं को (प्रजहाति) त्यागकर (आत्मनि, एव) आत्मा में ही (आत्मना) अपने आप (तुष्टः) प्रसन्न होता है (तदा) तब (स्थितप्रज्ञः) स्थितप्रज्ञावाला (उच्यते) कहा जाता है, और:—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

पद० —दुःखेषु । अनुद्विग्नमनाः । सुखेषु । विगतस्पृहः । वीतरागभयक्रोधः । स्थितधीः । मुनिः । उच्यते ॥

पदा०— (स्थितधीः) स्थिर बुद्धि वाला (दुःखेषु, अनुद्विग्नमनाः) दुःखों में उदासीन न होने वाला अर्थात् दुःख को तितिक्षा से सहारने वाला (सुखेषु) सुखों में (विगतस्पृहः) जिसकी इच्छा दूर होगई हो अर्थात् सुख की भी इच्छा न करने वाला (वीतरागभयक्रोधः) जिसकी

राग= विषयों में प्रीति, भय = उन विषयों के नाश होजाने से भीति, क्रोध = जब उन विषयों के हरण के लिये कोई और आ उपस्थित हो तो उस पर चित्त का अत्यन्त रुष्ट होजाना, इत्यादि इन राग, भय, क्रोधादिकों से रहित जो स्थिर पुरुष है वह (मुनिः) मुनि (उच्यते) कहाता है ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

पद०—यः । सर्वत्र । अनभिस्नेहः । तत् । तत् । प्राप्य । शुभाशुभं । न । अभिनन्दति । न । द्वेष्टि । तस्य । प्रज्ञा । प्रतिष्ठिता ।

पदा०—(यः) जो (सर्वत्र) सब स्थानों में (तत्, तत्, प्राप्य) तिस२ प्रियाप्रिय विषय को प्राप्त होके (अनभिस्नेहः) प्रेम नहीं रखता (न, अभिनन्दति) न प्रसन्न होता (न, द्वेष्टि) न द्वेष करता है (तस्य, प्रज्ञा) उसकी बुद्धि (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित = स्थिर होती है ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

पद०—यदा । संहरते । च । अयं । कूर्मः । अंगानि । इव । सर्वशः । इन्द्रियाणि । इन्द्रियार्थेभ्यः । तस्य । प्रज्ञा । प्रतिष्ठिता ॥

पदा०—(अयं) योगी (यदा) जब (कूर्म, अंगानि, इव) कछुए के अंगों के समान (इन्द्रियार्थेभ्यः) इन्द्रियों के अर्थों से (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (सर्वशः) सब शब्दादि विषयों से (संहरते) संहार = रोक लेता है तब (तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता) उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

पद०—विषयाः । विनिवर्तन्ते । निराहारस्य । देहिनः । रसवर्जं । रसः । अपि । अस्य । परं । दृष्ट्वा । निवर्तते ॥

पदा०—(निराहारस्य, देहिनः) विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध न करते हुए भी इस जीवात्मा के (विषयाः) विषय (विनिवर्तन्ते) निवृत्त होजाते हैं, वह विषय (रसवर्जं) रस की तृष्णा छोड़कर निवृत्त

होते हैं अर्थात् जब उसकी इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध नहीं रहता उस समय उसको विषयों के रस का विचार बना रहता है, इसलिये "रसवर्ज" कहा है (रसः, अपि, अस्य) रस भी इसको (परं, दृष्ट्वा) पर को देखकर (निवर्तते) निवृत्त होजाता है अर्थात् परमात्मज्ञान के होने पर उसको विषयों में रस प्रतीत नहीं होता ॥

यततोह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

पद०—यततः । हि । अपि । कौन्तेय । पुरुषस्य । विपश्चितः । इन्द्रियाणि । प्रमाथीनि । हरन्ति । प्रसभं । मनः ॥

पदा०—हे कौन्तेय ! (यततः, हि, अपि) यत्न करते हुए भी (पुरुषस्य, विपश्चितः) विज्ञानी पुरुष के (मनः) मन को (प्रसभं) बलात्कार (प्रमाथीनि, इद्रियाणि) प्रमथनशील इन्द्रिय (हरन्ति) हर लेते हैं अर्थात् इन्द्रिय ऐसे प्रमाथी हैं कि सदैव उद्वेगवाले रहते हैं और मन को वह बलात्कार विषयों की ओर लेजाते हैं, जिसका उपाय आगे के श्लोक में बतलाया गया है किः—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

पद०—तानि । सर्वाणि । संयम्य । युक्तः । आसीत । मत्परः । वशे । हि । यस्य । इन्द्रियाणि । तस्य । प्रज्ञा । प्रतिष्ठिता ॥

पदा०—(तानि, सर्वाणि) जो उन सब इन्द्रियों का (संयम्य) संयम करके (युक्तः) समाहित मन वाला (मत्परः) मेरे मन्तव्य को मानने वाला (आसीत) है (वशे, हि, यस्य, इन्द्रियाणि) जिसकी इन्द्रिय वशीभूत हैं (तस्य, प्रज्ञा) उसकी बुद्धि (प्रतिष्ठिता) स्थित होती है अर्थात् उस पुरुष की बुद्धि विषयों की ओर नहीं जाती ॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

पद०—ध्यायतः । विषयान् । पुंसः । संगः । तेषु । उपजायते । सङ्गात् ।

संजायते । कामः । कामात् । क्रोधः । अभिजायते ॥

पदा०–(विषयान्) विषयों का (ध्यायतः)ध्यान करते हुए (पुंसः) पुरुष का (तेषु) उनमें (सङ्गः, उपजायते) सङ्ग होता (संगात्) संग से (कामः) काम (संजायते) उत्पन्न होता (कामात्) काम से (क्रोधः) क्रोध (अभिजायते) उत्पन्न होता है ॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

पद०–क्रोधात् । भवति । संमोहः । संमोहात् । स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशात् । बुद्धिनाशः । बुद्धिनाशात् । प्रणश्यति ॥

पदा०–(क्रोधात्) क्रोध से (संमोहः) मोह (भवति) होता (संमोहात्) मोह से (स्मृतिविभ्रमः) स्मृति का नाश होता (स्मृतिभ्रंशात्) स्मृति के नाश से (बुद्धिनाशः) बुद्धि का नाश होता, और (बुद्धिनाशात्) बुद्धि के नाश से मनुष्य (प्रणश्यति) नष्ट होजाता है ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

पद०–रागद्वेषवियुक्तैः । तु । विषयान् । इन्द्रियैः । चरन् । आत्मवश्यैः । विधेयात्मा । प्रसादं । अधिगच्छति ॥

पदा०–(तु) जो पुरुष (आत्मवश्यैः) अपने वशीभूत (रागद्वेष-वियुक्तैः, इन्द्रियैः) राग द्वेष से रहित इन्द्रियों द्वारा (विषयान्, चरन्) विषयों को भोगता है वह (विधेयात्मा) वशीकृत मन वाला (प्रसादं, अधिगच्छति) प्रसन्नता को प्राप्त होता है ॥

सं०–ननु, चित्त के प्रसाद से क्या लाभ होता है ? उत्तरः–

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

पद०–प्रसादे । सर्वदुःखानां । हानिः । अस्य । उपजायते । प्रसन्न-चेतसः । हि । आशु । बुद्धिः । पर्यवतिष्ठते ॥

पदा०–(प्रसादे) चित्त के प्रसाद=प्रसन्न होने पर (अस्य) इस जीवात्मा के

(सर्वदुःखानां) सब दुःखों की (हानिः, उपजायते) हानि होकर (प्रसन्न-चेतसः) प्रसन्नचित्त वाले की (हि) निश्चयकरके बुद्धि (आशु) शीघ्र (पर्यवतिष्ठते) स्थिर होती है, औरः—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

पद०—न । अस्ति । बुद्धिः । अयुक्तस्य । न । च । अयुक्तस्य । भावना । न । च । अभावयतः । शान्तिः । अशान्तस्य । कुतः । सुखं ॥

पदा०—(अयुक्तस्य) जो वशीभूत मन वाला नहीं है उसकी (बुद्धिः) बुद्धि (न, अस्ति) नहीं होती (न, अयुक्तस्य) न अयुक्त पुरुष की (भावना) निदिध्यासनरूप चित्तवृत्ति होती है (च) और (अभावयतः) विना भावना वाले को (शान्ति) शान्ति (न) नहीं होती (च) और (अशान्तस्य) अशान्त को (सुखं, कुतः) सुख कहां अर्थात् अशान्त पुरुष को सुख नहीं होता ॥

सं०—ननु, अयुक्त पुरुप को बुद्धि क्यों नहीं होती ? उत्तरः—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

पद०—इन्द्रियाणां । हि । चरतां । यत् । मनः । अनुविधीयते । तत् । अस्य । हरति । प्रज्ञां । वायुः । नावं । इव । अम्भसि ॥

पदा०—(हि) निश्चयकरके (इन्द्रियाणां) इन्द्रियों के (चरतां) विचरते हुए (यत्) जो (मनः) मन (अनुविधीयते) उनके पीछे छोड़ दिया जाता है (तत्) वह (अस्य) इसकी (प्रज्ञां) बुद्धि को (हरति) हर लेता है (इव) जैसे (वायुः) वायु (अम्भसि) समुद्र में (नावं) नौका को हर लेती है ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

पद०—तस्मात् । यस्य । महाबाहो । निगृहीतानि । सर्वशः । इन्द्रियाणि । इन्द्रियार्थेभ्यः । तस्य । प्रज्ञा । प्रतिष्ठिता ॥

पदा०—(महाबाहो) हे बड़े बल वाले अर्जुन ! (तस्मात्) इस

कारण (यस्य, इन्द्रियाणि) जिस पुरुष के इन्द्रिय (इन्द्रियार्थेभ्यः) विषयों से (सर्वशः, निगृहीतानि) सब ओर से रुके हुए हैं (तस्य, प्रज्ञा) उसकी बुद्धि (प्रतिष्ठिता) स्थिर होती है ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥ ६९ ॥

पद०–या । निशा । सर्वभूतानां । तस्यां । जागर्ति । संयमी । यस्यां । जाग्रति । भूतानि । सा । निशा । पश्यतः । मुनेः ॥

पदा०–(सर्वभूतानां) सब प्राणियों की (या, निशा) जो रात्रि (तस्यां) उसमें (संयमी, जागर्ति) संयमी जागता और (यस्यां, जाग्रति, भूतानि) जिसमें अन्य प्राणी जागते हैं (सा) उसको (निशा) रात्री (पश्यतः, मुनेः) मननशील पुरुष देखता है ॥

भाष्य–इस श्लोक का आशय यह है कि जिन सांसारिक विषयों में लगे हुए संसारी लोग जागते हैं उनमें संयमी = जितेन्द्रिय पुरुष सोता है और जिनमें संयमी जागता है अर्थात् शमदमसम्पन्न है उनमें संसारी लोग सोते हैं, इस श्लोक में स्पष्ट रीति से शमदमादि साधनों का विधान किया गया है ॥

मायावादियों ने इसके यह अर्थ किये हैं कि जो अपने आपको ब्रह्म जानता है वह जागता और जो अपने को ब्रह्म नहीं जानता वह सोता है, यह अर्थ श्लोक के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि "ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते" गी० २ । ६२ इत्यादि श्लोकों में स्पष्ट है कि यहां चित्तवृत्ति का निरोध कथन किया गया है न कि स्वयं ब्रह्म बनकर जागना और अन्यथा सोना, यदि ऐसा होता तो अग्रिम श्लोक में इस प्रकार की निश्चलता वर्णन न की जाती, जैसाकिः—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥७०॥

पद०–आपूर्यमाणं । अचलप्रतिष्ठं । समुद्रं । आपः । प्रविशन्ति । यद्वत् । तद्वत् । कामाः । यं । प्रविशन्ति । सर्वे । सः । शान्तिं । आप्नोति । न । कामकामी ॥

पदा०—(समुद्रं) समुद्र को (आपः) जल (यद्वत्) जिसप्रकार (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं, वह कैसा समुद्र है जो (आपूर्यमाणं, अचलप्रतिष्ठं) सब ओर से भरा हुआ और जिसकी अचलप्रतिष्ठा है अर्थात् जो अपनी मर्यादा को उल्लंघन नहीं करता (तद्वत्) उसके समान (कामाः) कामनायें (यं, प्रविशन्ति) जिसको प्रवेश करती हैं (सः, शान्तिं, आप्नोति) वह शान्ति को प्राप्त होता है (न, कामकामी) काम की कामना करने वाला शान्ति को प्राप्त नहीं होता ॥

विहाय कामान् यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

पद०—विहाय । कामान् । यः । सर्वान् । पुमान् । चरति । निःस्पृहः । निर्ममः । निरहंकारः । सः । शान्तिं । अधिगच्छति ॥

पदा०—(यः, पुमान्) जो पुरुष (सर्वान्, कामान्, विहाय) सब कामनाओं को छोड़ (निःस्पृहः) निरिच्छित होकर (चरति) विचरता (निर्ममः) विना ममता वाला और जो (निरहंकारः) अहंकार से रहित है (सः, शान्तिं, अधिगच्छति) वह शान्ति को प्राप्त होता है ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामंतकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

पद० —एषा । ब्राह्मी । स्थितिः । पार्थ । न । एनां । प्राप्य । विमुह्यति । स्थित्वा । अस्यां । अंतकाले । अपि । ब्रह्मनिर्वाणं । ऋच्छति ॥

पदा०— हे पार्थ ! (एषा, ब्राह्मी, स्थितिः) जो यह ब्रह्म विषयिणी स्थिति (एनां, प्राप्य) इसको प्राप्त होकर (न, विमुह्यति) मोह को प्राप्त नहीं होता (स्थित्वा, अस्यां, अंतकाले, अपि) इसमें अंतकाल में भी स्थिर होकर (ब्रह्मनिर्वाणं) ब्रह्म में जो गति=तद्धर्मतापत्तिरूप मुक्ति उसको (ऋच्छति) प्राप्त होता है ॥

भाष्य—स्वामी शं० चा० इसका यह अर्थ करते हैं कि " एषायथोक्ताब्राह्मी ब्रह्मणिभवेयंस्थितिः सर्वकर्मसंन्यस्य ब्रह्मरूपेणैवावस्थानमित्येतत्, हे पार्थ ! नैनांस्थितिं प्राप्य लब्ध्वा न विमु-

ह्याति न मोहं प्राप्नोति"=यह जो पूर्वोक्त ब्रह्मविषयक स्थिति कथन कीगई है वह सब कर्मों को छोड़कर ब्रह्मरूप से स्थिर होने का नाम "ब्रह्मीस्थिति" है. उनका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि एवंविध ब्रह्म बन-जाना इस श्लोक में कथन नहीं किया गया, यदि इस प्रकार ब्रह्म बनजाना इस श्लोक का आशय होता तो पूर्व श्लोक में सब कामनाओं को छोड़ने से जो शान्ति कथन कीगई है उसकी सङ्गति इसके साथ न मिलती और नाही इन्द्रियों के निरोध से शान्ति का कथन किया जाता. इन्द्रियों के निरोध से शान्ति का कथन करना इस बात को सिद्ध करता है कि निष्कर्मता से ब्रह्म बनने का कथन इस अध्याय में नहीं किन्तु परमात्मा के गुण धारण करने से जो तद्धर्मतापत्तिरूप ब्रह्म में स्थिति है उसी का नाम यहां "ब्राह्मीस्थिति" है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोग-प्रदीपार्य्यभाष्ये, सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः

अथ तृतीयोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०—ननु "विहाय कामान् यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पहः" गी० २।७१ "प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्" गी० २।५५ इत्यादि श्लोकों में निष्कामता का महत्व वर्णन किया गया, और "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्" यजु० ३१।१८ "नायमात्माप्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" कठ० ६।२३ इत्यादि वेदोपनिषदों में भी यह पाया जाता है कि केवल ज्ञान से मुक्ति होती है फिर कर्म की क्या आवश्यकता ? और "नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते" गी० २। ४० इत्यादि श्लोकों में जो कर्मयोग का कथन किया गया है उसका क्या फल अर्थात् केवल

ज्ञान से ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति होसकती है फिर कर्मों के करने से क्या प्रयोजन ? इस आक्षेप संगति से यह कर्मयोगाध्याय प्रारम्भ किया जाता है :—

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

पद०—ज्यायसी । चेत् । कर्मणः । ते । मता । बुद्धिः । जनार्दन । तत् । किं । कर्मणि । घोरे । मां । नियोजयसि । केशव ॥

पदा०—"सर्वैर्जनैरर्द्यते याच्यते इति जनार्दनः"=जो सब जनों से प्रार्थना कियाजाय उसका नाम "जनार्दन" है (जनार्दन) हे कृष्ण ! (चेत्) यदि (ते) तुमको (कर्मणः) कर्मों से (ज्यायसी) बड़ी (बुद्धिः, मता) अन्य कोई बुद्धि प्रतीत होती है (तत्) तो फिर (घोरे, कर्मणि, मां) मुझे घोर कर्मों में (किं, नियोजयसि) क्यों जोड़ते हो अर्थात् "विहायकामान् यः सर्वान्" इत्यादि श्लोकों में जो कामनाओं का त्याग कथन किया है उससे विरुद्ध "युद्धाद्धिमरणंश्रेयः" इत्यादि कर्मों में मुझे क्यों फंसाते हो ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

पद०—व्यामिश्रेण । इव । वाक्येन । बुद्धिं । मोहयसि । इव । मे । तत् । एकं । वद । निश्चित्य । येन । श्रेयः । अहं । आप्नुयां ॥

पदा०—(व्यामिश्रेण) मिले हुए (वाक्येन) वाक्य से (मे) मेरी (बुद्धिं) बुद्धि को (मोहयसि, इव) मोह के समान कर रहे हो (तत्) इसलिये (एकं, वद, निश्चित्य) निश्चयकरके एक बात कहो (येन) जिससे (अहं) मैं (श्रेयः) कल्याण को (आप्नुयां) प्राप्त होऊं ॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

पद०—लोके । अस्मिन् । द्विविधा । निष्ठा । पुरा । प्रोक्ता । मया । अनघ । ज्ञानयोगेन । सांख्यानां । कर्मयोगेन । योगिनां ॥

पदा०—(अनघ) हे निष्पाप ! (अस्मिन्, लोके) इस लोक में (द्विविधा, निष्ठा) दो प्रकार का निश्चय (पुरा, मया, प्रोक्ता) प्रथम मैंने कहा है (ज्ञानयोगेन, सांख्यानां) जो सदसद्विवेचन करने वाले सांख्यी लोग हैं उनकी ज्ञानयोग से और (कर्मयोगेन) कर्मयोग से (योगिनां) योगियों की निष्ठा कथन की है ॥

न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

पद०—न । कर्मणां । अनारम्भात् । नैष्कर्म्यं । पुरुषः । अश्नुते । न । च । संन्यसनात् । एव । सिद्धिं । समधिगच्छति ॥

पदा०—(कर्मणां) कर्मों के (अनारम्भात्) आरम्भ करने से विना (नैष्कर्म्यं) निष्कर्मता को (पुरुषः) पुरुष (न, अश्नुते) नहीं पासक्ता (न, च) और न (संन्यसनात्, एव) संन्यास से ही (सिद्धिं) सिद्धि को (समधिगच्छति) प्राप्त होसक्ता है ॥

भाष्य—पुरुष संन्यासी भी तभी कहला सक्ता है जब प्रथम कर्म करके फिर उनका त्याग करता है, त्यागमात्र से कोई सिद्धि को प्राप्त नहीं होता किन्तु उस काम में निपुण होकर फिर उसके फल की इच्छा न करके सिद्धि को प्राप्त होता है ॥

सं०—अब कर्मों के करने में अन्य युक्ति कथन करते हैं :—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

पद०—न । हि । कश्चित् । क्षणं । अपि । जातु । तिष्ठति । अकर्मकृत् । कार्यते । हि । अवशः । कर्म । सर्वः । प्रकृतिजैः । गुणैः ॥

पदा०—(जातु) कदाचित् (कश्चित्) कोई एक (क्षणं, अपि) क्षणभर भी (अकर्मकृत्, न, हि, तिष्ठति) कर्म से विना नहीं रहसक्ता (प्रकृतिजैः, गुणैः) प्रकृति से उत्पन्न हुए जो सत्व, रज, तम आदि गुण हैं उनसे (कार्य्यते, हि, अवशः, कर्म) कर्म अवश्य कराया जाता है ॥

भाष्य-प्रकृति के जो उक्त गुण हैं उनका अवश्य कर्मों की ओर प्रवाह होता है इसलिये पुरुष निष्कर्म कदापि नहीं होसक्ता, और जो उनका बनावटी निरोध करके मन से कर्म करते रहते हैं वह मिथ्याचारी हैं, जैसाकि अग्रिम श्लोक में कहा है कि:—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

पद०-कर्मेन्द्रियाणि । संयम्य । यः । आस्ते । मनसा । स्मरन् । इन्द्रियार्थान् । विमूढात्मा । मिथ्याचारः । स । उच्यते ॥

पदा०-(यः) जो (कर्मेन्द्रियाणि) हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों को (संयम्य) रोक कर (आस्ते) स्थिर होता है वह (मनसा, इन्द्रियार्थान्) मन से इन्द्रियों के अर्थों को (स्मरन्) स्मरण करता हुआ (विमूढात्मा) मोह से मूढ़ आत्मा (मिथ्याचारः, सः, उच्यते) मिथ्या आचार वाला कहाजाता है, इससे पायागया कि कर्मों का करना आवश्यक है, क्योंकि शरीरधारी कदापि निष्कर्मी नहीं होसक्ता ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

पद०-यः । तु । इन्द्रियाणि । मनसा । नियम्य । आरभते । अर्जुन । कर्मेन्द्रियैः । कर्मयोगं । असक्तः । सः । विशिष्यते ॥

पदा०-हे अर्जुन ! (यः, तु) जो तो (इन्द्रियाणि, मनसा, नियम्य) इन्द्रियों को मन से रोककर (असक्तः) कर्मों के बन्धन को प्राप्त न होता हुआ (कर्मेन्द्रियैः, कर्मयोगं, आरभते) कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आरम्भ करता है (सः, विशिष्यते) वह सब से विशेष गिना जाता है ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

पद०-नियतं । कुरु । कर्म । त्वं । कर्म । ज्यायः । हि । अकर्मणः । शरीरयात्रा । अपि । च । ते । न । प्रसिध्येत् । अकर्मणः ॥

पदा०-(त्वं) तुम (हि) निश्चयकरके (नियतं, कुरु, कर्म) कर्मों

को नियमपूर्वक करो (अकर्मणः) कर्म न करने से (कर्म, ज्यायः) कर्म करना श्रेष्ठ है (च) क्योंकि (ते, अकर्मणः, शरीरयात्रा, अपि) कर्म न करने से तेरी शरीरयात्रा भी (न, प्रसिध्येत्) सिद्ध न होगी ॥

भाष्य–कर्मयोग को ज्ञाननिष्ठा से अधिक बोधन करने के लिये यह कथन किया गया है कि यदि सब कर्म छोड़कर केवल ज्ञाननिष्ठा ही श्रेष्ठ होती तो उसी से मनुष्य की शरीरयात्रा भी सिद्ध होजाती पर ऐसा नहीं होता, इसलिये कर्मों का करना आवश्यक है, और बात यह है कि कर्म बन्धन का हेतु यज्ञादि कर्मों से अन्यत्र होते हैं और जो यज्ञार्थ कर्म किये जाते हैं वह बन्धन का हेतु नहीं होते, इसी भाव को आगे कथन करते हैं कि :—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

पद०–यज्ञार्थात् । कर्मणः । अन्यत्र । लोकः । अयं । कर्मबन्धनः । तदर्थं । कर्म । कौन्तेय । मुक्तसङ्गः । समाचर ॥

पदा०–(यज्ञार्थात्, कर्मणः) यज्ञ के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं उनसे (अन्यत्र) भिन्न (अयं, लोकः) यह कर्मों का अधिकारी जनसमुदाय (कर्मबन्धनः) कर्मों के बन्धनवाला होता है (कौन्तेय) हे अर्जुन ! (तदर्थं) यज्ञ के अर्थ (मुक्तसङ्गः) कर्मों का सङ्ग छोड़कर (कर्म, समाचर) निष्कामकर्म कर ॥

सं०–अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

पद०–सहयज्ञाः । प्रजाः । सृष्ट्वा । पुरा । उवाच । प्रजापतिः । अनेन । प्रसविष्यध्वं । एषः । वः । अस्तु । इष्टकामधुक् ॥

पदा०–(सहयज्ञाः) यज्ञ के साथ (प्रजाः, सृष्ट्वा) प्रजा को रचकर (पुरा) पूर्वकाल में (प्रजापतिः, उवाच) प्रजापति बोला (अनेन) इस यज्ञ से (प्रसविष्यध्वं) तुम बढ़ो=फैलो (एषः) यह यज्ञ (वः) तुमको (इष्टकामधुक्) इष्ट कामनाओं के देने वाला हो ॥

भाष्य—प्रजापति से आशय यहां ईश्वर का है, जब ईश्वर ने सृष्टि रची तो यज्ञ के साथ रची और उस सृष्टि को रचकर यह कहा कि तुम इस यज्ञ से बढ़ो, यह कहना उपचार से है जिसका आशय उसकी आज्ञा पालन का है, जैसाकि :—

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मइध्मः शरद्धविः ॥

यजु० ३१ । १४

अर्थ—जब परमात्मा के साथ देवताओं ने यज्ञ किया तब वसन्त उस यज्ञ का आज्य, ग्रीष्म इन्धन=जलाने का साधन और शरदकाल हवि था, जैसे प्रकृतिरूपी यज्ञ की सामग्री यहां उपचार से वर्णन कीगई है इसी प्रकार गीता में सृष्टि के साथ यज्ञ को उत्पन्न करना उपचार से वर्णन किया है, जो मुख्य न हो उसको "उपचार" कहते हैं अर्थात् अलंकार के अर्थ उपचार के हैं, जैसाकि नदी के बढ़ने से कहा जाता है कि नदी डुबाना चाहती है, यहां इच्छा करना जड़ नदी में नहीं है केवल अलङ्कार से ऐसा कहागया है, इसी का नाम "उपचार" है ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

पद०—देवान् । भावयत् । अनेन । ते । देवाः । भावयन्तु । वः । परस्परं । भावयन्तः । श्रेयः । परं । अवाप्स्यथ ॥

पदा०—(अनेन) इस यज्ञ से (देवान्) विद्वानों को (भावयत्) बढ़ाओ और (ते, देवाः) वे विद्वान् (वः) तुमको (भावयन्तु) बढ़ावें (परस्परं, भावयन्तः) इस प्रकार एक दूसरे को बढ़ाते हुए (श्रेयः, परं, अवाप्स्यथ) परमश्रेय=कल्याण को प्राप्त होगे ॥

भाष्य—"दीव्यतीति देवः" इस व्युत्पत्ति से "देव" शब्द के अर्थ यहां विद्वान् तथा आचार्य्य आदिकों के हैं, जैसाकि "आचार्य्यदेवो भव" इत्यादि वाक्यों में पाया जाता है, किसी सूर्य्यादि जड़ देव अथवा अप्रसिद्ध इन्द्रादि देवों के नहीं, क्योंकि इसमें यह कथन किया गया

हैं कि यज्ञ से तुम देवों को वढ़ाओ और देव प्रसन्न हुए तुमको वढावें, यह कथन इस बात को सिद्ध करता है कि यज्ञ से तुम आचार्य्यादि विद्वान् देवों की प्रसन्नता उपलब्ध करो और वह प्रसन्न होकर तुमको वढ़ावें, एवंविध परस्पर की सहायता से यहां देव शब्द से विद्वानों का ही तात्पर्य्य है, स्वा० शङ्कराचार्य्यादि भाष्यकारों ने यहां अप्रसिद्ध इन्द्रादि देव लिये हैं जो सङ्गत प्रतीत नहीं होते, क्योंकि इन श्लोकों में देवऋण चुका देने का प्रकार कथन किया गया है ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यंते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

पद०—इष्टान् । भोगान् । हि । वः । देवाः । दास्यन्ते । यज्ञभाविताः । तैः । दत्तान् । अप्रदाय । एभ्यः । यः । भुंक्ते । स्तेनः । एव । सः ॥

पदा०—(यज्ञभविताः, देवाः) यज्ञ से प्रसन्न किये हुए देव (वः) तुमको (इष्टान्, भोगान्, हि, दास्यन्ते) निश्चकरके इष्टभोग ही देंगे (तैः, दत्तान्) उनके दिये हुए भोगों को (एभ्यः, अप्रदाय) इनको न देकर (यः, भुंक्ते) जो भोगता है (सः) वह (स्तेनः, एव) चौर ही है ॥

भाष्य—देव=विद्वान् लोग जब यज्ञ से प्रसन्न किये जाते हैं तो इष्ट भोगों को देते हैं अर्थात् विद्वानों की कृपा से ही मनुष्यों को इष्ट भोग मिलते हैं और वह विद्वान् निष्कामकर्मादि यज्ञों से प्रसन्न होते हैं और जो लोग उनकी प्रसन्नता से बिना अर्थात् देवऋण विना चुकाये ही भोग करते हैं वह चौर हैं ॥

यज्ञशिष्टाशिनः संतो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

पद०—यज्ञशिष्टाशिनः । सन्तः । मुच्यन्ते । सर्वकिल्बिषैः । भुञ्जते । ते । तु । अघं । पापाः । ये । पचन्ति । आत्मकारणात् ॥

पदा०—(यज्ञशिष्टाशिनः) यज्ञशेष का भोजन करने वाले (सन्तः) सत्पुरुष (सर्वकिल्बिषैः, मुच्यन्ते) सब पापों से छूट जाते हैं (ते, पापाः) वह पापी लोग (अघं, भुञ्जते) पाप का भोजन करते हैं (ये, पचन्ति, आत्मकारणात्) जो अपने ही लिये पकाते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में जो लोग देवऋण नहीं उतारते उनको पापी कथन किया गया है अर्थात् जो केवल अपने लिये ही द्रव्योपार्जन करते और देव=विद्वानों की सेवा नहीं करते वह पाप का अन्न खाते हैं, इससे स्पष्ट पाया जाता है कि उक्त श्लोक देवऋण चुकाने का वर्णन करते हैं, यदि पौराणिक इन्द्रादि देवों का इनमें कथन होता तो यज्ञ का शेष भोजन करने से क्या तात्पर्य्य ? हमारे मत में तो यज्ञशेष के अर्थ यह हैं कि विद्वानों को भोजन कराने के पश्चात् जो शेष बच जाता है उसका नाम "यज्ञशेष" है ॥

सं०—अब यज्ञ का महत्व वर्णन करते हैं:—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

पद०—अन्नात् । भवन्ति । भूतानि । पर्जन्यात् । अन्नसंभवः । यज्ञात् । भवति । पर्जन्यः । यज्ञः । कर्मसमुद्भवः ॥

पदा०—(अन्नात्) अन्न से (भूतानि, भवन्ति) भूत=प्राणी होते (पर्जन्यात्, अन्नसंभवः) मेघों से अन्न उत्पन्न होता (यज्ञात्, भवति, पर्जन्यः) यज्ञ से पर्जन्य=मेघ होते और (यज्ञः) यज्ञ (कर्मसमुद्भवः) कर्म से उत्पन्न होता है ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

पद०—कर्म । ब्रह्मोद्भवं । विद्धि । ब्रह्म । अक्षरसमुद्भवं । तस्मात् । सर्वगतं । ब्रह्म । नित्यं । यज्ञे । प्रतिष्ठितं ॥

पदा०—(कर्म, ब्रह्मोद्भवं, विद्धि) कर्म को ब्रह्म=वेद से उत्पन्न हुआ जानो और (ब्रह्म) वेद (अक्षरसमुद्भवं) अक्षर=परमात्मा से उत्पन्न हुआ है (तस्मात्) इसलिये (सर्वगतं, ब्रह्म) सब वैदिककर्मों में उपयोगी होने से वेद (नित्यं, यज्ञे, प्रतिष्ठितं) नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित माना जाता है ॥

भाष्य—"ब्रह्म" शब्द के अर्थ यहां वेद के हैं, और स्वामी शं० चा० आदि सब आचार्य्य वेद ही करते हैं और उसको यज्ञ में प्रतिष्ठित

इसलिये माना गया है कि यज्ञ वैदिक मन्त्रों से विना नहीं होसक्ता ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

पद०—एवं । प्रवर्तितं । चक्रं । न । अनुवर्त्तयति । इह । यः । अघायुः । इन्द्रियारामः । मोघं । पार्थ । सः । जीवति ॥

पदा०—हे पार्थ ! (एवं, प्रवर्तितं, चक्रं) इस प्रकार उक्त चक्र के प्रवृत्त होने पर (इह) इस संसार में (यः) जो (न, अनुवर्त्तयति) उसके अनुकूल वर्ताव नहीं करता वह (अघायुः) पापरूपी जीवन वाला है और (इन्द्रियारामः) इन्द्रियों में है आराम=रमण जिसका (सः) वह (मोघं, जीवति) वृथा जीता है ॥

भाष्य—इस संसारचक्र से तात्पर्य्य यह है कि परमात्मा से उत्पत्ति वाला जो वेद है उससे कर्म उत्पन्न होते उन कर्मों से यज्ञ उत्पन्न होता और यज्ञ से मेघादि उत्पन्न होते हैं अर्थात् शुभकर्मों से अच्छे अदृष्टों द्वारा मेघादिकों की उत्पत्ति होती है उनसे अन्न और अन्न से प्राणी, इस प्रकार यह सम्पूर्ण चक्र परमात्मा की वेदरूप आज्ञा के अधीन है जिसका पालन करना मनुष्यमात्र का कर्तव्य है ॥

सं०—ननु "अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेद ँ सर्वमिति । स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषुलोकेषु कामचारो भवति"

छान्दो० ७ । २५ । २

अर्थ—अब इसके अनन्तर आत्मा का कथन किया जाता है, आत्मा ही अधस्तात्=नीचे, आत्मा ही उपरिष्टात्=ऊपर, आत्मा ही पश्चात्=पीछे, और आत्मा ही पुरस्तात्=आगे है, आत्मा दक्षिण दिशा, आत्मा ही उत्तर दिशा में है, अधिक क्या नीचे ऊपर सर्वत्र आत्मा है, इस प्रकार देखता हुआ, इस प्रकार मानता हुआ, इस प्रकार जानता हुआ, आत्मा

में रति=प्रीतिवाला, आत्मा में क्रीडावाला, आत्मा में योगवाला, आत्मा में आनन्दवाला पुरुष स्वराड्=स्वयं राजा होजाता और सब लोकों में स्वेच्छाचारी होकर विचरता है अर्थात् सब दशाओं में और सब स्थानों में वह स्वतन्त्र होता है, ऐसे पुरुष के लिये पूर्वोक्त यज्ञ का चक्र कर्तव्य है वा नहीं ? उत्तरः—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्यकार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

पद०—यः । तु । आत्मरतिः । एव । स्यात् । आत्मतृप्तः । मानवः । आत्मनि । एव । च । सन्तुष्टः । तस्य । कार्य्यं । न । विद्यते ॥

पदा०—"तु" शब्द सन्देह की निवृत्ति के लिये आया है कि (यः, तु) जो पुरुष (आत्मरतिः, एव) आत्मा में रति=प्रीति वाला है (च) और (आत्मतृप्तः) आत्मा में तृप्त (स्यात्) है (च) और (यः, मानवः) जो मनुष्य (आत्मनि, एव, च, सन्तुष्टः) आत्मा में ही सन्तुष्ट है (तस्य, कार्य्यं, न, विद्यते) उसके लिये साधनरूप कर्म की आवश्यकता नहीं ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

पद०—न । एव । तस्य । कृतेन । अर्थः । न । अकृतेन । इह । कश्चन । न । च । अस्य । सर्वभूतेषु । कश्चित् । अर्थव्यपाश्रयः ॥

पदा०—(तस्य) उस परमात्मा में रति वाले पुरुष का (कृतेन) कार्य्य के साथ (अर्थः) प्रयोजन (न, एव) नहीं है और ना ही उसको (कश्चन) कोई (अकृतेन) कर्म के अभाव होने से प्रत्यवायरूप दोष होता है (न, च) और न (अस्य) इसको (सर्वभूतेषु) सब भूतों में (कश्चित्) कोई (अर्थव्यपाश्रयः) अर्थ वाला प्रयोजन होता है ॥

भाष्य—आत्मरति वाला पुरुष साधनों से पार होकर साध्यरूप परमात्मा के साथ तद्धर्मतापत्तिरूप योग को प्राप्त होजाता है, इसलिये उसको साधनभूतकर्म की आवश्यकता नहीं रहती, जो वह कर्म करता है निष्कामकर्म करता है, निष्कामकर्म के अभिप्राय से ही कर्म का प्रयोजन न रखने वाले उक्त दो श्लोक लिखे हैं, और यह आगे का श्लोक इस बात को

स्पष्ट वर्णन करता है कि आत्मरति वाले पुरुष को निष्कामकर्म करने चाहियें, जैसाकिः—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १६ ॥

पद०—तस्मात् । असक्तः । सततं । कार्यं । कर्म । समाचर । असक्तः । हि । आचरन् । कर्म । परं । आप्नोति । पूरुषः ॥

पदा०-(तस्मात्) इसलिये (असक्तः) संग को छोड़कर (सततं) निरन्तर (कार्यं, कर्म) कर्तव्य कर्म (समाचर) भलेप्रकार कर (असक्तः) संग को छोड़कर कर्म करनेवाला (पूरुषः) पुरुष (हि) निश्चयकरके (कर्म, आचरन्) कर्म को करता हुआ (परं, आप्नोति) परब्रह्म को प्राप्त होता है ॥

सं०-ननु, "व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे" इस द्वितीय श्लोक में जो यह प्रश्न किया था कि तुम कहीं कर्मों को श्रेष्ठ कहते और कहीं निष्कर्मता को श्रेष्ठ कहते हो, ऐसे मिले हुए वाक्यों से मेरी बुद्धि को मोह करते हो और ऐसा ही इस स्थान में आकर किया जो कर्मों को अवश्य कर्तव्य कथन करके फिर यह कहा कि "यस्त्वात्मरतिरेवस्यात"=आत्मरति वाले पुरुष को कर्म की आवश्यकता नहीं, और फिर आगे जाकर कहा कि निष्कामकर्म करने वाला पुरुष परब्रह्म को प्राप्त होता है ? इसका उत्तर यह है कि "तस्य कार्यं न विद्यते" इत्यादि श्लोकों में जो निष्कामकर्म के अभिप्राय से कर्मों का अभाव कथन किया गया है वहां वास्तव में कर्मों का त्याग अभिप्रेत नहीं, इसी अभिप्राय से कहा है किः—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

पद०--कर्मणा । एव । हि । संसिद्धिं । आस्थिताः । जनकादयः । लोकसंग्रहं । एव । अपि । संपश्यन् । कर्तुं । अर्हसि ॥

पदा०-(जनकादयः) जनकादि (कर्मणा, एव) कर्मों से ही (संसिद्धिं)

सिद्धि को (आस्थिताः) प्राप्त हुए हैं (लोकसंग्रहं, एव, अपि) लोक-संग्रह को भी (संपश्यन्) देखकर (कर्तुं, अर्हसि) तुम कर्म करने योग्य हो॥

भाष्य–"तस्य कार्यं न विद्यते" इत्यादि श्लोकों में जो निष्कर्म संन्यास का सन्देह उत्पन्न हुआ था उसकी निवृत्ति के लिये "कर्मणैव-हिसंसिद्धिमास्थिताजनकादयः" इत्यादि श्लोकों में कर्मों की अवश्य-कर्तव्यता प्रतिपादन की है, शङ्करमत में यह श्लोक इसलिये नहीं घटसकते कि उनके मत में मोक्षरूपी अर्थ की सिद्धि के लिये केवलज्ञान ही अपेक्षित हैं कर्म नहीं, स्वामी शं० चा० के शिष्य मधुसूदन स्वामी ने इस श्लोक को इस प्रकार लगाया है कि जनकादि क्षत्रिय थे वह केवल कर्म से ही सिद्धि को प्राप्त होसक्ते थे, इसलिये "कर्मणैवहिसंसिद्धिमास्थिताजनकादयः" कहा है, इनके मत में वैश्य और क्षत्रिय के लिये संन्यास का अधिकार नहीं, संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही है, इस अभिप्राय से यहां ब्राह्मण से इतर वर्णों को कर्म की अवश्यकर्तव्यता वर्णन की है, पर इनकी यह पौराणिक कल्पना गीता के अर्थ में सङ्गत प्रतीत नहीं होती, यदि जनक के क्षत्रिय होने के अभिप्राय से ही यहां कर्मों की अवश्य कर्त्त-व्यता प्रतिपादन कीजाती तो आगे "यद्यदाचरति श्रेष्ठः" इस २१वें श्लोक में श्रेष्ठ पुरुषों के लिये कर्मों की अवश्यकर्त्तव्यता न वतलाई जाती और नाही "न मे पार्थास्तिकर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन" इस २२ वें श्लोक में कृष्णजी कर्मों की अवश्यकर्तव्यता अपने लिये वर्णन करते अधिक क्या, यह सारा अध्याय कर्मों की अवश्यकर्तव्यता का भरा हुआ है, फिर यह क्षत्रियादिकों को संन्यासाधिकार से निकालकर निष्कर्मसंन्यास गीता से कैसे सिद्ध करसक्ते हैं और यदि ऐसा ही होता तो अर्जुन तो क्षत्रिय था उसको संन्यास का उपदेश क्यों किया जाता, सच तो यह है कि यह आधुनिक वेदान्तियों का निष्कर्मप्रधानसंन्यास गीता के समय में न था, इसलिये इन का यह संन्यासविषयकानिष्कर्मता का व्या-ख्यान निष्फल है ॥

सं०–हमारे मत में "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" इस श्लोक की निम्नलिखित श्लोक के साथ सङ्गति इस प्रकार है कि

श्रेष्ठों को देखकर ही अन्य लोग कर्म करते हैं, इसलिये कर्म प्रत्येक पुरुष के लिये अवश्यकर्तव्य हैं:—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥ २१ ॥

पद०—यत् । यत् । आचरति । श्रेष्ठः । तत् । तत् । एव । इतरः । जनः । सः । यत् । प्रमाणं । कुरुते । लोकः । तत् । अनुवर्त्तते ॥

पदा०—(श्रेष्ठः) श्रेष्ठ पुरुष (यत्, यत्, आचरति) जो २ आचरण करते हैं (इतरः, जनः) अन्य पुरुष भी (तत्, तत्) उसीका अनुकरण करते हैं, अर्थात् वैसा ही करते हैं (सः) वह श्रेष्ठ पुरुष (यत्, प्रमाणं, कुरुते) जिसको प्रमाण करते हैं (लोकः) मनुष्य (तत्, अनुवर्त्तते) उसी का अनुवर्त्तन करते अर्थात् उसके पीछे चलते हैं ॥

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

पद०—न । मे । पार्थ । अस्ति । कर्त्तव्यं । त्रिषु । लोकेषु । किंचन । न । अनवाप्तं । अवाप्तव्यं । वर्ते । एव । च । कर्मणि ।

पदा०—(पार्थ) हे अर्जुन ! (मे) मुझको (त्रिषु, लोकेषु) तीनों लोकों में (किंचन, कर्त्तव्यं, न, अस्ति) कोई कर्त्तव्य नहीं है (अनवाप्तं) जो वस्तु प्राप्त न हो ऐसी कोई वस्तु (अवाप्तव्यं) प्राप्त करने योग्य नहीं (वर्ते, एव, च, कर्मणि) फिर भी मैं कर्मों में अवश्य वर्त्तता हूं अर्थात् कर्म करता हूं ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

पद०—यदि । हि । अहं । न । वर्तेयं । जातु । कर्मणि । अतन्द्रितः । मम । वर्त्म । अनुवर्त्तन्ते । मनुष्याः । पार्थ । सर्वशः ॥

पदा०—(जातु) कदाचित् (कर्मणि अतन्द्रितः, अहं) कर्मों में निरालस मैं यदि (कर्मणि, न, वर्त्तेयं) कर्मों में न प्रवृत्त होऊं तो हे पार्थ! (मनुष्याः, सर्वशः) सब मनुष्य (मम, वर्त्म, अनुवर्त्तन्ते) मेरे ही मार्ग का अनुवर्त्तन=अनुकरण करेंगे, इसलिये मुझको कर्मों का अनुष्ठान अवश्य कर्त्तव्य है ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

पद०—उत्सीदेयुः । इमे । लोकाः । न । कुर्यां । कर्म । चेत् । अहं । संकरस्य । च । कर्त्ता । स्यां । उपहन्यां । इमाः । प्रजाः ॥

पदा०—(चेत्) यदि (अहं, कर्म, न, कुर्यां) मैं कर्म न करूं तो (इमे, लोकाः, उत्सीदेयुः) यह लोक नाश होजावेंगे (च) और मैं (संकरस्य) वर्णसंकरधर्म का (कर्त्ता, स्यां) कर्त्ता होकर (इमाः, प्रजाः, उपहन्यां) इस प्रजा का नाश करूंगा ॥

भाष्य—कृष्णजी का यह कथन इस अभिप्राय से है कि यद्यपि मैं योगसिद्धि को प्राप्त होने के कारण अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों मार्ग मुझे प्राप्त हैं, इसलिये मुझे कोई कर्त्तव्य नहीं पर तब भी मैं कर्मों को इसलिये करता हूं कि लोकमर्यादा की स्थिरता बनी रहे, इस कथन से कृष्ण जी ने यह सिद्ध किया है कि कोई पुरुष कैसी ही सिद्धि को प्राप्त क्यों न हो पर यावदायुष उसके लिये कर्म अवश्य करने चाहियें ॥

सं०—ननु, जब विद्वान् और अविद्वान् को एक जैसे ही कर्म कर्तव्य हैं तो विद्वान् की क्या विशेषता है ? उत्तरः—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथा सक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

पद०—सक्ताः । कर्मणि । अविद्वांसः । यथा । कुर्वन्ति । भारत । कुर्यात् । विद्वान् । तथा । असक्तः । चिकीर्षुः । लोकसंग्रहम् ॥

पदा०—हे भारत ! (कर्मणि, सक्ताः, अविद्वांसः) कर्मों में आसक्त हुए अविद्वान् पुरुष (यथा, कुर्वन्ति) जैसे कर्म करते हैं (विद्वान्, तथा, असक्तः, कुर्यात्) विद्वान् उसी प्रकार कर्मों में असक्त होकर निष्कामता से कर्म करे, वह कैसा विद्वान् है जो (लोकसंग्रहं, चिकीर्षुः) लोकसंग्रह की इच्छा वाला अर्थात् लोगों की शुभकर्मों में प्रवृत्ति कराने वाला है ॥

भाष्य—यदि आधुनिक वेदान्तियों के आशय अनुसार क्षत्रिय वैश्यादिकों को कर्म करने आवश्यक होते और संन्यासी ब्राह्मण के लिये आवश्यक न होते तो इस श्लोक में विद्वान् तथा अविद्वान् का भेद न किया जाता, इस भेद

से पाया जाता है कि कर्म वर्णचतुष्टय को कर्त्तव्य हैं, केवल भेद इतना है कि अविद्वान् कर्मों में आसक्त होकर करता और विद्वान् निष्कामतासे करता है ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

पद०—न । बुद्धिभेदं । जनयेत् । अज्ञानां । कर्मसङ्गिनां । जोषयेत् । सर्वकर्माणि । विद्वान् । युक्तः । समाचरन् ॥

पदा०—(कर्मसङ्गिनां, अज्ञानां) कर्मसङ्गी जो अज्ञानी हैं उन के लिये (बुद्धिभेदं) बुद्धि का भेद (न, जनयेत्) उत्पन्न न करे (युक्तः, विद्वान्) युक्त विद्वान् (समाचरन्) अच्छा आचार करता हुआ उनको (सर्वकर्माणि, जोषयेत्) सब कर्मों में लगावे ॥

भाष्य—अद्वैतवादी इसका यह भाष्य करते हैं कि जिसने जीव ब्रह्म की एकता को ठीक २ नहीं समझा ऐसे अज्ञानी पुरुष जो कर्मों में लगे हुए हैं उनको ब्रह्म बनाकर बुद्धिभेद न करे, जैसाकि मधुसूदन स्वा० ने लिखा है कि:—

अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् ।
महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः ॥

अर्थ—जो आधे जागे हुए अज्ञानी को "सब कुछ ब्रह्म है" यह उपदेश करता है, ऐसे उपदेशों से वह उपदेष्टा को महानरक के जालों में जोड़ता है, यदि यह श्लोक इसी आशय को वर्णन करता तो जीव ब्रह्म को एक समझकर पूरे जागे हुए को गीता शास्त्र में ऐसा उपदेश अवश्य होता जिसमें जीव ब्रह्म की एकता समझनेवाले पुरुष के लिये कोई कर्त्तव्य न होता, पर ऐसा उपदेश कहीं नहीं पाया जाता किन्तु कर्मों का उपदेश प्रत्येक पुरुष के लिये अवश्य पाया जाता है ॥

और यदि जीव ब्रह्म की एकता को पूर्ण समझने वाले के लिये कोई कर्तव्य नहीं तो आधुनिक वेदान्तियों में जो जीव ब्रह्म की एकता समझने वाले हैं वह शरीरयात्रा के लिये कर्म क्यों करते हैं, यदि शरीरयात्रार्थ उनको कर्म आवश्यक हैं तो वैदिकयज्ञादिकर्मों में क्या दोष ? इत्यादि तर्कों से पाया जाता है कि इस श्लोक के अर्थ जीव ब्रह्म की एकता को न

समझने वाले अज्ञानियों के नहीं किन्तु ज्ञानयोग को न समझने वाले केवल कर्मयोगी के लिये हैं अर्थात् जो ज्ञानयोग के मर्म को नहीं समझता और कर्मों में लगा हुआ है उसको ज्ञान की ऊंची नीची बातें सुनाकर बुद्धिभेद उत्पन्न न करे, किन्तु जो असत्कर्मों में लगे हुए हैं अर्थात् वेद विरुद्ध कर्मों में रत हैं उनके लिये बुद्धिभेद करना आवश्यक है, यदि ऐसा न होता तो कृष्णजी मरने से डरने वाले अर्जुन को बुद्धिभेद करके "नैनं छिन्दन्तिशस्त्राणि" इस सचाई का उपदेश क्यों करते? क्योंकि मिथ्याबुद्धि से हटाने के लिये सत्यबुद्धि का उपदेश अवश्य करना पड़ता है॥

स्वामी रामानुज ने भी इस श्लोक का यही आशय वर्णन किया है कि "कर्मयोगाधिकारिणां कर्मयोगान्यथात्मावलोकनमस्तीति न बुद्धिभेदं जनयेत् किं तर्हि आत्मनिकृत्स्नवित्तयाज्ञानयोगशक्तोऽपि पूर्वोक्त रीत्या कर्मयोग एव ज्ञानयोगानिरपेक्ष आत्मावलोकनसाधनमिति बुध्या युक्तः कर्मैवाचरन् सर्वकर्म स्वकृत्स्नविदांप्रीतिंजनयेत्" = जो लोग कर्मयोग के अधिकारी हैं उनको कर्मयोग से अन्यथा आत्मा का अवलोकन है, इस प्रकार का बुद्धि भेद न उत्पन्न करे किन्तु आत्मा को पूर्ण रीति से जानता हुआ ज्ञानयोग में पूर्ण पुरुष यह उपदेश करे कि आत्मावलोकन का साधन कर्मयोग है, इस प्रकार कर्मों में सब लोगों की प्रीति उत्पन्न करे॥

सं०—ननु, जब अज्ञानी को ज्ञानोपदेश करने से बुद्धिभेद होजाता है तो ज्ञानी की कर्म में श्रद्धा कैसे रहसक्ती है? उत्तरः—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥२७॥

पद०—प्रकृतेः। क्रियमाणानि। गुणैः। कर्माणि। सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा। कर्ता। अहं। इति। मन्यते॥

पदा०—(प्रकृतेः, गुणैः) प्रकृति के गुणों से (सर्वशः, कर्माणि) सब कर्म

(क्रियमाणानि) किये जाते हैं (अहंकारविमूढात्मा) अहंकार से मोह को प्राप्त है आत्मा जिसका वह (अहं, कर्ता) मैं करता हूं (इति, मन्यते) ऐसा मानता है ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

पद०–तत्त्ववित् । तु । महाबाहो । गुणकर्मविभागयोः । गुणाः । गुणेषु । वर्तन्ते । इति । मत्वा । न । सज्जते ॥

पदा०–हे महाबाहो ! (गुणकर्मविभागयोः,तत्त्ववित्) गुण कर्म के विभाग में जो तत्त्ववेत्ता हैं वह (गुणाः, गुणेषु, वर्तन्ते) गुण गुणों में वर्तते हैं (इति, मत्वा) ऐसा मानकर (न, सज्जते) संग को प्राप्त नहीं होता ॥

भाष्य–ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में प्रकृति के सत्व, रज, तम आदि गुणों से कर्मों में प्रवृत्ति होती है इसलिये उसकी दृष्टि में ज्ञान होकर भी प्रकृति के गुणों द्वारा कर्मों में प्रवृत्त होना बन्धन का हेतु नहीं, कर्मबन्धन का हेतु तो उन्हीं पुरुषों के लिये है जो गुण कर्म के विभाग को नहीं जानते और प्रकृति के गुणों से मोह को प्राप्त हुए रहते हैं, जैसाकि आगे के श्लोक में वर्णन किया है कि:—

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मंदान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

पद०–प्रकृतेः । गुणसंमूढाः । सज्जन्ते । गुणकर्मसु । तान् । अकृत्स्नविदः । मन्दान् । कृत्स्नवित् । न । विचालयेत् ॥

पदा०–(प्रकृतेः, गुणसंमूढाः) प्रकृति के गुणों से जो मोह को प्राप्त है वह (गुणकर्मसु) गुणकर्म में (सज्जन्ते) संग को प्राप्त होते हैं (तान्, अकृत्स्नविदः) उन अज्ञानियों और (मन्दान्) मन्द बुद्धि वालों को (कृत्स्नवित्) पूर्णज्ञानी (न, विचालयेत्) चलायमान न करे ॥

भाष्य–जो लोग क्षात्रधर्म को मानते हुए सकामकर्मता से यह मानते हैं कि मरने के अनन्तर हमको स्वर्ग मिलेगा, एवंविध कर्मों में आसक्ति वाले

लोगों का निष्कामकर्म करने वाला विज्ञानी पुरुष बुद्धिभेद न करे अर्थात् यह न कहने लगजाय कि तुम जो स्वर्ग की कामना से अमुक कर्म करते हो यह ठीक नहीं, ऐसा बुद्धिभेद करना उन कर्म के संगी लोगों के लिये अनुपकारी है ॥

सं०—अब विज्ञानी के लिये कर्म करने में जो विशेषता है वह निम्नलिखित श्लोक में प्रतिपादन करते हैं:—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

पद०—मयि । सर्वाणि । कर्माणि । संन्यस्य । अध्यात्मचेतसा । निराशीः । निर्ममः । भूत्वा । युध्यस्व । विगतज्वरः ॥

पदा०—(अध्यात्मचेतसा, सर्वाणि, कर्माणि, मयि, संन्यस्य) भीतर के दिल से सब कर्मों को मेरे में रखकर (निराशीः) निष्काम (निर्ममः) देह पुत्र भाई आदिकों में ममताशून्य और (विगतज्वरः) शोक रहित होकर (युध्यस्व) युद्ध कर ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह उपदेश किया गया है कि ईश्वरार्पण कर्म करे, इसी अभिप्राय से अस्मच्छब्द का प्रयोग यहां "मयि" आया है, मयि से तात्पर्य्य कृष्णजी का यहां अपने से नहीं किन्तु ईश्वर से है और कृष्ण जी ने तद्धर्मतापत्ति के अभिप्राय से यह अस्मच्छब्द का प्रयोग किया है अर्थात् कृष्णजी को परमात्मभक्ति से उसके अपहतपाप्मादि गुण प्राप्त थे, इसलिये उन्होंने अहंभाव द्वारा परमात्मा की ओर से कहा है ॥

इसका विस्तार हम चतुर्थाध्याय के "यदायदा हि धर्मस्य" इत्यादि श्लोकों में करेंगे, यहां इतना ही अपेक्षित था कि ईश्वरार्पण करके जो कर्म किये जाते हैं वह कर्म निष्कामकर्म कहलाते हैं ।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावंतोऽनसूयंतो मुच्यंते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

पद०—ये । मे । मतं । इदं । नित्यं । अनुतिष्ठन्ति । मानवाः । श्रद्धावन्तः । अनसूयन्तः । मुच्यन्ते । ते । अपि । कर्मभिः ॥

पदा०—(ये, मानवाः) जो पुरुष (मे, इदं, मतं) मेरे इस मत का

(नित्यं, अनुतिष्ठन्ति) नित्य अनुष्ठान करते हैं वह (श्रद्धावन्तः) श्रद्धा वाले और (अनुसूयन्तः) अनिन्दक हैं (ते, अपि, कर्मभिः, मुच्यन्ते) वह भी कर्मों से छूट जाते हैं ॥

ये त्वेतदभ्यसूयंतो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

पद०—ये । तु । एतत् । अभ्यसूयन्तः । न । अनुतिष्ठन्ति । मे । मतं । सर्वज्ञानविमूढान् । तान् । विद्धि । नष्टान् । अचेतसः ॥

पदा०—(ये, तु) जो तो (एतत्, अभ्यसूयन्तः) इसकी निन्दा करते हुए (मे, मतं, न, अनुतिष्ठन्ति) मेरे मत का अनुष्ठान नहीं करते और (सर्वज्ञानविमूढान्) सर्वविषयक ज्ञान अर्थात् सकामकर्म, निष्कामकर्म, सगुण, निर्गुण इत्यादि विषयों में जो विमूढ हैं (तान्, अचेतसः) उन दुष्ट चित्तवालों को (नष्टान्) नष्ट (विद्धि) जानो ॥

भाष्य—उक्त श्लोक में कृष्णजी ने इस भाव को वर्णन किया है कि अज्ञानी लोग कर्म की फिलासफी को न समझकर कर्मों में लगते हैं उनको भी उस शुभकर्तव्य से हटाना नहीं चाहिये और ज्ञानी लोग प्रकृति के गुण कर्मों का तत्व समझते हुए कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और कर्मों को ईश्वरार्पण करके निष्कामता से करते हैं, एवंविधि कर्मों को कृष्णजी ने अपना मत कहा है, वास्तव में यह वैदिकमत है जो यावदायुष कर्त्तव्य समझकर कर्मों को करना है, जैसाकिः—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवंत्वयिनान्यथेतोऽस्ति न कर्मलिप्यते नरे ॥ यजु० ४०।२

अर्थ—निष्कामकर्म करता हुआ सौ वर्ष जीने की इच्छा करे, इस प्रकार तुम्हें कर्म बन्धन में नहीं डालेंगे, इससे अन्य प्रकार कर्मों के बन्धन से बचने का नहीं, इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया गया है ॥

सं०—ननु, फिर लोग ईश्वरार्पण=ईश्वर आश्रित होकर अपने कर्त्तव्य कर्मों को क्यों नहीं करते ? उत्तरः—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

पद०—सदृशं । चेष्टते । स्वस्याः । प्रकृतेः । ज्ञानवान् । अपि । प्रकृतिं । यान्ति । भूतानि । निग्रहः । किं । करिष्यति ।

पदा०—(ज्ञानवान्, अपि) ज्ञानवान् पुरुष भी (स्वस्याः, प्रकृतेः) अपनी प्रकृति के (सदृशं, चेष्टते) सदृश ही चेष्टा करता है, प्रकृति के अर्थ यहां पूर्वजन्मकृत धर्माधर्म से जो स्वभाव बनता है उसके हैं, ज्ञानी पुरुष भी उस स्वभाव के अनुकूल ही कर्मों को करता है, इसलिये (भूतानि) सब प्राणी (प्रकृतिं, यान्ति) उस अपने स्वभाव को ही प्राप्त होते हैं (निग्रहः, किं, करिष्यति) निग्रह क्या करसक्ता है अर्थात् शम दम सम्पन्न होकर कृष्णजी के उक्त मत के अनुकुल कर्म तभी होसक्ते हैं जब मनुष्य की प्रकृति शुद्ध हो ॥

सं०—ननु, जब अपनी प्रकृति के अनुकूल ही कर्म किये जाते हैं तो मनुष्य का क्या दोष ? उत्तरः—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥ ३४ ॥

पद०—इन्द्रियस्य । इन्द्रियस्य । अर्थे । रागद्वेषौ । व्यवस्थितौ । तयोः । न । वशं । आगच्छेत् । तौ । हि । अस्य । परिपन्थिनौ ॥

पदा०—(इन्द्रियस्य, इन्द्रियस्य, अर्थे) एक २ इन्द्रिय के अर्थ में (रागद्वेषौ, व्यवस्थितौ) राग द्वेष वास करते हैं (तयोः, न, वशं, आगच्छेत्) उन दोनों के वश में न आवे (तौ) वह राग द्वेष (हि) निश्चय करके (अस्य) इस जीव के (परिपन्थिनौ) शत्रु हैं अर्थात् उसके कल्याण के मार्ग में विघ्नकर्त्ता होते हैं ॥

भाष्य—यद्यपि स्वस्वभाव द्वारा मनुष्य की कर्मों में प्रवृत्ति होती है तथापि जब वह शास्त्र तथा गुरुद्वारा उपदेश सुनकर रागद्वेष के वश में नहीं आता यही उसकी स्वकर्म करने में स्वतन्त्रता है, प्रायः लोग रागद्वेष के अधीन होकर श्रेष्ठ काम नहीं करसक्ते और जो लोग रागद्वेष के चक्र में नहीं आते वह शुभकर्म करने में स्वतन्त्र होते हैं ॥

सं०—ननु, जब ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुकूल ही चेष्टा करता है तो फिर अर्जुन की प्रकृति के अनुकूल जो युद्ध को छोड़कर भिक्षावृत्ति धर्म था वही श्रेष्ठ है फिर ऐसे क्लिष्ट क्षात्रधर्म से क्या लाभ ? उत्तरः—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

पद०-श्रेयान् । स्वधर्मः । विगुणः । परधर्मात् । स्वनुष्ठितात् । स्वधर्मे । निधनं । श्रेयः । परधर्मः । भयावहः ॥

पदा०-(परधर्मात्, स्वनुष्ठितात्) दूसरे का धर्म भलेप्रकार अनुष्ठान किया गया भी हो उससे (स्वधर्मः) अपना धर्म (विगुणः) विना गुणों वाला भी (श्रेयान्) श्रेष्ठ होता है (स्वधर्मे, निधनं, श्रेयः) अपने धर्म में मरजाना भी श्रेष्ठ है और (परधर्मः) दूसरे का धर्म (भयावहः) भय के देने वाला होता है ॥

भाष्य-स्वधर्म से तात्पर्य्य यहां पूर्वजन्मकृत प्रारब्ध कर्मों से बने हुए स्वभाव का है, जो पुरुष उस स्वभाव का उल्लंघन करके वर्त्तता है वह ठीक नहीं करता जैसाकि अर्जुन ने ही प्रथम कहा था कि इस हिंसारूप युद्धकर्म से भीख मांगकर खा लेना अच्छा है, उसका यह कथन अपने स्वभाव से विपरीत है, क्योंकि उसका स्वभाव क्षत्रिय था और क्षत्रिय को ऐसा करना ठीक नहीं, इस श्लोक ने इस बात को सिद्ध करदिया कि प्रकृति से प्राप्त जो धर्म उसको अतिक्रमण करके जो वर्तते हैं वह सिद्धि को प्राप्त नहीं होते ॥

और जो लोग स्वधर्म के यह अर्थ करते हैं कि जन्म से प्राप्त जो धर्म हैं उन्हीं का यहां ग्रहण है और परधर्म से परजाति के धर्मों का ग्रहण है, यदि इस श्लोक का यह अर्थ होता तो "**सदृशंचेष्टतेस्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि**" इस श्लोक के साथ इसकी सङ्गति न रहती, इसके साथ सङ्गति तभी रहती है जब स्वधर्म के अर्थ अपनी प्रकृति के किये जायं, इस का यह भी आशय है कि प्रकृति से प्राप्त प्रवृत्तिधर्म को छोड़कर जो पराये धर्म की निवृत्ति का ग्रहण करते हैं वह ठीक नहीं करते, इसीलिये स्वामी रामानुज ने इसके यह अर्थ किये हैं कि "**अतः सुशक्तयास्वधर्मभूतः कर्मयोगो विगुणोप्यप्रमादगर्भः**"=स्वधर्मभूत जो कर्मयोग वह विगुण=विना गुण के भी हो तब भी अप्रमादगर्भ=प्रमाद से रहित है अर्थात् उसमें कोई दोष नहीं, इस प्रकार स्वामी रामानुज ने यहां स्वभाव

प्राप्त धर्म के अर्थ स्वधर्म के लिये हैं और प्रकरण भी यहां यही था वर्णाश्रम के धर्मों का यहां प्रकरण नहीं, और जिन लोगों ने इसके अर्थ जातिधर्म के किये हैं वह पौराणिक हैं, गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध हैं, क्योंकि यहां गीता का आशय इस प्रकरण में यह है कि जो लोग प्रकृति से प्राप्त स्वधर्मभूत कर्मयोग को छोड़कर कर्मों से उपराम होजाते हैं वह ठीक नहीं करते, इसलिये कृष्णजी ने कहा है कि "स्वधर्मेनिधनंश्रेयः"=प्रकृति से प्राप्त धर्म में मरजाना भी श्रेष्ठ है और इससे विपरीत कर्मेन्द्रियों को रोककर फिर मन में मानसकर्म करते रहना ठीक नहीं, जैसाकि "मिथ्याचारः स उच्यते" गी०३।६ इस प्रकरण में कर्मयोग के मण्डन में कर्मयोग को छोड़कर मनोरथमात्र वकवृत्ति से निष्कर्मी वन दम्भ का आचार करने वालों के खण्डन में कहागया है ॥

इस प्रकार पूर्वोत्तर विचार करने से यह श्लोक कर्मयोग की दृढ़ता को वर्णन करता है न कि जाति के कर्मों को, और इसीलिये स्वामी शं० चा० ने इसके भाष्य में स्वधर्म के अर्थ जन्म के कर्मों के नहीं किये, जन्म के कर्मों के अर्थ आधुनिक टीकाकारों ने किये हैं जो जन्म से वर्णाश्रम की व्यवस्था मानते हैं, इसलिये इनके यह मिथ्यार्थ गीता और गीता के सनातन भाष्यों से सर्वथा विरुद्ध हैं ॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

पद०—अथ । केन । प्रयुक्तः । अयं । पापं । चरति । पूरुषः । अनिच्छन् । अपि । वार्ष्णेय । वलात् । इव । नियोजितः ॥

पदा०—अथ—इति प्रश्ने (वार्ष्णेय) हे वृष्णीकुलोत्पन्न कृष्ण ! (अयं, पूरुषः) यह पुरुष (अनिच्छन्. अपि) इच्छा न करता हुआ भी (वलात्, नियोजितः, इव) वल से धकेले हुए के समान (केन, प्रयुक्तः) किसकी प्रेरणा से (पापं, चरति) पाप करता है ॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

पद०—कामः । एषः । क्रोधः । एषः । रजोगुणसमुद्भवः । महाशनः । महापाप्मा । विद्धि । एनं । इह । वैरिणम् ॥

पदा०—(कामः, एषः) यह जो काम है (क्रोधः, एषः) क्रोध भी यही है (रजोगुणसमुद्भवः) रजोगुण से समुद्भव=उत्पत्ति है जिसकी, फिर यह कैसा है (महाशनः) बहुत खाने वाला है अर्थात् इसकी भूख कभी भरती ही नहीं, और (महापाप्मा) बड़ा पापी है (विद्धि, एनं, इह, वैरिणं) इसको वैरी समझो, इसी की प्रेरणा से मनुष्य पाप करता है ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

पद०—धूमेन । आव्रियते । वन्हिः । यथा । आदर्शः । मलेन । च । यथा । उल्वेन । आवृतः । गर्भः । तथा । तेन । इदं । आवृतं ॥

पदा०—(धूमेन, आव्रियते, वन्हिः) जिस प्रकार धूम से अग्नि ढकी रहती है, और (यथा, आदर्शः, मलेन) जिसप्रकार दर्पण मल=छाई से ढक जाता (च) और (यथा) जिसप्रकार (उल्वेन) जेर से गर्भ ढका रहता है (तथा) इसी प्रकार (तेन, इदं, आवृतं) उस काम से मनुष्य का ज्ञान ढका रहता है ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

पद०—आवृतं । ज्ञानं । एतेन । ज्ञानिनः । नित्यवैरिणा । कामरूपेण । कौन्तेय । दुष्पूरेण । अनलेन । च ॥

पदा०—हे कौन्तेय ! (ज्ञानिनः, नित्यवैरिणा) ज्ञानियों का नित्य वैरी (एतेन, कामरूपेण) इस काम से (ज्ञानं, आवृतं) ज्ञान ढका हुआ है, फिर यह कैसा है (दुष्पूरेण, अनलेन, च) दु ख से पूर्ण होने वाली आग है अर्थात् जैसे अग्नि लकड़ियों से तृप्त नहीं होती इसी प्रकार यह कामरूपी अग्नि कामनाओं से तृप्त नहीं होती ॥

सं०—अब काम का अधिष्ठान कथन करते हैं:—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

पद०-इन्द्रियाणि । मनः । बुद्धिः । अस्य । अधिष्ठानं । उच्यते । एतैः । विमोहयति । एषः । ज्ञानं । आवृत्य । देहिनं ॥

पदा०-(इन्द्रियाणि) इन्द्रियें (मनः) मन (बुद्धिः) बुद्धि (अस्य) इस काम का (अधिष्ठानं, उच्यते) अधिष्ठान कथन किया गया है अर्थात् इन्द्रिय, मन और बुद्धिरूपी घर में काम रहता है (एतैः) इन तीनों से (ज्ञानं, आवृत्य) ज्ञान को ढककर (एषः) यह (देहिनं) जीवात्मा को (विमोहयति) मोह लेता है ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

पद० तस्मात् । त्वं । इन्द्रियाणि । आदौ । नियम्य । भरतर्षभ । पाप्मानं । प्रजहि । हि । एनं । ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥

पदा०-(भरतर्षभ) हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! (तस्मात्) इसलिये (त्वं) तू (आदौ, इन्द्रियाणि, नियम्य) प्रथम इन्द्रियों को अपने वश में करके (हि) निश्चयपूर्वक (ज्ञानविज्ञाननाशनं) ज्ञान = बाह्य पदार्थों का ज्ञान और विज्ञान = आत्मज्ञान का जो नाश करने वाला यह (पाप्मानं) पापी काम है इसको (प्रजहि) जीत = नाश कर ॥

भाष्य-जिसप्रकार शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये उसके अधिष्ठान = आश्रय जानने की आवश्यकता है, क्योंकि अधिष्ठान के विना जाने शत्रु नहीं जीता जासकता, इसी प्रकार इस काम के अधिष्ठान = स्थान जानने से विना इस पर विजयी होना असम्भव है, अतएव इस पर विजय प्राप्त करने के लिये इसका अधिष्ठान कथन किया है ॥

सं०-अब इस कामरूपी शत्रु के जीतने का अन्य प्रकार कथन करते हैं:-

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

पद०-इन्द्रियाणि । पराणि । आहुः इन्द्रियेभ्यः । परं । मनः । मनसः । तु । परा । बुद्धिः । यः । बुद्धेः । परतः । तु । सः ॥

पदा०-(इन्द्रियाणि, पराणि, आहुः) स्थूल शरीर की अपेक्षा इन्द्रिय

परे (इन्द्रियेभ्यः, परं, मनः) इन्द्रियों से मन परे (मनसः, तु, परा, बुद्धिः) मन से परे बुद्धि और (यः, बुद्धेः, परतः) जो बुद्धि से परे है (सः) वह परमात्मा है ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

पद०—एवं । बुद्धेः । परं । बुद्ध्वा । संस्तभ्यः । आत्मानं । आत्मना । जहि । शत्रुं । महाबाहो । कामरूपं । दुरासदं ॥

पदा०—(महाबाहो) हे बड़े बल वाले ! (एवं) इस प्रकार (बुद्धेः, परं, बुद्ध्वा) बुद्धि से परे जो परमात्मा है उसको जानकर (आत्मना) संस्कृत मन से (आत्मानं, संस्तभ्यः) अपने आत्मा को ठहराकर अर्थात् आत्मिक बल बढ़ाकर (कामरूपं, शत्रुं, जहि) इस कामरूप शत्रु को जीत, यह कैसा शत्रु है जो (दुरासदं) दुःख से जीता जासक्ता है अर्थात् इसके वशीभूत करने के लिये बड़ा प्रयत्न चाहिये ॥

भाष्य—जिस काम की प्रेरणा से मनुष्य पाप करता है उसके जीतने का एकमात्र साधन यहां परमात्मज्ञान ही बतलाया है, जब पुरुष उस परमात्मज्ञान का अनुष्ठान करता है तब यह कामरूप शत्रु जीता जासक्ता है अन्यथा नहीं, उसके अनुष्ठान का प्रकार यह है कि जब पुरुष "यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि" इनका अनुष्ठान करता है तभी इस शत्रु को जीतसक्ता है- अर्थात् (१) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, इन पांचो का नाम "यम" है ॥

(१) मन, वाणी तथा शरीर से किसी को दुःख न देने का नाम "अहिंसा" (२) यथार्थ भाषणादि व्यवहार का नाम "सत्य" (३) मन, वाणी तथा शरीर से परद्रव्य हरण न करनेका नाम "अस्तेय" (४) स्मरण, कीर्तन, क्रीड़ा, देखना, गुह्यभाषण, सङ्कल्प, अध्यवसाय = निश्चय, क्रियानिवृत्ति, यह जो आठ प्रकार का मैथुन है इसके त्याग का नाम "ब्रह्मचर्य्य" (५) आवश्यकता से अधिक वस्तु

पास न रखना अर्थात् अपने योग क्षेम से अधिक वस्तु का ग्रहण न करना "अपरिग्रह" है ॥

(२) शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, इन पांचो को "नियम" कहते हैं।

(१)–अन्तर और बाह्य दोनों प्रकार से पवित्र रहना "शौच" कहलाता है।

(२)–यथालाभ सन्तुष्ट रहने को "संतोष" कहते हैं।

(३)–शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहारने का नाम "तप" है।

(४)–वेद और वैदिकग्रन्थों के युक्तिपूर्वक पठन पाठन का नाम "स्वाध्याय" है।

(५)–सत्यादि गुणों से ईश्वर के स्वरूपचिन्तन का नाम "प्रणिधान" है।

(३)–आसन–पद्मासनादिक (४) प्राणों को स्थिर करने का नाम "प्राणायाम" है, जो पूरक, रेचक, कुम्भक इस भेद से तीन प्रकार का है।

(५)–रूपादि विषयों से इन्द्रियों के रोकने का नाम "प्रत्याहार" है।

(६)–ईश्वर में मन के लगाने को "धारणा" कहते हैं।

(७)–सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त ब्रह्म में ईश्वर व्यतिरिक्त वृत्तियों को हटाकर एकमात्र ईश्वरस्वरूप के अनुसन्धान करने का नाम "ध्यान" है।

(८)–ध्यान की अवस्थाविशेष का नाम "समाधि" है, इन आठ साधनों से जब पुरुष परमात्मा का सक्षात्कार करता है तब यह "काम" जीता जासक्ता है और यदि इनका अनुष्ठान न किया जाय तो नाममात्र के यम नियमादिकों से काम कदापि नहीं जीता जासकता, जैसाकि इस इन्दव छन्द में काम कहता है किः—

यमनेमसु आसनप्राणयमं, प्रत्यहार बली जग ध्यान अलाए।
धारणा और समाधि सुनो, चित होय एकाग्र तो उपजाए॥

इन जीतनहेतु रची अबला, यम नेम तभी हमरे बस आए।
हम जीवत कौन भया जग में, यमनेम कथा जिनके मन भाए॥

यदि अनुष्ठान न हो तो यही गति यम नियम की होजाती है, जैसा कि उक्त छन्द में वर्णन किया गया है, इसलिये "एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा" इस अन्तिम श्लोक में परंज्योति परमात्मा का आश्रय बतलाया है जिस आश्रय से यह कामरूप शत्रु अवश्य जीता जासक्ता है॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोग-प्रदीपार्य्यभाष्ये, कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः

——:o:——

अथ चतुर्थोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०–कृष्णजी गी० ३। ३ में वर्णन करते हैं कि प्रथम मैंने दो प्रकार की निष्ठा कथन की, ज्ञानयोग से वेदान्तियों के लिये और कर्मयोग से कर्मियों के लिये, उनका यह कथन सनातन कैसे होसक्ता है जब उनसे प्रथम इन दोनों प्रकार के योग का गन्धमात्र भी न था? उत्तरः—

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

पद०–इमं। विवस्वते। योगं। प्रोक्तवान्। अहं। अव्ययं। विवस्वान्। मनवे। प्राह। मनुः। इक्ष्वाकवे। अब्रवीत्॥

पदा०–(इमं) इस (अव्ययं) सनातन (योगं) योग को (अहं) मैंने (विवस्वते) विवस्वान् सूर्य्य के लिये (प्रोक्तवान्) कथन किया, विवस्वान् सूर्य्य ने (मनवे, प्राह) मनु के लिये और (मनुः) मनु ने (इक्ष्वाकवे) इक्ष्वाकु को (अब्रवीत्) कथन किया॥

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥ २॥

पद०—एवं । परंपराप्राप्तं । इमं । राजर्षयः । अविदुः । सः । कालेन । इह । महता । योगः । नष्टः । परंतप ॥

पदा०—(परंतप) हे अर्जुन ! (एवं) इस प्रकार (परंपराप्राप्तं) गुरुशिष्य प्रणाली से प्राप्त (इमं) इस योग को (राजर्षयः) राजऋषि लोगों ने (अविदुः) जाना (सः, योगः) वह योग (इह) इस लोक में (महता, कालेन) चिरकाल से (नष्टः) नष्ट होगया है ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

पद०—सः । एव । अयं । मया । ते । अद्य । योगः । प्रोक्तः । पुरातनः । भक्तः । असि । मे । सखा । च । इति । रहस्यं । हि । एतत् । उत्तमं ॥

पदा०—(सः, एव, अयं, योगः) वही यह योग (मया) मैंने (ते) तुम्हारे लिये (अद्य) आज (प्रोक्तः) कहा, यह कैसा योग है जो (पुरातनः) प्राचीन है (मे, भक्तः, असि) तुम मेरे भक्त हो (च) और (सखा) मित्र हो (इति) इस हेतु से (एतत्, उत्तमं, रहस्यं) यह उत्तम रहस्य मैंने तुमको कहा है ॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

पद०—अपरं । भवतः । जन्म । परं । जन्म । विवस्वतः । कथं । एतत् । विजानीयां । त्वं । आदौ । प्रोक्तवान् । इति ॥

पदा०—(भवतः जन्म) आपका जन्म (अपरं) अब हुआ और (विवस्वतः, जन्म) विवस्वान् का जन्म (परं) प्राचीन है (कथं, एतत्, विजानीयां) मैं इस बात को कैसे जानूं कि (त्वं, आदौ) तुमने ही आदिकाल में (प्रोक्तवान्, इति) इस योग को कहा है ॥

भाष्य—" विवस्वान् सूर्य्य " से तात्पर्य्य इस जड़ सूर्य्य का नहीं किन्तु उस मनुष्य का है जिससे सूर्य्यवंशियों का वंश चला है ॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

पद०-बहूनि । मे । व्यतीतानि । जन्मानि । तव । च । अर्जुन । तानि । अहं । वेद । सर्वाणि । न । त्वं । वेत्थ । परंतप ॥

पदा०—हे अर्जुन ! (मे) मेरे (बहूनि) बहुत (जन्मानि) जन्म (व्यतीतानि) व्यतीत हुए (च) और (तव) तुम्हारे भी (तानि, सर्वाणि, जन्मानि, अहं, वेद) उन सब जन्मों को मैं जानता हूं, हे परंतप ! (त्वं, न, वेत्थ) तुम उनको नहीं जानते ॥

भाष्य-कृष्णजी का अभिप्राय इस श्लोक में यह है कि जीवात्मा अनादि होने के कारण तुम्हारे और हमारे बहुत जन्म व्यतीत हुए हैं और मैं उनको योगजसामर्थ्य से जानता हूं तुम नहीं जानते, जैसाकि आगे १२ वें अध्याय में कहा है कि "पश्य मे योगमैश्वरं" = मेरे ईश्वरविषयक योग को तू देख, एवंविध ईश्वरविषयक योग से कृष्णजी ने पूर्वजन्म के ज्ञानों को सूचित किया है किसी और सामर्थ्य के अभिप्राय से नहीं ॥

सं०—ननु, "न जायते म्रियते वा कदाचन" इत्यादि श्लोकों में जीवात्मा को अजन्मा सिद्ध किया है और आप जैसे योगी पुरुष तो मुक्ति के अधिकारी होते ही हैं फिर तुम्हारा वारम्वार जन्म क्यों होता है ? उत्तरः—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

पद०—अजः । अपि । सन् । अव्ययात्मा । भूतानां । ईश्वरः । अपि । सन् । प्रकृतिं । स्वां । अधिष्ठाय । सम्भवामि । आत्ममायया ॥

पदा०—(अजः, अपि, सन्) मैं अज भी हूं (अव्ययात्मा) मेरा आत्मा विकार से रहित (भूतानां, ईश्वरः, अपि, सन्) और ऐश्वर्य्य को प्राप्त होने से अन्य भूतों में ईश्वर अर्थात् मुक्त के ऐश्वर्य्य को प्राप्त होचुका हूं परन्तु (प्रकृतिं, स्वां) अपने पूर्व कर्म रचित

स्वभाव को (अधिष्ठाय) आश्रय करके (आत्ममायया) अपने ज्ञान से (सम्भवामि) उत्पन्न होता हूं ॥

भाष्य—इस श्लोक का आशय यह है कि यद्यपि मुक्त जीवों में अन्य जीवों के समान जन्म मरण नहीं तथापि मुक्त जीव अपने स्वभाव को आश्रय करके ज्ञान द्वारा जन्म लेते हैं और उनका वह जन्म संसार के उद्धार के लिये होता है अज्ञानी जीवों के समान नहीं होता, इसलिये "आत्ममायया" यह शब्द कहा है, "माया" शब्द के अर्थ स्वामी शं० चा० ने भी यहां त्रिगुणात्मक प्रकृति के ही माने हैं, उक्त अर्थों से भिन्न शङ्करमत की अनिर्वचनीय माया के अर्थ गीता से सिद्ध करने दुर्घट ही नहीं अपितु असंभव हैं, जैसाकि "दैवीह्येषा-गुणमयीममामायादुरत्यया" गी० ७ । १४ इत्यादि स्थलों में माया शब्द के अर्थ प्रकृति के ही हैं. प्रकृति के अर्थ मानकर अवतारवादियों को अवतार सिद्ध करना बड़ा कठिन होजाता है, क्योंकि मायावादी लोग माया को ब्रह्म में आश्रय स्वविषय मानकर ही सब जीव ईश्वरादिभाव ब्रह्म से सिद्ध करते हैं. इनका सिद्धान्त यह है कि शुद्ध चेतन के आश्रित स्वाश्रय स्वविषयरूप से माया रहती है और वह उसी के आश्रय रहकर उसीको ढक लेती है, जैसाकि प्रकाशवाले स्थान में जब एक स्थान निर्माण किया जाता है तो उस स्थान की भित्तियों के सहारे अन्धकार रह कर उन्हीं को ढक लेता है, इसका नाम "स्वाश्रय स्वविषय" है, इस प्रकार स्वाश्रयस्वविषयरूप से रहने वाली माया इनके मत में उस शुद्ध ब्रह्म में जीव और ईश्वर दो भेद उत्पन्न करदेती है. जिसकी उपाधि अविद्या है उसको " जीव " और जिसकी उपाधि माया है उसको " ईश्वर " कहते हैं, जब इस प्रकार इनके मत में अज्ञान और मोह का नाम माया है तो फिर " मायान्तुप्रकृतिंविद्यात् " यह उपनिषद् वाक्य इनके मत में कैसे सङ्गत होसक्ता है, क्योंकि प्रकृति में तो सत्वगुण भी है जिससे अज्ञान और मोह उत्पन्न नहीं होते किन्तु ज्ञान उत्पन्न होता है, इस प्रकार सूक्ष्म विचार करनेसे सिद्ध होता है कि "सम्भवाम्यात्ममायया" के अर्थ जो शङ्करमत में प्रकृति के किये गये हैं वह उनके मत से सर्वथा विरुद्ध हैं, इसी

अभिप्राय से मधुसूदन स्वामी आदि टीकाकारों ने शङ्करमत का संस्कार करते हुए निम्नलिखित उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि:—

मायाह्येषामयासृष्टायन्मामग्श्यसिनारद ।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि ॥

माया के अर्थ यहां अनिर्वचनीय के हैं इसीलिये इस स्थल में मधुसूदन स्वामी ने लिखा है कि "विचित्रानेकशक्तिमघटमानघटनापटीयसीं स्वांसोपाधिभूतामधिष्ठाय चिदाभासेनवशीकृत्य सम्भवामि तत्परिणामविशेषैरेवदेहवानिवजातइव च भवामि"=अनेक विचित्र शक्तियें हैं जिसमें, और फिर कैसी है अघटमानघटनापटीयसी=न होने वाली जो घटना हैं उनमें जो पटीयसी=चतुर है और स्वांसोपाधिभूतां=जो उस ईश्वर का उपाधिरूप है उसको आश्रय करके अर्थात् उस माया में चेतन का आभास होकर उसके परिणामविशेषों से देहवान्=उत्पन्न के समान मैं प्रतीत होता हूं वास्तव में देहवाला नहीं, इससे पायागया कि ईश्वर इनके मत में माया में प्रतिबिम्बित चेतन का नाम है किसी अन्य विशेष विग्रहधारी का नहीं, फिर "सम्भवाम्यात्ममायया" के अर्थ ईश्वर में कैसे घटसक्ते हैं, क्योंकि इस प्रकरण में तो आगे जाकर "परित्राणायसाधूनां विनाशाय च दुष्कृतां" इत्यादि श्लोकों में यह वर्णन किया है कि साधुओं की रक्षा और दुष्टों के नाश के लिये मैं विग्रह धारण करता हूं और स्वामी शं० चा० तथा उनके चेलों ने कोई विग्रहविशेष नहीं माना, यदि कहाजाय कि उनके मत में भी कल्पित विग्रह कहाजाता है? इसका उत्तर यह है कि इस श्लोक में व्यासजी का कल्पित विग्रह से तात्पर्य्य नहीं और नाही कल्पित साधुओं की रक्षा का तात्पर्य्य है किन्तु तात्त्विक साधुओं की रक्षा का तात्पर्य्य है, तात्त्विक योग का उपदेश करते हुए कल्पित की कथा कथना सङ्गत प्रतीत नहीं होता, इसीलिये स्वामी रामानुज ने यहां "माया" शब्द के अर्थ ज्ञान के किये हैं, जैसाकि "मायावयुनंज्ञानमितिज्ञानपर्यायोत्तर माया शब्दः"=

माया, वयुन, ज्ञान यह पर्य्याय शब्द हैं, जिसका अर्थ यह है कि मैं अपने ज्ञान से शरीर धारण करता हूं, इससे पाया गया कि यहां मायावादियों के मिथ्यावाद का उपदेश नहीं, फिर अवतारवाद कैसे सिद्ध होसक्ता है, क्योंकि इनके मत में अवतार का शरीर भी तो मायामात्र ही होता है तात्त्विक नहीं, यदि यह कहाजाय कि सभी शरीर मायामात्र हैं तो यह इनका सिद्धान्त नहीं, क्योंकि इनका सिद्धान्त यह है कि अवतारों के शरीर माया के और जीवों के भौतिक होते हैं, जैसाकि गी० ४ । ९ के शङ्कर-भाष्य में लिखा है कि "जन्म मायारूपं कर्म च साधुपरित्राणादि" इस पर स्वामी शंकराचार्य्य के शिष्य आनन्दगिरि लिखते हैं कि "मायामयमीश्वरस्य जन्म न वास्तवं" = ईश्वर का शरीर मायामय है वास्तव नहीं, और फिर लिखते हैं कि "मायामयं कल्पितमितियावत्" = मायामय के अर्थ कल्पित के हैं, जब यहां यह पूछा जाता है कि ईश्वर की कल्पना से ईश्वर का जन्म है वा जीव की कल्पना से ? यदि ईश्वर की कल्पना से है तो उसको सत्यसङ्कल्प कैसे कहाजासक्ता है, क्योंकि यह जन्मरूपी कल्पना तो मायावादियों के मत में मिथ्या है, यदि जीव की कल्पना से ईश्वर का जन्म मानें तो जीव की कल्पना द्वारा कल्पित जन्मों से साधुओं का परित्राण और दुष्टों का नाश कैसे होसक्ता है, क्योंकि ऐसी मिथ्या कल्पनायें तो स्वप्नादि अवस्थाओं में अनेकधा होती रहती हैं उनसे साधुओं का परित्राण और देश का कल्याण कदापि नहीं होसक्ता, एवं इस मायावाद की कल्पना पर यदि विकल्प किये जायं तो कदलीस्तम्भ के समान कुछ सार नहीं निकलता ।

तत्व यह है कि यहां योग को सनातन कथन करते हुए योगियों के महत्व का वर्णन किया है कि योगीजन स्वेच्छा से साधुओं के परित्राण और देश के कल्याण के लिये जन्म धारण करते और योग की समाधि से उनको सिद्धि प्राप्त होती है, जैसाकि "जन्मौषधिमंत्र तपः समाधिजा सिद्धयः" यो० ४ । १ में लिखा है कि जन्म, औषधि, मन्त्र, तप, समाधि, इन साधनों से सिद्धियें होती हैं और छान्दोग्य के षष्ठम् प्रपाठक में आत्मरति वाले पुरुष को स्वराट् और स्वेच्छाचारी होना लिखा है,

आत्मरति=परमात्मा में परमप्रीति ही परमसमाधि है और ऐसा योगी पुरुष साधुओं के परित्राण के लिये जन्म धारण करता है ॥

सं०–ननु, उसको जन्मधारण की आवश्यकता कब २ पड़ती है? उत्तरः–

यदायदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्यतदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

पद०–यदा । यदा । हि । धर्मस्य । ग्लानिः । भवति । भारत । अभ्युत्थानं । अधर्मस्य । तदा आत्मानं । सृजामि । अहं ॥

पदा०–हे भारत! (यदा, यदा, हि) जब २ (धर्मस्य) धर्म की (ग्लानिः) हानि (भवति) होती और (अधर्मस्य, अभ्युत्थानं) अधर्म का अभ्युत्थान होता अर्थात् जब अधर्म बढ़ जाता है (तदा) तब (अहं) मैं (आत्मानं) आत्मा को (सृजामि) रचता हूं अर्थात् शरीर धारण करता हूं, किस प्रयोजन के लिये? उत्तरः—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

पद०–परित्राणाय । साधूनां । विनाशाय । च । दुष्कृतां । धर्मसंस्थापनार्थाय । सम्भवामि । युगे । युगे ॥

पदा०–(साधूनां) साधुओं की (परित्राणाय) रक्षा के लिये (च) और (दुष्कृतां) पापियों के (विनाशाय) विनाश के लिये (धर्मसंस्थापनार्थाय) धर्म के स्थापन के लिये (युगे, युगे) प्रत्येक युग में (सम्भवामि) होता हूं ॥

भाष्य–इस श्लोक में योगियों के जन्म का हेतु धर्मरक्षा बतलाया है, पर इन श्लोकों को अवतारवादी अवतार में लगाते हैं, वह लोग यह अर्थ करते हैं कि जब २ धर्म की ग्लानि होती है तब २ परमेश्वर अधर्म के नाशार्थ अवतार धारण करता है पर इस नियम को वह अपने सम्पूर्ण अवतारों में नहीं घटा सक्ते, क्योंकि उनके मत में बुद्धदेव ने कौनसे अधर्म के नाश के लिये अवतार लिया, परशुराम ने कौनसे साधुओं का परित्राण तथा देश का क्या कल्याण किया और मोहिनी ने किसके मोह को दूर किया, इत्यादि

अनेक दोष इनके ईश्वरावतार विषय में हैं जिनका समाधान इनके पास कोई नहीं, हमारे मत में तो जो योगज सामर्थ्य वाले पुरुष साधुओं के परित्राण और देश के कल्याण के लिये जन्म धारण करते हैं वह सभी अवतार हैं, यदि इनकी कल्पना के अनुकूल ईश्वर का अवतार माना भी जाय तो फिर धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि समय में उस ईश्वर ने अवतार क्यों न लिया ? क्या कोई कहसक्ता है कि सोमनाथ और विश्वनाथ का मन्दिर टूटना धर्म की हानि न थी ? अधिक क्या जिस समय पौराणिक विचार के अनुकूल दुर्योधनादि दुष्टों के कारण धर्म की हानि हुई उस समय तो परमेश्वर ने एक नहीं अनेक अवतार धारण किये अर्थात् महाभारत के समय कृष्ण, व्यास, नारदादि अनेक अवतार थे, पर जब दुर्योधन जैसे दारुण दुःख देने वाले धर्म कर्म के शत्रु उत्पन्न हुए तब से एक भी अवतार दृष्टि नहीं पड़ा, यदि कोई हमसे पूछे कि तुम्हारे योगियों ने उस समय अवतार क्यों नहीं धारण किये ? तो उत्तर यह है कि हमारे मतानुकूल तो समय २ पर योगिजन अवतार लेते ही रहते हैं, जैसाकिः—

इन्दव छन्द

विप्र गौ दुःखदूर किया जिन, दैत्यम्लेच्छन को दण्ड दीना ।
दीनउद्धारकरीधरणी जिन, देशसुधार को मारग लीना ॥
नभ धूड़म्लेछ से पूर्ण था जिन, मेघ घटा बन निर्मल कीना ।
इनके अवतारभयेसगरे जिन, भारत आरत का दुःख छीना ॥

उक्त गुणों वाले अवतारों का बीज यहां कृष्णजी ने सूचित किया है जमज्जन्मादि हेतु ईश्वर का जन्म गन्धमात्र भी निरूपण नहीं किया, कृष्ण जी जिस ईश्वर को "सर्वत्रगमचिन्त्यं कूटस्थमचलंध्रुवम्" गी० १२ । ३ इन शब्दों से निरूपण करते हैं कि जो सर्वव्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ = चैतन्यघन, अचल = निश्चल और ध्रुवं = परिणाम रहित है वह जन्म मरण में कैसे आसक्ता है अर्थात् उक्त विशेषणविशिष्ट ईश्वर का जन्म मरणादि कौन निरूपण करसक्ता है, और जिस औपनिषद पुरुष को उपनिषद्वाक्य

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" तैत्ति० २।४।१ इत्यादि वाक्यों में मन वाणी का अविषय कथन करते हैं फिर वह जन्म मरण वाला कैसे होसक्ता है ॥

ननु-इस अक्षर अव्यक्त की उपासना वालों को भी कृष्णजी ने कहा है कि वह भी मुझे ही प्राप्त होते हैं इस कथन से पाया जाता है कि वह अक्षर कृष्णजी से भिन्न नहीं, निर्गुण होने से उसी को अक्षर और सगुण होने से उसी को अवतार कहा जाता है ? उत्तर–कृष्णजी ने जो अक्षर के उपासकों को यह कहा है कि वह भी मुझे ही प्राप्त होते हैं, यह अपने मत को वैदिक होने के अभिप्राय से कहा है अर्थात् कर्मयोग और ज्ञानयोगरूपी मेरा मत ईश्वर के मार्ग से भिन्न नहीं, अन्यथा यदि ऐसा न होता तो वह गी० १८। ६१ में यह न कहते किः—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥

अर्थ हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों को अपने माया = ज्ञानरूपी यंत्र से चलाता हुआ सबके हृदयदेश में स्थिर है, सर्वभाव से तू उसी की शरण को प्राप्त हो, इस कथन ने इस बात को सिद्ध करदिया कि कृष्णजी अपने आपको ईश्वर कदापि नहीं मानते और "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति" इत्यादि कथन और विचार न केवल कृष्णजी तथा व्यासजी का है अपितु "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यामन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं" बृहदा० ३।७।३ इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में भी वर्णित है कि जो पृथिवी के भीतर रहता है, जिसको पृथिवी नहीं जानती और जो पृथिवी आदिकों का नियन्ता है वह तुम्हारा अन्तर्यामी परमात्मा है, और जो कई एक स्थलों में कृष्णजी ने अपने आपको ईश्वरभाव से कथन किया है वह तद्धर्मतापत्ति के अभिप्राय से है अर्थात् परमात्मा के अपहतपाप्मादि दिव्य गुणों के धारण करने से कृष्ण जी ने अहंभाव का उपदेश किया है, जैसाकि "सहोवाचप्राणोऽस्मिप्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व" कौषी० उ० ३।२ = इन्द्र ने प्रतर्दन से

कहा है कि मैं प्राणरूप प्रज्ञात्मा हूं तुम मेरी उपासना करो, इसका निर्णय महर्षिव्यास ने "प्राणस्तथानुगमात्" ब्र०सू० १।१।२८ में यह किया है कि यहां प्राण ब्रह्म का नाम है, फिर इससे यह संदेह उत्पन्न हुआ कि इन्द्र ने अपने आपको प्राण क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि "नवक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्ध भूमाह्यस्मिन्" ब्र० सू० १।१।२९=वक्ता इन्द्र ने यहां अपने आपको प्राणरूप से कथन किया है (इति, चेत्) यदि ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि परमात्मविषयक जो आध्यात्मिकसम्बन्ध का भूमा=बाहुल्य है उसके अभिप्राय से यहां इन्द्र ने अपने आपको प्राण कहा है अर्थात् ईश्वर के गुणों को धारण करके इन्द्र अपने आपको ईश्वरवाची शब्दों से कथन करता है, इस भाव को हमने "वेदान्तार्य्यभाष्य" के इन्द्रप्रतर्दनाधिकरण में स्पष्ट रीति से लिखा है विशेषाभिलाषी वहां देखलें, इसी भाव से कृष्णजी ने भी अनेक स्थलों में अपने आपको ईश्वरभाव से कथन किया है अन्यथा जब गीता उपनिषदर्थ का संग्रह माना जाता है तो फिर वह कौनसा उपनिषद् स्थल है जिसमें नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव ईश्वर का जन्म वर्णन किया है, हां इस बात का वर्णन उपनिषदों के अनेक स्थलों में आता है कि ऋषियों ने ईश्वरीय गुणों को धारण करके उसकी अहंग्रह=आत्मत्वेन उपासना की है, जैसाकि "त्वं वा अहमस्मि भगवोदेवते अहं वै त्वमसि" इत्यादि स्थलों में ईश्वर और अपने को अभेद से कथन किया है, यही औपनिषदभाव गीता में आया है, फिर इसमें अवतार की क्या कथा ? ।

इसी भाव से कृष्णजी ने आगे के श्लोक में अपने जन्म कर्म को दिव्यरूप से वर्णन किया है, दिव्य के अर्थ यह हैं कि जो अप्राकृत हो अर्थात् प्रकृति के विग्रह वाले मनुष्यों में जन्म और कर्म न पाया जाता हो, यदि कृष्णजी अपने आपको परमेश्वर मानते तो जन्म कर्म के लिये दिव्य विशेषण न देते, क्योंकि वह तो बने तने ही परमेश्वर थे फिर जन्म कर्म के लिये दिव्य विशेषण देने की क्या आवश्यकता थी, जैसाकि :—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः ।
त्यक्त्वादेहंपुनर्जन्मनैतिमामेतिसोऽर्जुन ॥ ९ ॥

पद०—जन्म । कर्म । च । मे । दिव्यं । एवं । यः । वेत्ति । तत्वतः । त्यक्त्वा । देहं । पुनः । जन्म । न । एति । मां । एति । सः । अर्जुन ॥

पदा०—(जन्म) पूर्व प्रारब्ध कर्मों से शरीर तथा जीवात्मा का सम्बन्ध और (कर्म) धर्म का उद्धार तथा अधर्म नाश के लिये जो हवनादि कर्म (मे) मेरे हैं उनको (यः) जो पुरुष (तत्वतः) यथार्थतया (वेत्ति) जानता है, हे अर्जुन ! (सः) वह (देहं, त्यक्त्वा) देह को छोड़कर (पुनः. जन्म) पुनर्जन्म को (न, एति) प्राप्त नहीं होता (मां, एति) मुझको प्राप्त होता है ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

पद०—वीतरागभयक्रोधाः ।मन्मयाः । मां । उपाश्रिताः । बहवः । ज्ञान-तपसा । पूताः । मद्भावं । आगताः ॥

पदा०—(वीतरागभयक्रोधाः) राग=प्रीति, भय = दूसरों से डरना और क्रोध, यह वीत=दूर होगये हैं जिनके (मन्मयाः) मेरे गुणों को धारण करने से जो मेरा रूप होगये हैं और (मां, उपाश्रिताः) मुझको अपना पथदर्शक मानकर जिन्होंने मेरा आश्रय किया है ऐसे पुरुष (बहवः) बहुत (ज्ञानतपसा) ज्ञानरूपी तप से (पूताः) पवित्र हुए (मद्भावं) मेरे भाव=ज्ञान, योग तथा कर्मयोगादि आशय को (आगता) प्राप्त हुए हैं ॥

भाष्य—स्वामी शङ्कराचार्य्य ने इस श्लोक में "मन्मया" के यह अर्थ किये हैं कि "**मन्मया ब्रह्मविद ईश्वराभेददर्शिनो मामेव परमेश्वरमुपाश्रिताः केवल ज्ञाननिष्ठा इत्यर्थः**"= जो जीव ईश्वर के अभेद को देखनेवाले ब्रह्मवेत्ता हैं अर्थात् जिनके मत में जीव ब्रह्म एक है वह केवल मुझ परमेश्वर को आश्रय करके ज्ञाननिष्ठा वाले हैं।

यहां जीव ब्रह्म का अभेद गन्धमात्र भी नहीं जिसको उक्त स्वामीजी ने बड़े बलपूर्वक सिद्ध किया है, कहां साधुओं के परित्राण और देश के कल्याण की कथा और कहां स्वयं ब्रह्म बनना, यदि येन केन प्रकार से इस दशम-श्लोक का यह अर्थ मान भी लियाजाय तो फिर आगे के ११ वें श्लोक

का क्या अर्थ होगा जिसमें लिखा है कि "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैवभजाम्यहम्" स्वामी शं० चा० इसकी सङ्गति यों लगाते हैं कि "तवतर्हिरागद्वेषौस्तः येन केभ्यश्चिदेवात्मभावं प्रयच्छसि न सर्वेभ्यः"=तब तुमको रागद्वेष हुआ जो किसी एक को तो जीव ब्रह्म के ऐक्य ज्ञान से मुक्ति देते हो और किसी को नहीं, इस शङ्का का उत्तर स्वामी यह देते हैं कि नहीं जो जिस मार्ग से आते हैं सब मुझे ही प्राप्त होते हैं, यहां इस श्लोक में आकर तो स्वामीजी ने अपनी सारी दृढ़ता छोड़दी अर्थात् केवल ज्ञाननिष्ठा से मुक्ति मानने वाले स्वामी ने यहां अपनी इतनी उदारता दिखलाई है कि अधिकारी, अनधिकारी, ठग, चोर सबको मोक्षमार्ग के यात्री बनाकर संसार सागर से पार करदिया, अस्तु—हमें इससे क्या, केवल ज्ञान से मुक्ति की प्रतिज्ञा तो यहां उन्हीं की टूटती है हमको यहां इतना प्रतीत हुआ है कि जीव को ब्रह्म बनाने का यत्न स्वामी और उनके शिष्यों को ऐसा सूझता है कि जिससे येन केन प्रकार से अर्थाभास करके जीव को मनोरथमात्र का ब्रह्म बना ही लेते हैं, देखो मधुसूदन स्वामी "मन्यया" के यह अर्थ करते हैं कि "मां परमात्मानंतत्पदार्थंत्वंपदार्थाभेदेनसाक्षात्कृतवन्तः"= मैं परमेश्वर जो "तत्" पद का अर्थ हूं और "त्वं" पद का अर्थ जो जीव है, उक्त "तत्" पद और "त्वं" पद के अर्थ को जिन्होंने साक्षात्कार किया है उनको "मन्मया" कहा है, भला यहां "तत्त्वमसि" के अखण्डार्थ की क्या कथा, पर ठीक है "तत्त्वमसि" में अखण्डार्थ मानने वालों का खेंच से विना निर्वाह कैसे, "तत्त्वमसि" जो छान्दोग्य के षष्ठम् प्रपाठक का वाक्य है वहां इसके अर्थ यह हैं कि "तत्" नाम यह जीवात्मा "त्वं" नाम तू है, इस प्रकार यहां समानाधिकरण है, मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि तत्=वह परमेश्वर, त्वं=तू है, इस अर्थ में "तत्" शब्द का वाच्य जो ईश्वर वह सर्वज्ञ और त्वं पद वाच्य जो जीव वह अल्पज्ञ है, इसलिये मायावादी यहां भागत्यागलक्षणा मानते हैं, जहां एक भाग का त्याग और एक का ग्रहण कियाजाय उसको "भागत्यागलक्षणा" कहते हैं, जैसाकि सोऽयंदेवदत्त में तद्देश और

एतद्देशरूप भाग को छोड़कर लक्ष्यमात्र देवदत्त नामवाला पुरुष लिया जाता है,इसी प्रकार यहां प्रकृत में "तत्" पद वाच्य ईश्वर की सर्वज्ञता और "त्वं" पद वाच्य जीव की अल्पज्ञता छोड़कर चेतनमात्र जो एक लक्ष्यार्थ है उसका बोध जिससे हो उसका नाम "भागत्यागलक्षणा" है, ऐसी क्लिष्ट कल्पना करके यहां मायावादियों ने जीवब्रह्म की एकता सिद्ध करने का यत्न किया है जो इनके माने हुए निम्नलिखित षट्लिङ्गों से सिद्ध नहीं होती।

(१) उपक्रमोपसंहार की एकरूपता (२) अभ्यास (३) अपूर्वता (४) फल (५) अर्थवाद (६) उपपत्ति = उपक्रम=प्रारम्भ, उपसंहार=समाप्ति, जहां उपक्रम और उपसंहार से एकरूपता पाईजाय उसका नाम "उपक्रमोपसंहार" की एकरूपता है, पुन: २ कथन का नाम "अभ्यास" जो वस्तु प्रथम ज्ञात न हो अर्थात् पूर्वज्ञात पदार्थ से नई हो उसको "अपूर्वता" कहते हैं, जिससे कुछ प्रयोजन सिद्ध हो उसका नाम "फल" स्तुति वा निन्दा के अभिप्राय से किसी वस्तु को उसके अस्तित्व से अधिक कथन किये जाने का नाम "अर्थवाद" और उक्त अर्थ की अनुकूल युक्तियों को "उपपत्ति" कहते हैं॥

प्रकरण में इन षट्विध लिङ्गों से आधुनिक वेदान्तियों का अवतारवाद वा ब्रह्मवाद सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उपक्रम और उपसंहार इस अध्याय में योग का है, जैसाकि "इमंविवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्" गी० ४। १ और "छित्त्वैनंसंशयंयोगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत" गी० ४। ४२ इस प्रकार यहां उपक्रम योग से है और उपसंहार भी योग से है और मध्य में भी वा म्वार ज्ञानयोग तथा कर्मयोग का वर्णन है इसलिये अभ्यास भी योग का ही है, अपूर्वता यह है कि यह वैदिक योग विना वैदिकग्रन्थ अथवा उपदेष्टा के स्वयं नहीं आसक्ता, फल इसमें यह है कि तद्धर्मतापत्तिरूप मुक्ति का प्रयोजन इससे सिद्ध होता है, अर्थवाद यह है, जैसाकि गी० ४। २३ में कहा है कि ज्ञानरूपी यज्ञ में जिनका मन स्थिर है उनके सम्पूर्ण कर्म लय को प्राप्त होजाते हैं, उपपत्ति यह है कि जिस प्रकार सांसारिक अर्थ की सिद्धि के लिये कोई पुरुष किसी अर्थ वाले पुरुष के योग से विना कृतार्थ नहीं होता इसी प्रकार मुक्तिरूप अर्थ

में भी नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव परमात्मा के योग से बिना कोई कदापि कृतार्थ नहीं होसक्ता, इस प्रकार तात्पर्य्य के निश्चायक जो उक्त षट्लिङ्ग हैं उनसे अवतारवाद और जीव ब्रह्म की एकतारूप वाद का अंशमात्र भी इस चतुर्थाध्याय में नहीं पाया जाता और यदि ऐसा होता तो "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहं" गी० ४।११ इस श्लोक में शङ्करमतोनुकूल इतनी स्वतन्त्रता क्यों दीजाती कि चाहे कोई किसी मार्ग से आवे सभी मार्ग परमात्मप्राप्ति के हैं ॥

सं०-ननु "बहवोज्ञानतपसापूतामद्भावमागताः" इस पूर्व श्लोक में ज्ञानरूपी तप से तद्धर्मतापत्तिरूप मोक्ष का वर्णन किया अर्थात् ज्ञान से ही मनुष्य पवित्र भावों को प्राप्त होता है, फिर "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताजनकादयः" गी० ३।२० में यह कथन किया कि कर्म से ही जनकादि सिद्धि को प्राप्त हुए, यह ठीक नहीं ? उत्तरः—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

पद०-ये । यथा । मां । प्रपद्यन्ते । तान् । तथा । एव । भजामि । अहं । मम । वर्त्म । अनुवर्तन्ते । मनुष्याः । पार्थ । सर्वशः ॥

पदा०-हे पार्थ ! (ये) जो मनुष्य (यथा) जिसप्रकार (मां) मुझको (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (तान्) उनको (तथा, एव) वैसे ही (अहं, भजामि) मैं ग्रहण करता हूं (मम) मेरा (वर्त्म) जो मार्ग है उसको (सर्वशः, मनुष्याः) सब मनुष्य (अनुवर्तन्ते) आश्रय करते हैं ॥

भाष्य-इस श्लोक में "ये, यथा" के अर्थ यह हैं कि ज्ञानयोग और कर्मयोगरूप दोनों प्रकार के मार्गों में से जो जिस प्रकार मुझको प्राप्त होते हैं उनको उसी प्रकार मैं ग्रहण करता हूं अर्थात् दोनों ही मार्ग मेरी प्राप्ति के हेतु हैं, इससे पूर्व श्लोक में ज्ञान का प्रभाव अधिक कथन किया था, इसलिये कर्मयोग की न्यूनता पाई जाती थी जिसका उत्तर श्लोक में "क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा" यह कथन करके पूर्ण किया है, एवं पूर्वोत्तर श्लोक से पायागया कि यहां ज्ञानयोग और

कर्मयोग इन दो मार्गों के अभिप्राय से " ये यथा मां प्रपद्यन्ते " यह कथन किया है, यदि आजकल के सर्वतन्त्र के एकरस श्रद्धालुओं के अनुकूल इस श्लोक के यह अर्थ किये जायं कि जो कोई ऊंच नीच किसी मार्ग से आता है वह सब कृष्णजी के मार्ग को ही प्राप्त होता है तो कृष्णजी ने गी० १८।६६ में यह क्यों कहा कि "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" = तू सब धर्मों को छोड़कर एक मेरी ही शरण को प्राप्त हो, जब सब मार्ग उसकी प्राप्ति का उपाय हैं तो फिर इनके छोड़ने का उपदेश क्यों करना था? कृष्णजी का यह उपदेश नहीं कि कोई उलटे सीधे किसी मार्ग से चले वह सब मार्ग परमेश्वर प्राप्ति के हेतु हैं किन्तु कृष्णजी यह मानते हैं कि एक वैदिकधर्म से भिन्न जो कल्पित धर्मों को धर्म मानता है उसका कल्याण कदापि न होगा, इसी अभिप्राय से " सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज " यह कथन किया है और स्वामी शङ्कराचार्य्य ने भी "ये यथा मां प्रपद्यन्ते " के अर्थ प्रयोजनवत्वाधिकरण में यह किये हैं कि जो परमेश्वर को पुण्यात्मा होकर मिलता है उसको परमात्मा सुख देता और जो पापात्मा होकर मिलता है उसको दुःख देता है, यहां स्वामी शङ्कराचार्य्य ने भी उक्त श्लोक के मर्यादाशून्य अर्थों को वैदिकमर्यादा से बांध दिया, अस्तु-प्रसङ्गसङ्गति से यहां इतना अर्थाभास का विचार किया, प्रकृत यह है कि यहां कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों मार्गों का आश्रयण इष्ट है॥

कांक्षंतः कर्मणां सिद्धिं यजन्ते इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

पद०—कांक्षंतः। कर्मणां। सिद्धिं। यजन्ते। इह। देवताः। क्षिप्रं। हि। मानुषे। लोके। सिद्धिः। भवति। कर्मजा॥

पदा०—(कर्मणां) कर्मों की (सिद्धिं) सिद्धि को (कांक्षन्तः) चाहते हुए (इह) इस लोक में (देवताः, यजन्ते) देवताओं का यज्ञ करते अर्थात् देवता शब्द का वाच्य जो इन्द्रिय उनको यज्ञादि कर्मों द्वारा प्रौढ़ करके कर्म करने के योग्य बनाते हैं, जैसाकि "श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति" गी० ४।२६ = अन्य लोग श्रोत्रादि इन्द्रियों को

संयमरूप अग्नि में हवन कर देते हैं. यहां देवता शब्द इन्द्रियों का वाचक है जिसके प्रमाण में यह वेद मन्त्र भी है कि "नैनद्देवाप्राप्नुवन्पूर्वमर्षत्" यजु० ४०।४ = जो पूर्व उस स्थान पर व्यापक है उसको (देव) इन्द्रिय नहीं प्राप्त होसक्ते (क्षिप्रं) शीघ्र (हि) निश्चयकरके (मानुषे, लोके) मनुष्य लोक में (कर्मजा, सिद्धिः, भवति) कर्म से उत्पन्न होने वाली सिद्धि शीघ्र होती है ॥

सं०–ननु, तुमने जो यह कहा कि "यजन्तइहदेवता" = देवताओं के यज्ञ करने वालों को शीघ्र ही सिद्धि होजाती है, पर देवताओं का यज्ञ सब तो नहीं करसक्ते, क्योंकि तुम्हारे यज्ञादि कर्मों में भी तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को ही अधिकार है जो विचारे जन्म के शूद्र हैं उनके लिये तो शीघ्र होने वाली कर्म की सिद्धि का कोई उपाय न हुआ ? उत्तरः—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्यकर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

पद०–चातुर्वर्ण्यं । मया । सृष्टं । गुणकर्मविभागशः । तस्य । कर्तारं । अपि । मां । विद्धि । अकर्तारं । अव्ययं ॥

पदा०–(चातुर्वर्ण्यं) चारो वर्णों के भाव = ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्वादि धर्मों को (गुणकर्मविभागशः) गुण कर्मों के विभाग = भेद से (मया, सृष्टं) मैंने बनाया है (तस्य) उस गुण कर्म रूपी भेद का (कर्तारं) कर्ता (अपि) भी (मां) मुझको (विद्धि) जानो, मैं कैसा हूं (अकर्त्तारं) वास्तव में कर्ता नहीं, फिर कैसा हूं (अव्ययं) विकार रहित हूं ॥

भाष्य–उक्त श्लोक में यह वर्णन किया है कि ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्वादि धर्म गुण कर्म के विभाग से होते हैं अर्थात् शमदमादि जिसके स्वाभाविक होते हैं वह "ब्राह्मण" शौर्य्य, तेज, धृति, चातुर्यादि जिसके स्वाभाविक हों वह "क्षत्रिय" जिसकी प्रवृत्ति खेती, गौओं की रक्षा, वणिक वृत्ति, इत्यादि कर्मों में होती है वह "वैश्य" और जिसका केवल दूसरे की सेवा करना ही स्वभावसिद्ध है और कोई गुण नहीं वह "शूद्र" है, इस प्रकार स्वाभाविक गुणों के भेद से मैंने ब्राह्मण, क्षत्रियादिकों को वर्णन किया है, इस चातुर्वर्ण्य के भाव का कथन कर देने के मुझे कर्त्ता

समझो वास्तव में नहीं, इस कथन से यह सिद्ध किया कि स्वाभाविक गुण कर्म के विभाग से वर्णव्यवस्था अनादिकाल से चली आती है अपने को कर्त्ता केवल उसके वर्णन करने के अभिप्राय से कथन किया है, शङ्कर-भाष्य में इस श्लोक को गुणकर्मसिद्ध वर्णव्यवस्था पर नहीं लगाया किन्तु इस विषय पर लगाया है कि लोग तुम्हारे मार्ग पर ही क्यों चलते हैं ? यह शङ्का करके यह उत्तर दिया है कि वर्णाश्रमों को मैंने रचा है इसलिये सब लोग मेरे ही अनुकूल चलते हैं पर यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि यह भाव होता तो स्वाभाविक ही सब लोग कृष्णजी के उपदेश किये हुए मार्ग पर चलते और यदि ऐसा होता तो "सर्वधर्मान्परित्यज्य" इत्यादि श्लोकों में इतर धर्मों को छुड़ाकर एक धम का उपदेश क्यों किया जाता, इसलिये जिस प्रकार शङ्करभाष्यादिकों में इसकी सङ्गति लगाई है वह ठीक नहीं बैठती, यहां इस श्लोक की सङ्गति वही है जो हमने यज्ञादिकर्मों में आक्षेप उठाकर वर्णन की है और "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः" यजु० ३१ । ११ यह मन्त्र इस श्लोक का बीजभूत है, इसमें भी स्वभावसिद्ध ब्राह्मणादि वर्णों का भेद वर्णन किया है जन्म से नहीं॥

सं०-इसी कर्मयोग के प्रसङ्ग में कर्मों का महत्व दिखलाते हुए कृष्णजी कथन करते हैं कि:—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

पद०-न । मां । कर्माणि । लिम्पन्ति । न । मे । कर्मफले । स्पृहा । इति । मां । यः । अभिजानाति । कर्मभिः । न । सः । बध्यते ॥

पदा०-(मां) मुझको (कर्माणि) कर्म (न, लिम्पन्ति) स्पर्श नहीं करते, और न (मे) मेरी (कर्मफले) कर्मों के फल में (स्पृहा) इच्छा है (इति) इस प्रकार (यः) जो (मां) मुझको (अभिजानाति) जानता है (सः) वह (कर्मभिः) कर्मों के साथ (न, बध्यति) बन्धन को प्राप्त नहीं होता ॥

भाष्य-इस श्लोक का तत्व यह है कि मैं निष्कामकर्म करता हूं इसलिये न तो कर्म मुझे बन्धन में डालते हैं और न मुझे कर्मों की इच्छा होती

है, इस प्रकार जो मेरी निष्कामकर्म की फ़िलासफी को जानता है वह कर्मों के वन्धन में न आता हुआ सदा निष्कामकर्म करता है ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

पद०-एवं । ज्ञात्वा । कृतं । कर्म । पूर्वैः । अपि । मुमुक्षुभिः । कुरु । कर्म । एव । तस्मात् । त्वं । पूर्वैः । पूर्वतरं । कृतं ॥

पदा०-(पूर्वैः) पूर्वकाल में (मुमुक्षुभिः) मुक्ति की इच्छा करने वालों ने (एवं) इस प्रकार (ज्ञात्वा) जानकर (कर्म, कृतं) कर्म किये हैं (तस्मात्) इसलिये (त्वं) तू (कर्म, एव, कुरु) कर्म ही कर, क्योंकि (पूर्वैः, पूर्वतरं, कृतं) पूर्वज लोगों ने पूर्व युगों में ऐसा ही किया है ॥

सं०-ननु, आप जो बारम्बार कर्मों के करने का उपदेश करते हैं इसमें क्या अपूर्वता है, इसको तो सभी जानते हैं कि कर्मों का करना श्रेष्ठ है इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं, फिर वार२ कर्मोंका उपदेश क्यों ? उत्तरः-

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

पद०-किं । कर्म । किं । अकर्म । इति । कवयः । अपि । अत्र । मोहिताः । तत् । ते । कर्म । प्रवक्ष्यामि । यत् । ज्ञात्वा । मोक्ष्यसे । अशुभात् ॥

पदा०-(किं, कर्म) वास्तव में कर्म क्या है (किं, अकर्म) और वास्तव में अकर्म = न करने योग्य क्या है (कवयः) बुद्धिमान् (अपि) भी (अत्र) इस विषय में (मोहिताः) मोह को प्राप्त हैं (तत्) इसलिये (ते) तुमको (कर्म, प्रवक्ष्यामि) कर्मों का व्याख्यान करता हूं (यत्, ज्ञात्वा) जिसको जानकर (अशुभात्) मन्दकर्मों से (मोक्ष्यसे) छूट जायगा ॥

भाष्य-क्या कर्तव्य और क्या अकर्तव्य है, इस विषय में बहुतसे लोग भ्रम में पड़े हुए हैं, इसलिये कृष्णजी ने कहा है कि मैं तुमको कर्मों की फ़िलासफ़ी बतलाता हूं जिसको जानकर अशुभ कर्मों से सर्वथा छूट जायगा ॥

सं०-ननु, देह इन्द्रियादिकों के व्यापार का नाम "कर्म" और उस व्यापार के न करने का नाम "अकर्म" है इसको सभी जानते हैं फिर इस फ़िलासफ़ी में क्या गूढ़ता है ? उत्तरः—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

पद०-कर्मणः । हि । अपि । बोद्धव्यं । बोद्धव्यं । च । विकर्मणः । अकर्मणः । च । बोद्धव्यं । गहना । कर्मणः । गतिः ॥

पदा०-(हि) निश्चयकरके (कर्मणः) शास्त्रविहित जो कर्म उनका तत्व (अपि) भी (बोद्धव्यं) जानने योग्य है (च) और (विकर्मणः) शास्त्र से प्रतिषिद्ध जो कर्म हैं उनका तत्व भी (बोद्धव्यं) जानने योग्य है (च) और (अकर्मणः) न करना=कर्मों का अभाव भी जानने योग्य है (कर्मणः) कर्मों की (गतिः) ज्ञान (गहना) बहुत गहरा है ॥

भाष्य-"**कर्म, विकर्म, अकर्म**" यह तीन प्रकार के कर्म हैं **कर्म**=जो करने योग्य हैं, **विकर्म**=जो शास्त्र से निषिद्ध हैं और **अकर्म**=जिनकी न विधि न निषेध है, जैसाकि सन्ध्यावन्दन और शमदमादि जो वर्णचतुष्टय के धर्म हैं वह शास्त्र प्रतिपाद्य होने से "**कर्म**" महापातकादि शास्त्र निषिद्ध अधर्म का जनक होने से "**विकर्म**" और यथेष्टकर्म जो विधि निषेध से भिन्न हैं जैसे रात को खाना, दिन को खाना, श्वेतपीतादि वस्त्रों का पहरना इत्यादि विधिनिषेधशून्य होने से "**अकर्म**" कहलाते हैं, इस प्रकार उक्त तीनों कर्मों का तत्व जानने से विना पुरुष कर्म करने में चतुर नहीं होता, इसलिये कर्मों की गति को "**गहना कर्मणो गति**" कहा है ॥

सं०-अब उक्त तीनों प्रकार के कर्मों का तत्व जानने का प्रकार कथन करते हैं:—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

पद०-कर्मणि । अकर्म । यः । पश्येत् । अकर्मणि । च । कर्म । यः । सः । बुद्धिमान् । मनुष्येषु । सः । युक्तः । कृत्स्नकर्मकृत् ।

पदा०-(यः) जो (कर्मणि) कर्मों में (अकर्म) अकर्म को (च) और (यः) जो (अकर्म) अकर्म में (कर्म) कर्म को (पश्येत्) देखे (सः, मनुष्येषु, बुद्धिमान्) वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है (सः, युक्तः) वही योगी और वही (कृत्स्नकर्मकृत्) सब कर्मों के करने वाला है ॥

भाष्य-यह श्लोक ज्ञान कर्म के समुच्चय का विधान करता है कि जो कर्मों में अकर्म = ज्ञान को देखता और जो अकर्मणि = ज्ञान में कर्म देखता है वह सब मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही योगी और वही सब कर्मों के करने वाला है अर्थात् जो कर्म करते समय ज्ञानपूर्वक कर्मों को करता और ज्ञान समय अपने कर्त्तव्य को नहीं भूलता वही योगी और वही सब कर्मों के करने वाला है ॥

शङ्करमत में इसके यह अर्थ हैं कि कर्मों को करते समय जो अकर्म नाम कर्मों के अभाव को देखता और कर्मों के अभाव समय में जो कर्मों को देखता है अर्थात् जिस समय कर्म करता है उस समय यह समझता है कि यह कर्म मैं अविद्या में ही कर रहा हूं वास्तव में मैं कर्त्ता नहीं, यह कर्मों में अकर्म दर्शन है और अकर्म नाम ब्रह्म में जो अविद्या भूमी में कर्म देखता है यह अकर्म ब्रह्म में कर्मदर्शन है, इस प्रकार इस श्लोक से यह सिद्धान्त सिद्ध करते हैं कि "सर्वएवक्रिया कारकादिव्यवहारोऽविद्याभूमावेव कर्म यः पश्येत् स बुद्धिमान् मनुष्येषु" = जितना यह क्रिया कारकादि व्यवहार है यह सब अविद्याभूमी है वास्तव में नहीं, जब इसमें यह शङ्का कीगई कि कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म यह परस्पर विरुद्ध कैसे देखे ? इसका उत्तर यह दिया है कि "अकर्मैव परमार्थतः सत्कर्म वदवभासते मूढदृष्टेर्लोकस्य तथा कर्मैवाऽकर्मवत् तत्र यथा भूतदर्शनार्थमाह भगवान् कर्मण्यकर्म यः पश्येदित्यादि, अतो न विरुद्धं" गी० ४ । १८ शं० भा० = मूढ़दृष्टि वाले लोगों को अकर्म ही वास्तव में सच्चे कर्मों के समान प्रतीत होते हैं और वैसे ही कर्म अकर्म के समान प्रतीत होते हैं, इनके यथार्थ अर्थ दिखलाने के लिये भगवान् कृष्ण ने

"कर्मणि अकर्म यः पश्येत्" इत्यादि कथन किया है, इसलिये कोई विरोध नहीं, यहां शंकरमत का सार यह है कि जो इन लौकिक वैदिक सब कर्मों को स्वप्न पदार्थों के समान भ्रान्तिभूत देखता है वही योगी और वही सम्पूर्ण कर्मों के करने वाला है पर सब पदार्थों को मिथ्या सिद्ध करनेवाला मायावादियों का अर्थ गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि यदि इस श्लोक का आशय सब कर्मों को रज्जुसर्प के समान मिथ्या सिद्ध करने का होता तो गी० ४ । १६-२० में निष्काम कर्मों का विधान न कियाजाता, अधिक क्या, हम दृढ़ प्रतिज्ञा पूर्वक कहते हैं कि "धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे" से लेकर "यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः" इस अन्तिम श्लोक तक मायावादियों का जगत् को रज्जु सर्प के समान मिथ्या मानने का वाद कोई नहीं निकाल सकता, यह वाद स्वामी शं० चा० और इनके शिष्यों ने केवल मनोरथ मात्र से गीता में भरा है, गीताशास्त्र मिथ्यार्थ और मायावाद का उपदेश नहीं करता, देखो इसके प्रमाण में कर्म में अकर्म दर्शन को इस आगे के श्लोक में इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुःपण्डितं बुधाः ॥ १६ ॥

पद०—यस्य । सर्वे । समारम्भाः । कामसङ्कल्पवर्जिताः । ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं । तं । आहुः । पण्डितं । बुधाः ।

पदा०—(यस्य) जिसके (सर्वे) सब (समारम्भाः) प्रारम्भ कियेहुए कर्म (कामसङ्कल्पवर्जिताः) कामरूपी सङ्कल्प से वर्जित = निष्काम हैं (ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं) ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध होगये हैं कर्म जिसके उसको (बुधाः) बुद्धिमान् लोग (पण्डितं, आहुः) पण्डित कहते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में कर्मों की ज्ञानाकारता कथन की है कि जब कर्म ही ज्ञानरूप होजाते हैं तब उनकी ज्ञानाकारता कही जाती है, जिस अवस्था में जीव के सब कर्म कामनारूपी सङ्कल्प से वर्जित = निष्कामकर्म होजाते हैं उस समय कर्म और ज्ञान की एकता रूपी ज्ञानाग्नि से उसके बंधन के हेतु कर्म दग्ध होजाते हैं अर्थात् उसके सकामकर्म नहीं रहते, उस अवस्था में उसको बुद्धिमान् लोग "पण्डित" कहते हैं, इससे पूर्व श्लोक में कर्म में अकर्म

देखना जो कथन किया गया था वह यही ज्ञान कर्म का समुच्चय था, अविद्या भूमी में सब कर्मों को देखना, इस अर्थ का गन्धमात्र भी पूर्व श्लोक में न था, इसी निष्कामकर्मता को आगे इस प्रकार वर्णन करते हैं कि:—

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥

पद०—त्यक्त्वा । कर्मफलासङ्गं । नित्यतृप्तः । निराश्रयः । कर्मणि । अभिप्रवृत्तः । अपि । न । एव । किंचित् । करोति । सः ॥

पदा०—(कर्मफलासङ्गं) कर्म और उनके फलों में आसक्ति को (त्यक्त्वा) छोड़कर (नित्यतृप्तः) जो नित्य तृप्त है अर्थात् परमात्मा के आनन्द को लाभकर सर्वत्र निराकाङ्क्ष है (निराश्रयः) जो किसी का आश्रय नहीं करता (सः) वह पुरुष (कर्मणि) कर्मों में (अभिप्रवृत्तः) प्रवृत्त हुआ भी (न, एव, किंचित्, करोति) कुछ भी नहीं करता, फिर वह पुरुष कैसा है:—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥ २१ ॥

पद०—निराशीः । यतचित्तात्मा । त्यक्तसर्वपरिग्रहः । शारीरं । केवलं । कर्म । कुर्वन् । न । आप्नोति । किल्विषम् ॥

पदा०—(निराशीः) जिसकी तृष्णा दूर होगई है (यतचित्तात्मा) जिसनें चित्त = अन्तःकरण, आत्मा = इन्द्रियादि अवयव स्वाधीन किये हुए हैं और (त्यक्तसर्वपरिग्रहः) जिसने बन्धन के हेतु सब पदार्थों को छोड़ दिया है वह (केवलं) केवल (शारीरं, कर्म) शरीर सम्बन्धि कर्मों को करता हुआ (किल्विषं, न, आप्नोति) पाप को प्राप्त नहीं होता ॥

भाष्य—"शारीरं केवलं कर्म" इस कथन से पाया जाता है कि इस श्लोक में शरीरमात्र यात्रा करने वाला संन्यासी जिसने सब परिग्रह को छोड़दिया है वह निर्वाहमात्र काम करता हुआ भी पाप को प्राप्त नहीं होता अर्थात् यद्यपि लोकसंग्रह आदि अन्य कर्म भी उसके लिये

कर्तव्य थे पर निवृत्तिपरायण होने के कारण वह उन कर्मों को न करता हुआ भी दोष का भागी नहीं होता ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

पद०—यदृच्छालाभसंतुष्टः । द्वन्द्वातीतः । विमत्सरः । समः । सिद्धौ । असिद्धौ । च । कृत्वा । अपि । न । निबध्यते ॥

पदा०—(यदृच्छालाभसन्तुष्टः) शास्त्र की आज्ञानुकूल इच्छा का नाम "यदृच्छा" है, जैसाकि यमों में अपरिग्रह है उसके अनुकूल आचरण करने से जो लाभ होता है उससे सन्तुष्ट होने वाले का नाम "यदृच्छालाभसन्तुष्ट" है, फिर वह कैसा है (द्वन्द्वातीतः) शीतोष्ण, काम क्रोध, लोभ मोहादि द्वन्द्वों से अतीत = रहित (विमत्सरः) ईर्षा से रहित (सिद्धौ, असिद्धौ) कार्य्य की सिद्धि और असिद्धि में (समः) समान है अर्थात् हर्ष शोक को प्राप्त नहीं होता, ऐसा पुरुष (कृत्वा, अपि) कर्म करके भी (न, निबध्यते) बन्धन को प्राप्त नहीं होता ॥

भाष्य—जो पुरुष सिद्धि असिद्धि में हर्ष शोक और काम क्रोधादि द्वन्द्वों से रहित है वह शरीरयात्रा के कर्मों को करता हुआ बन्धन में नहीं पड़ता ॥

सं०—ननु, शरीरमात्र यात्रा करने वाले संन्यासी के कर्म तो इसलिये बन्धन का हेतु नहीं होते कि वह केवल शरीर यात्रा के लिये ही करता है पर जो लोग लौकिक वैदिक सब काम करते हैं उनके कर्म बन्धन का हेतु कैसे नहीं होते ? उत्तरः—

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

पद०—गतसंगस्य । मुक्तस्य । ज्ञानावस्थितचेतसः । यज्ञाय । आचरतः । कर्म । समग्रं । प्रविलीयते ॥

पदा०—(ज्ञानावस्थितचेतसः) ज्ञान में अवस्थित = स्थिर है चित्त जिस का ऐसे ज्ञानावस्थित चित्त वाले (मुक्तस्य) मुक्त पुरुष के, वह कैसा मुक्त पुरुष है (गतसंगस्य) जिसका किसी पदार्थ के साथ सङ्ग नहीं है, फिर वह

कैसा है (यज्ञाय, आचरतः) "यज्ञो वै विष्णुः"=जो परमेश्वर की आज्ञा के अनुकूल कर्म करता है उसके (समग्रं, कर्म) सब कर्म (प्रविलीयते) लय होजाते हैं अर्थात् उसके बन्धन का हेतु नहीं होते ॥

भाष्य-जो किसी कामना के लिये कर्म नहीं करता किन्तु एकमात्र परमात्मा को उद्देश्य रखकर उसके निष्पापादि धर्मों के धारण करने के लिये कर्म करता है ऐसे पुरुष के कर्म बन्धन का हेतु नहीं होते अर्थात् उसके वह कर्म सकामकर्म न होने से बन्धन का हेतु नहीं और इसलिये भी बन्धन का हेतु नहीं कि वह कर्म शमविधि से किये जाते हैं अर्थात् ब्रह्माकारवृत्ति से एकमात्र परमात्मा का ही अनुसन्धान उन यज्ञादि कर्मों में होता है, इस प्रकार ईश्वरपरायण होने से वह कर्म बन्धन का हेतु नहीं होते ॥

सं०-ननु, लौकिक वैदिक कर्म तत्तदोद्देश्य से किये हुए लय को किस प्रकार प्राप्त होजाते हैं ? उत्तरः—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्म कर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

पद०-ब्रह्म । अर्पणं । ब्रह्म । हविः । ब्रह्माग्नौ । ब्रह्मणा । हुतं । ब्रह्म । एव । तेन । गन्तव्यं । ब्रह्म । कर्मसमाधिना ॥

पदा०-(ब्रह्म, अर्पणं) अर्पण=जुह्वादि जिससे अर्पण किया जाता है वह ब्रह्म है, इसी प्रकार (ब्रह्म, हविः) जो हवन की सामग्री है वह भी ब्रह्म है (ब्रह्माग्नौ) ब्रह्मरूपी अग्नि में (ब्रह्मणा, हुतं) ब्रह्म से ही वह हवन किया गया (ब्रह्म, एव. तेन, गन्तव्यं) उस हवन से ब्रह्म ही गन्तव्य=प्राप्य है (ब्रह्म, कर्मसमाधिना) ब्रह्म कर्म में है समाधि नाम निश्चय जिसका ऐसे पुरुष से ब्रह्म ही गन्तव्य=प्राप्त होने योग्य है ॥

भाष्य- पूर्व श्लोक में "यज्ञाय, आचरतः" इस वाक्य से ब्रह्मयज्ञ में आचरण करने वाले पुरुष के समग्र कर्मों का लय कथन किया है, और इस श्लोक में उस ब्रह्मयज्ञ का वर्णन है जिसमें एकमात्र ब्रह्म ही ब्रह्म की प्रतीति होती है अन्य पदार्थान्तरों की नहीं, वह इस प्रकार कि जब उपासक एकमात्र ब्रह्म को लक्ष्य समझ लेता है उस समय वह यज्ञ के अन्य साधनों को करता हुआ भी एकमात्र ब्रह्माम्बुधि में ही निमग्न

रहता है, जैसाकि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानितिशान्तमुपासीत" छा० ३ । १४ । १ में वर्णन किया है कि उसी से सब पदार्थ उत्पन्न होते, उसी में लय होते और उसी में चेष्टा करते हैं, इस भाव से "सर्वंखल्विदंब्रह्म" यह उपासना करे कि यह सब ब्रह्म ही है, इस वाक्य में शमविधि का विधान किया है, एवं "ब्रह्मार्पणं" में भी शमविधि का विधान है जीव के ब्रह्म बनने का नहीं, वह इस प्रकार कि अर्पण, हवि, अग्नि, हवनकर्त्ता इत्यादि भिन्न २ पदार्थ भी उसको उस समय भिन्न २ प्रतीत नहीं होते किन्तु उस समय उसकी एकमात्र ब्रह्म-बुद्धि होती है ॥

ननु-तुम्हारे मत में अन्य में अन्य बुद्धि करना मिथ्याज्ञान है यदि अन्य में अन्य बुद्धि करना कोई दोष नहीं तो फिर मूर्त्तिपूजा में क्या दोष है ? उत्तर-इस श्लोक में अर्पणादिकों को ब्रह्म नहीं समझा गया, क्योंकि उस काल में शमविधि के प्रभाव से अर्पणादि भिन्न २ प्रतीत नहीं होते जैसा समाधिकाल में भिन्न २ बुद्धि नहीं रहती, एवं इस शमविधिकाल में भी भेदबुद्धि नहीं रहती, इस अभिप्राय से सब वस्तुओं को ब्रह्मभाव कथन किया गया है, इसलिये प्रतिमादिकों में मिथ्या विष्णु बुद्धि के समान यह बुद्धि नहीं ॥

और बात यह है कि इसमें जो " ब्रह्मकर्मसमाधिना " कहा है, इसके अर्थ यह हैं कि ब्रह्मरूप जो कर्म अर्थात् ज्ञान का विषय जो ब्रह्म उसमें समाधि=चित्तवृत्ति का निरोध है जिसका उसके लिये ब्रह्मयज्ञ में एकमात्र ब्रह्म का ही ध्यान रहता है, शङ्करमत में इस श्लोक के अर्थ यह हैं कि "यथाशुक्तिकायां रजताभावं पश्यति तदुच्यते ब्रह्मैवार्पणमिति"= जैसे सीपी में भ्रमरूप रजत को देखता हुआ भी ज्ञानकाल में सीपी से भिन्न चांदी को नहीं देखता. इसी प्रकार अर्पणादि सब ब्रह्म का विवर्त होने से ब्रह्म ही है अर्थात् शुक्तिरजत और रज्जुसर्प के समान सब पदार्थ ब्रह्म में कल्पित हैं, इस अभिप्राय से यह श्लोक है और इसी अभिप्राय से " कर्मण्यकर्म यः पश्येत् " यह श्लोक था और इसी आशय से एक ब्रह्म बोधन करने के लिये स्वभाष्य में स्वा० शं० चा० ने लिखा है कि

"तथेहापिब्रह्मबुद्ध्युपसृदितार्पणादि कारक क्रियाफल भेदबुद्धेर्बाह्यचेष्टामात्रेण कर्मापि विदुषोऽकर्म संपद्यते अत उक्तं समग्रं प्रविलीयत इति"=ब्रह्मबुद्धि से दूर करदिया है अर्पणादि जो कारक, उस सम्बन्धि क्रिया और उसका फल इत्यादि भेदबुद्धि की बाह्य चेष्टामात्र के अधीन होने से कर्म भी विद्वान् के अकर्म होजाते हैं इसी अभिप्राय से कहा है कि "समग्रं प्रविलीयते" = सब कर्म लय होजाते हैं ॥

अर्पणादिकों को मिथ्या मानकर सर्वब्रह्मवाद का यदि इस श्लोक में विधान होता जैसाकि शंकरभाष्य में माना है तो अग्रिम श्लोक में देवयज्ञ का भेदबुद्धि से विधान न किया जाता और नाही इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में "योगमातिष्ठोत्तिष्ठभारत" यह वाक्य कहा जाता, इस वाक्य के अर्थ यह हैं कि तुम कर्मयोग का ग्रहण करके उठ खड़े हो. यदि योगादि सम्पूर्ण कर्म ब्रह्म में कल्पित होते तो इस अध्याय के उपसंहार में योगादि कल्पित पदार्थों का उपदेश क्यों किया जाता. इससे पाया जाता है कि यहां ब्रह्मयज्ञ के वर्णन में ब्रह्म में समाधि=तदाकार वृत्ति को वर्णन करते हुए ब्रह्मकर्म में समाधि वाले पुरुष की ब्रह्माकार वृत्ति का वर्णन किया है, और आगे अन्य भिन्न २ यज्ञों का भेद इस प्रकार वर्णन करते हैं किः—

देवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

पद०-दैवं । एव । अपरे । यज्ञं । योगिनः । पर्युपासते । ब्रह्माग्नौ । अपरे । यज्ञं । यज्ञेन । एव । उपजुह्वति ।

पदा०-(अपरे) और (योगिनः) योगी (दैवं, यज्ञं) देवयज्ञ की (एव) ही (पर्युपासते) उपासना करते हैं (अपरे) अन्य (ब्रह्माग्नौ) ब्रह्मरूप जो अग्नि उसमें (यज्ञं) जीवात्मा को (यज्ञेन) आत्मसमर्पण द्वारा (एव) ही (उपजुह्वति) हवन कर देते हैं ॥

भाष्य-देवइज्यते येन तद्दैवं=जिस यज्ञ से देव=परमात्मा की

उपासना कीजाती है उसका नाम "देवयज्ञ" है और वही सन्ध्या वन्दनादि "ब्रह्मयज्ञ" कहाता है, कई एक योगी लोग उस यज्ञ की उपासना करते हैं, और दूसरे ब्रह्मरूप जो अग्नि अर्थात् "सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म" "विज्ञानमानन्दंब्रह्म" "यत्साक्षात् अपरोक्षाद्ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों द्वारा वर्णित जो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव ब्रह्म वह "आदित्यवर्णंतमसः परस्तात्" इत्यादि वाक्यों द्वारा स्वतःप्रकाश होने से अग्निरूप वर्णन किया गया है, उस ब्रह्मरूप अग्नि में अन्य लोग अपने आत्मा को समर्पण कर देते हैं, यज्ञ से तात्पर्य्य यहां आत्मा का है, क्योंकि यास्काचार्य्य ने आत्मा के नामों में "यज्ञ" शब्द पढ़ा है, मायावादियों के मत में वही "तत्त्वमसि" की कहानी यहां भी है कि ब्रह्मरूप अग्नि जो "तत्" पदार्थ है उसमें "त्वं" पदार्थरूप जीवात्मा को उपजुह्वति=हवन करते अर्थात् उन दोनों की एकता कर देते हैं, यदि इस श्लोक का यही तात्पर्य्य होता तो "त्वं" पदार्थ वाच्य जीवात्मा जब उसमें हवन किया गया तो फिर यज्ञों का अधिकारी कौन रहेगा ? और यहां इससे आगे कई प्रकार के यज्ञ वर्णन किये हैं, जैसाकिः—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

पद०—श्रोत्रादीनि । इन्द्रियाणि । अन्ये । संयमाग्निषु । जुह्वति । शब्दादीन् । विषयान् । अन्ये । इन्द्रियाग्निषु । जुह्वति ॥

पदा०—(श्रोत्रादीनि, इन्द्रियाणि) श्रोत्रादिक जो इन्द्रिय हैं उनको (अन्ये) अन्य पुरुष (संयमाग्निषु) संयमरूप अग्नि में (जुह्वति) हवन करते हैं अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि, इन तीनों का नाम "संयम" है, जैसाकि महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि "त्रयमेकत्र संयमः" यो० ३ । ४=इन तीनों को एकत्र करने का नाम संयम है, और अन्य लोग (शब्दादीन्, विषयान्) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, यह जो पांच विषय हैं उनको (इन्द्रियाग्निषु, जुह्वति) इन्द्रियरूप अग्नि में हवन कर

देते अर्थात् इनकी इच्छा को मार कर इन्द्रियरूप अग्नि में ज्ञान की दीप्ति के लिये डाल देते हैं, और वैसे हीः—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

पद०–सर्वाणि । इन्द्रियकर्माणि । प्राणकर्माणि । च । अपरे । आत्मसंयमयोगाग्नौ । जुह्वति । ज्ञानदीपिते ॥

पदा० (सर्वाणि, इन्द्रियकर्माणि) ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और इन सब इन्द्रियों के कर्म अर्थात् ज्ञान इन्द्रियों के शब्द, स्पर्शादि और कर्मेन्द्रियों के वचनादि, इन सब कर्मों और (प्राणकर्माणि) प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान यह पांच प्रकार के जो प्राण हैं इनके कर्म अर्थात् बाहर निकालना, नीचे लेजाना, इकट्ठे करना तथा फैलाना आदि उक्त प्राण और इन्द्रियों के कर्मों को (अपरे) अन्य योगी जन (आत्मसंयमयोगाग्नौ) आत्मसंयमरूप योग की अग्नि में (जुह्वति) हवन कर देते हैं, वह अग्नि कैसी है (ज्ञानदीपिते) जो ज्ञान से प्रकाशित है ॥

भाष्य–" आत्मसंयमयोगाग्नौ " के अर्थ यह हैं कि आत्मविषयक जो धारणा, ध्यान, समाधि, इनको एकत्र करके उससे परिपाक होने वाली जो निरोध रूप समाधि उसका नाम " आत्मसंयमयोगाग्नि है " ॥

स्वामी शङ्कराचार्य्य के शिष्यों ने अद्वैतवाद के रंग से रञ्जित होने के कारण इस श्लोक में भी मायावाद भरदिया है, जैसाकि "ज्ञानदीपिते" के यह अर्थ किये हैं कि " वेदान्तवाक्यजन्यो ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कारस्तेनाविद्या तत्कार्य्यनाशद्वारादीपिते" गी० ४। २७ मधुसूदन भाष्य = वेदान्त वाक्य से उत्पन्न हुआ जो ब्रह्म और जीवात्मा की एकता का साक्षात्कार, उस साक्षात्कार से अविद्या और अविद्या के कार्य्य नाश द्वारा जो आत्मसंयमरूप अग्नि जलाई गई है उसका नाम ज्ञान से दीप्त कीगई अग्नि के हैं, ज्ञान के अर्थ सम्पूर्ण गीता में कहीं भी जीव ब्रह्म की एकता के नहीं, फिर उक्त अर्थ कैसे ठीक होसक्ते हैं, जैसाकि " इदं ज्ञानमुपाश्रित्य ममसाधर्म्यमागता " इत्यादि श्लोकों में

कृष्णजी ने ज्ञान की उत्तमता यही मानी है कि जिससे पासक उपास्य के धर्मों को प्राप्त होता है न कि अपने आपको नाश करके वही बन जाता है, इस प्रकार गीता के आशय से यह व्याख्यान विरुद्ध है ॥

सं०-अब यज्ञ के अन्य भेदों का वर्णन करते हैं:—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

पद०-द्रव्ययज्ञाः । तपोयज्ञाः । योगयज्ञाः । तथा । अपरे । स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः । च । यतयः । संशितव्रताः ॥

पदा०-(तथा) इस प्रकार (अपरे) अन्य भी याज्ञिक लोग हैं जो निम्नलिखित यज्ञ करते हैं द्रव्ययज्ञाः)द्रव्य का यज्ञ करते अर्थात् वेद मन्त्रों से प्रज्वलिताग्नि में संस्कृत किये हुए सुगन्धित द्रव्य डालते हैं अथवा द्रव्यादिकों का दान देते हैं और (तपोयज्ञाः) जो तितिक्षु हैं उनका तप ही यज्ञ है (योगयज्ञाः) "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" यो० १ । २ इत्यादि शास्त्र प्रतिपाद्य अष्टांग योग ही जिनका यज्ञ है (च) और (संशितव्रताः) प्रशंसित व्रत वाले (यतयः) यति लोग (स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः)वेदाध्ययन और ज्ञान=प्रकृति, पुरुष तथा परमात्मविषयक ज्ञान, इन उक्त प्रकार के यज्ञों को कई एक यति लोग करते हैं ॥

सं०-अब प्राणायामरूप यज्ञ का वर्णन करते हैं:—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

पद०-अपाने । जुह्वति । प्राणं । प्राणे । अपानं । तथा । अपरे । प्राणापानगती । रुध्वा । प्राणायामपरायणाः ॥

पदा०-(तथा) वैसे ही (अपरे) और यज्ञ करने वाले पुरुष (अपाने) अपान वायु में (प्राणं, जुह्वति) प्राण को हवन करदेते हैं अर्थात् बाहर से प्राणवायु को खेंचकर अपानवायु में मिला देते हैं, इसी का नाम "पूरक" प्राणायाम है जो बाहर की वायु को भीतर भर लेना है, और लोग (प्राणे, अपानं) प्राणवायु में अपान को मिला देते हैं अर्थात् रेचक प्राणायाम करते हैं, भीतर से बड़े बलपूर्वक वा को बाहरयु

निकालने का नाम "रेचक" प्राणायाम है (प्राणापानगती) प्राण, अपान की जो गति उसको (रुद्ध्वा) रोक कर (प्राणायामपरायणाः) कई लोग प्राणायाम में तत्पर हैं, इसका नाम "कुम्भक" प्राणायाम है अर्थात् पूरक और रेचक प्राणायाम करने के अनन्तर जो दोनों वायुओं को भीतर ठहरा लिया जाता है यह प्राणापान की गति का रोकना है ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

पद०—अपरे । नियताहाराः । प्राणान् । प्राणेषु । जुह्वति । सर्वे । अपि । एते । यज्ञविदः । यज्ञक्षपितकल्मषाः ।

पदा०—(अपरे) और लोग (नियताहाराः) नियमपूर्वक आहार करने वाले (प्राणान्) प्राणों को (प्राणेषु, जुह्वति) प्राणों में हवन करदेते हैं अर्थात् अपने आहार के संयम से प्राण के भेदों को प्राणों में ही हवन करके लय करलेते हैं (सर्वे, एते, यज्ञविदः) यह सब यज्ञ के जानने वाले हैं जिन्होंने (अपि) निश्चयकरके (यज्ञक्षपितकल्मषाः) यज्ञ से अपने कल्मष=पापों को दूर करदिया है ॥

सं०—ननु, उक्त यज्ञों से पाप दूर होकर फिर क्या होता है? उत्तरः—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

पद०—यज्ञशिष्टामृतभुजः । यान्ति । ब्रह्म । सनातनं । न । अयं । लोकः । अस्ति । अयज्ञस्य । कुतः । अन्यः । कुरुसत्तम ॥

पदा०—(यज्ञशिष्टामृतभुजः) यज्ञ का शेष=बचा हुआ जो अमृत है उसके खाने वाले (सनातनं, ब्रह्म) सनातन जो ब्रह्म है उसको (यान्ति) प्राप्त होते हैं (कुरुसत्तम) हे कुरुओं में श्रेष्ठ अर्जुन ! (अयज्ञस्य) यज्ञ न करने वाले का (अयं, लोकः) यह लोक (न, अस्ति) ठीक नहीं होता (अन्यः) अन्य लोक (कुतः) कहां अर्थात् जो लोग यज्ञ नहीं करते उनको इस लोक में सुख नहीं होता अन्य लोक की तो कथा ही क्या ॥

भाष्य—"यज्ञ" शब्द के अर्थ यहां अनेक हैं, किसी स्थान पर परमात्मा की उपासना से यज्ञ का तात्पर्य्य है, किसी जगह ब्रह्माग्नि में आत्मसमर्पण का नाम यज्ञ है, कहीं प्राणायाम का नाम यज्ञ है, एवं अनेक अर्थ हैं, पर वह सब अर्थ इसके भीतर आजाते हैं कि आत्मिक संस्कार के लिये जो वैदिककर्म किये जाते हैं उनका नाम "यज्ञ" है, जैसाकि "इज्यते स यज्ञः"=जिससे सत्कारादि कर्म किये जायं उस का नाम "यज्ञ" है, इसी विषय को आगे के श्लोक में इस प्रकार कथन किया है किः—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

पद०—एवं । बहुविधाः । यज्ञाः । विततः । ब्रह्मणः । मुखे । कर्मजान् । विद्धि । तान् । सर्वान् । एवं । ज्ञात्वा । विमोक्ष्यसे ॥

पदा०—(एवं) इस प्रकार (बहुविधाः) बहुत प्रकार के (यज्ञाः) यज्ञ (विततः) विस्तारपूर्वक (ब्रह्मणः) वेद के (मुखे) द्वारा कथन किये हैं (तान्, सर्वान्) उन सब यज्ञों को (कर्मजान्, विद्धि) कर्म से उत्पन्न हुए ही जान (एवं ज्ञात्वा) इस प्रकार जानकर तू (विमोक्ष्यसे) कर्म के बन्धन से छूट जायगा ॥

भाष्य—इस श्लोक का आशय यह है कि जब तू निष्कामकर्म करेगा जो सब यज्ञों में मुख्य हैं तो फिर तेरे कर्म बन्धन का हेतु न होंगे ॥

सं०—ननु. इस श्लोक में आकर तो सब यज्ञों को कर्मप्रधान ही वर्णन कर दिया और २८ वें श्लोक में "स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च" इस वाक्य द्वारा ज्ञानयज्ञ का भी वर्णन किया था अब फिर सब यज्ञों को कर्मप्रधान क्यों निरूपण किया ? उत्तरः—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

पद०—श्रेयान् । द्रव्यमयात् । यज्ञात् । ज्ञानयज्ञः । परंतप । सर्वं । कर्म । अखिलं । पार्थ । ज्ञाने । परिसमाप्यते ॥

पदा०-(परंतप) हे अर्जुन ! (द्रव्यमयात्, यज्ञात्) द्रव्यरूपी यज्ञ से (ज्ञानयज्ञः) ज्ञानयज्ञ (श्रेयान्) श्रेष्ठ है, हे पार्थ (अखिलं, सर्वं, कर्म) जितने भी कर्म हैं वह सब नियमपूर्वक (ज्ञाने) ज्ञान में (परिसमाप्यते) समाप्त होजाते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में ज्ञान का प्राधान्य इसलिये निरूपण किया है कि जब वह कर्म ज्ञानाकारता को पहुंच जाते हैं तब वह पुरुष द्रव्यमयादि यज्ञों से श्रेष्ठ होजाता है अर्थात् उसकी साधारण कर्म के समान अवस्था नहीं रहती, इसलिये उस ज्ञान दशा में सम्पूर्ण कर्म समाप्त=गतार्थ होजाते हैं, इस अभिप्राय से ज्ञानयज्ञ को यहां अधिक वर्णन किया है ॥

मायावादी मधुसूदन स्वामी ने इसका यह आशय लिखा है कि जीव ब्रह्म की जो एकता है वह यहां "ज्ञान" शब्द से कथन कीगई है इसलिये उसमें सम्पूर्ण कर्म समाप्त होजाते हैं, यदि उक्त प्रकार के ज्ञान का तात्पर्य्य इस श्लोक में होता तो गी० ५।५ में यह वर्णन न किया जाता किः—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

गीता० ५ । ५

अर्थ—जिस स्थान को ज्ञानी लोग प्राप्त होते हैं उसी को कर्मयोगी प्राप्त होते हैं, ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों एक ही हैं, जो इस प्रकार से जानता है वही ठीक जानता है, इससे पाया जाता है कि इस श्लोक में जिस ज्ञानयोग की स्तुति की है वह कर्मयोग से भिन्न नहीं ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

पद०-तत् । विद्धि । प्रणिपातेन । परिप्रश्नेन । सेवया । उपदेक्ष्यन्ति । ते । ज्ञानं । ज्ञानिनः । तत्वदर्शिनः ॥

पदा०-(तत्) वह (प्रणिपातेन) नम्रतापूर्वक नमस्कारों से (परिप्रश्नेन) प्रश्नों से (सेवया) सेवा करने से (ते) तुम्हारे लिये (ज्ञानं) उस ज्ञान का (ज्ञानिनः) ज्ञानी लोग (उपदेक्ष्यन्ति) उपदेश करते हैं, वह कैसे ज्ञानी हैं (तत्वदर्शिनः) जिन्होंने तत्व को जाना है ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

पद०-यत् । ज्ञात्वा । न । पुनः । मोहं । एवं । यास्यसि । पाण्डव । येन । भूतानि । अशेषेण । द्रक्ष्यसि । आत्मनि । अथो । मयि ॥

पदा०-हे पाण्डव ! (यत्) जिसको (ज्ञात्वा) जानकर (पुनः) फिर (एवं) इस प्रकार के (मोहं) मोह को (न, यास्यसि) नहीं प्राप्त होगे और (येन) जिससे (भूतानि) सब प्राणियों को (अशेषेण) सम्पूर्ण रीति से (आत्मनि) परमात्मा में देखते हुए (मयि, अथो) मेरे में भी देखोगे ॥

भाष्य-इस श्लोक का तात्पर्य्य यह है कि इस ज्ञान को पाकर जब परमात्मा की विभूति को जीव देखता है तो सब भूतों को उसमें ओत प्रोत देखता है अथवा कृष्णजी कहते हैं कि तू मेरे में सब भूतों को ओत प्रोत देखेगा, जैसाकि आगे ११ वें अध्याय में उस विभूति का वर्णन आवेगा, और कृष्णजी ने अपना नाम इस अभिप्राय से लिया है कि वह तद्धर्मतापत्तिरूप योग से ईश्वर के गुणों को धारण कर चुके थे, जैसा कि इसी अध्याय के छठे श्लोक की व्याख्या में इन्द्रप्रतर्दनाधिकरण द्वारा कथन कर आये हैं, कृष्णजी के "अस्मच्छब्द" के प्रयोग देने से मायावादियों ने फिर अपनी माया यहां फैलाई है कि "भगवति वासुदेवेतत्पदार्थपरमार्थतोभेदरहितेअधिष्ठानभूतेद्रक्ष्यस्यभेदेनैवअधिष्ठानातिरेकेणकल्पितस्यभावात् मां भगवन्तं वासुदेवमात्मत्वेनसाक्षात्कृत्य सर्वाज्ञाननाशेन तत्कार्याणि भूतानि न स्थास्यन्तीति भावः" गी० ४।३५ म० सू०=मुझ भगवान् वासुदेव में जो "तत्" पद का अर्थ है जिससे वास्तव में कोई वस्तु भिन्न नहीं, ऐसे अधिष्ठानरूप मुझ में अभेदरूप से ही सम्पूर्ण भूतों को देखोगे, क्योंकि अधिष्ठान से भिन्न कल्पित वस्तुओं का जैसे अभाव होता है इसी प्रकार मुझ में सब वस्तुओं का अभाव है, मुझ भगवान् वासुदेव को तुम आत्मरूप से साक्षात्कार करके सम्पूर्ण अज्ञान के नाश होने से

उसके कार्य्य जो यह सब सत्व हैं वह नहीं रहेंगे, यह इस श्लोक का अर्थ किया है ॥

सम्पूर्ण सृष्टि के कल्पित होने का भाव यहां मधुसूदन स्वामी ने अपनी ओर से कल्पना कर लिया है, मेरे ही सब भूतों को देखोगे, यदि उक्त कथन से ही सब भूत कल्पित होते तोः—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥

यजु० ४० । ६

इस मंत्र में जो आत्मा का व्याप्यव्यापक भाव कथन किया है उससे सब संसार को कल्पित क्यों न मानाजाय, यदि कहो कि वहां भी कल्पित मानने से हमारी इष्टापत्ति है तो उत्तर यह है कि इससे पूर्व मन्त्र में परमात्मा को उस कल्पित जगत् का कर्त्ता क्यों कथन किया गया है ? और यदि ईश्वर से भिन्न सब पदार्थ गीता में कल्पित माने हुए होते तो गी० १३ । १९ में जाकर प्रकृति और जीवात्मा को अनादि क्यों कथन किया ? क्योंकि कल्पित पदार्थ तो तुम्हारे मत में अज्ञान से कल्पना किया जाता है फिर उसका अनादित्व क्या ? एवं विचार करने से आधुनिक वेदान्तियों की कल्पित कहानी का गन्ध भी गीता में नहीं मिलता, फिर भी मायावादी कहीं न कहीं माया फैलाकर अपनी कल्पित कहानी की कथा कथ ही छोड़ते हैं ॥

सं०—अब आगे ज्ञानयज्ञ की स्तुति कथन करते हैंः—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

पद०—अपि । चेत् । असि । पापेभ्यः । सर्वेभ्यः । पापकृत्तमः । सर्वं । ज्ञानप्लवेनं । एव । वृजिनं । संतरिष्यसि ॥

पदा०—(चेत्) यदि (सर्वेभ्यः, पापेभ्यः) सब पापियों से (पापकृत्तमः) तुम अधिक पापी (अपि) भी हो, तब भी (सर्वं, वृजिनं) सब पाप जो दुस्तर होने से समुद्र के समान हैं उनको (ज्ञानप्लवेन) ज्ञानरूपी नौका द्वारा (एव) निश्चयकरके (संतरिष्यसि) तर जाओगे ॥

भाष्य—ननु "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" इत्यादि वाक्यों में यह लिखा है कि कर्म बिना भोगने से नाश नहीं होते, फिर यहां पापकर्मों का नाश कैसे कथन किया गया? उत्तर—यहां जो भोग देने वाले कर्म हैं उनका नाश कथन नहीं किया गया किन्तु जो संस्काररूप कर्म हैं जिनका अभी आविर्भाव नहीं हुआ उनका नाश कथन किया गया है, जैसाकि "क्षीयन्तेचास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" इस उपनिषद् वाक्य में कथन किया है और इसी भाव को ब्र० सू० ४।१।१३ में भी कथन किया है, इसलिये कोई अर्थवाद नहीं, क्योंकि कृष्णजी का इसमें यह तात्पर्य्य है कि कोई पापी भी क्यों न हो उक्त ज्ञान के होने से वह पापात्मा नहीं रहता अर्थात् फिर वह पापकर्म नहीं करता, क्योंकि उसके पापकर्मरूप बीज का दाह होजाता है, जैसाकि इस अग्रिम श्लोक में वर्णन किया है कि:—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

पद०—यथा । एधांसि । समिद्धः । अग्निः । भस्मसात् । कुरुते । अर्जुन । ज्ञानाग्निः । सर्वकर्माणि । भस्मसात् । कुरुते । तथा ॥

पदा०—(अर्जुन) हे अर्जुन ! (समिद्धः) प्रज्वलित अग्नि (एधांसि) काष्ठों को (यथा) जिसप्रकार (भस्मसात्) भस्मीभाव करदेती है (तथा) इसी प्रकार (सर्वकर्माणि) सब कर्मों को (ज्ञानाग्नि) ज्ञानरूप अग्नि (भस्मसात्) भस्मीभूत (कुरुते) कर देती है ॥

सं०—अब उक्त ज्ञान की अर्थवाद से स्तुति करते हैं:—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

पद०—न । हि । ज्ञानेन । सदृशं । पवित्रं । इह । विद्यते । तत् । स्वयं । योगसंसिद्धः । कालेन । आत्मनि । विन्दति ॥

पदा०—(ज्ञानेन) ज्ञान के (सदृशं) बराबर (पवित्रं) पवित्र (इह) इस लौकिक वैदिक शास्त्र में (न, हि, विद्यते) अन्य कोई नहीं पाया

जाता (तत्) उस ज्ञान को (कालेन) चिरकाल से (योगसंसिद्धः) कर्मयोग की सिद्धि को प्राप्त हुआ २ (आत्मनि) अपने आप में (स्वयं, विन्दति) स्वयं लाभ कर लेता है ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह सन्देह था कि जब ज्ञान इतना उत्तम है तो मनुष्य ज्ञान ही को उपलब्ध करे फिर कर्म से क्या ? इसका उत्तर यह दिया है कि कर्मों की योग्यता प्राप्त किये विना उक्त ज्ञान नहीं हो सक्ता, इस कथन से यहां ज्ञान और कर्म के समुच्चय को सूचित किया है, यदि ज्ञान से यहाँ अद्वैतवादियों के ज्ञान का तात्पर्य्य होता तो फिर कर्मयोग की क्या आवश्यकता थी, क्योंकि जीव ब्रह्म की एकतारूप ज्ञान तो किसी अवस्थाविशेष की आवश्यकता नहीं रखता उसमें तो केवल वाक्यजन्य ज्ञान की आवश्यकता है, जैसाकि "नेदंरजतं शुक्तिरियं"= यह चाँदी नहीं यह सीपी है, इस भ्रमस्थल में वाक्यजन्य ज्ञान से भ्रमनिवृति होजाती है, इसी प्रकार तू संसारी जीव नहीं किन्तु ब्रह्म है, इस वाक्यजन्य ज्ञान से उनके मत में जीव ब्रह्मरूप एकता की सिद्धि हो जायगी फिर " योगसंसिद्धः " इस कथन से कर्मयोग के कथन करने की क्या आवश्यकता है, यहां कर्मयोग का कथन इस बात को सिद्ध करता है कि ज्ञान कर्म का समुच्चय ही पुरुषार्थ का हेतु है और वह ज्ञान श्रद्धा से मिलता है, जैसाकि:—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

पद०—श्रद्धावान् । लभते । ज्ञानं । तत्परः । संयतेन्द्रियः । ज्ञानं । लब्ध्वा । परां । शान्तिं । अचिरेण । अधिगच्छति ॥

पदा०—(श्रद्धावान्) श्रद्धावाला पुरुष (ज्ञानं) ज्ञान को (लभते) प्राप्त होता है जो (तत्परः) गुरु की सेवादिकों में लगा हुआ है, फिर कैसा है (संयतेन्द्रियः) वशीभूत इन्द्रियों वाला (ज्ञानं, लब्ध्वा) ज्ञान को लाभ कर (परां, शान्तिं) जो मुक्ति है उसको (अचिरेण) शीघ्र ही (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ॥

सं०- अब संशयात्मा को नाश की प्राप्ति कथन करते हैं:—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

पद०—अज्ञः । च । अश्रद्दधानः । च । संशयात्मा । विनश्यति । न । अयं । लोकः । अस्ति । न । परः । न । सुखं । संशयात्मनः ॥

पदा०—(अज्ञः) अज्ञानी पुरुष जिसने शास्त्र का अध्ययन नहीं किया (अश्रद्दधानः) जिसको गुरु तथा वेदवाक्य पर श्रद्धा नहीं (च) और (संशयात्मा) जिसके आत्मा में सदैव संशय बना रहता है, यह तीनों (विनश्यति) नाश को प्राप्त होते हैं (संशयात्मनः) जिसकी आत्मा में सदा संशय बना रहता है (न, अयं, लोकः) उसका न यह लोक (न, परः) न परलोक ठीक रहता है और (न, सुखं) न उसको सुख होता है ॥

सं०—अब संशयनिवृत्ति का उपाय कथन करते हैं:—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवंतं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

पद०—योगसंन्यस्तकर्माणं । ज्ञानसंछिन्नसंशयं । आत्मवन्तं । न । कर्माणि । निबध्नन्ति । धनंजय ॥

पदा०—हे धनंजय ! (योगसंन्यस्तकर्माणं) निष्कामकर्म द्वारा दूर करदिया है कर्मों का बन्धन जिसने, और (ज्ञानसंछिन्नसंशयं) नित्यानित्य वस्तु के विवेक द्वारा जिसने संशय को दूर करदिया है, ऐसे (आत्मवन्तं) आत्मिक बल वाले पुरुष को (कर्माणि) कर्म (न, निबध्नन्ति) नहीं बांधते ॥

भाष्य—जो पुरुष ज्ञान कर्म के समुच्चय वाला है अर्थात् कर्मयोग और ज्ञानयोग का साथ २ अनुष्ठान करता है, जैसाकि **"कर्मण्यकर्म यः पश्येत्"** इस श्लोक में वर्णन किया गया है, उसको कर्म बन्धन का हेतु नहीं होते, यहां ज्ञान कर्म के समुच्चय के उपपादन करने से एकमात्र जीव ब्रह्म की एकतारूप ज्ञान मानने वालों को मौन धारण करादिया, इस श्लोक में स्वामी शं० चा० और उनके शिष्यमण्डल ने मौन धारण करलिया है, यहां केवल ज्ञान का कोई दम नहीं भरा भरते ही कैसे, देखो फिर कृष्णजी कर्मयोग पर बल देते हैं कि:—

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

पद०—तस्मात् । अज्ञानसंभूतं । हृत्स्थं । ज्ञानासिना । आत्मनः । छित्वा । एनं । संशयं । योगं । आतिष्ठ । उत्तिष्ठ । भारत ॥

पदा०—(भारत) हे भारत ! (तस्मात्) इसलिये (अज्ञानसंभूतं) अज्ञान से उत्पन्न हुए (हृत्स्थं) बुद्धिस्थ (आत्मनः, संशयं) अपने संशय को (ज्ञानासिना, छित्वा) ज्ञानरूप खड्ग से छेदन करके (योगं) कर्मयोग को (आतिष्ठ) आश्रय कर (उत्तिष्ठ) उठ खड़ा हो ॥

भाष्य—इस श्लोक में ज्ञानरूपी खड्ग से संशय छेदन करने के अनन्तर योग का अनुष्ठान बतलाया है, इससे पाया जाता है कि मायावादियों के अज्ञाननिवर्त्तक मनोरथमात्र के ज्ञान का यहां गन्ध भी नहीं, क्योंकि यदि उनके जीव ब्रह्म के एकतारूपी ज्ञान का यहां वर्णन होता तो फिर उसके अनन्तर कर्म का अनुष्ठान कदापि न बतलाया जाता, जैसाकि गी० ४ । ३६ में " सर्वज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि " इस पर आनन्दगिरी लिखते हैं कि " ब्रह्मात्मैक्यज्ञानस्य सर्वपापनिवर्तकत्वेन महात्म्यमिदानीं प्रकटयति सर्वमिति"=जीव ब्रह्म की एकतारूप जो ज्ञान है वह सब पापों की निवृत्ति करने वाला है, यह बात "सर्व" पद से प्रकट है, यदि इस प्रकार का जीव ब्रह्म की एकता विषयक ज्ञान महर्षि व्यास को यहां इष्ट होता तो मायावादियों के ज्ञान को संशय छेदन का साधन बतलाकर अन्त में कर्मयोग का अनुष्ठान कथन न करते, इससे पाया गया कि कर्मयोग से अभ्युदय और तद्धर्मतापत्तिरूप मुक्ति की सिद्धि होती है, मायावादियों की पाषाणकल्प मुक्ति की कदापि नहीं ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीता-
योगप्रदीपार्य्यभाष्ये ज्ञान कर्म संन्यास
योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः

——:*:——

अथ पंचमोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०-चतुर्थाध्याय में कर्मयोग की ज्ञानाकारता कथन करके अर्थात् "कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः" गी० ४।१८ "यस्य सर्वेसमारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः" गी० ४।१६ "त्यक्त्वाकर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तोनिराश्रयः" गी० ४।२० इत्यादि श्लोकों में वर्णन किया है कि कर्मयोग को निष्कामता से करता हुआ पुरुष कर्मों में प्रवृत्त हुआ भी अकर्त्ता ही है अर्थात् निष्काम कर्म करने के कारण प्राकृत लोगों के कर्मों के समान उसके कर्म बन्धन का हेतु नहीं होते, इस प्रकार कर्मयोग की ज्ञानकारता कथन करके फिर ज्ञानयोग को सर्वोपरि वर्णन किया है, जैसाकि "श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परंतप" गी० ४।३३ "नहि ज्ञानेनसदृशं पवित्रमिहविद्यते" गी० ४।३८ इत्यादि श्लोकों में ज्ञान को अधिक वर्णन किया और फिर अंत में जाकर "योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत" गी० ४।४२ में कर्मयोग को सर्वोपरि रखदिया, इसलिये यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि कर्मयोग बड़ा है वा ज्ञानयोग ? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये यह अध्याय प्रारम्भ किया जाता है:-

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १॥

पद०-संन्यासं । कर्मणां । कृष्ण । पुनः । योगं । च । शंससि । यत् । श्रेयः । एतयोः । एकं । तत् । मे । ब्रूहि । सुनिश्चितं ॥

पदा०-हे कृष्ण ! तुम (कर्मणां) कर्मों के (संन्यासं) त्याग की (शंससि) प्रशंसा करते (च) और (पुनः) फिर (योगं) योग की प्रशंसा करते हो (एतयोः) इन दोनों में से (एकं, यत्, श्रेयः) एक जो श्रेष्ठ है (तत्) वह (मे) मेरे लिये (सुनिश्चितं) निश्चय करके (ब्रूहि) कहो ॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयस करावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

पद०—संन्यासः । कर्मयोगः । च । निःश्रेयसकरौ । उभौ । तयोः । तु । कर्मसंन्यासात् । कर्मयोगः । विशिष्यते ॥

पदा०—(सन्यासः) कर्मों का त्याग (च) और (कर्मयोगः) कर्मों का करना (उभौ) दोनों ही (निःश्रेयसकरौ) कल्याण के करने वाले हैं पर (तयोः) उक्त दोनों में से (तु) निश्चयकरके (कर्मसंन्यासात्) कर्मसंन्यास जो ज्ञानयोग है उससे (कर्मयोगः) कर्मों का करना (विशिष्यते) बड़ा है ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वंद्वो हि महावाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

पद०—ज्ञेयः । सः । नित्यसंन्यासी । यः । न । द्वेष्टि । न । कांक्षति । निर्द्वन्द्वः । हि । महावाहो । सुखं । वन्धात् । प्रमुच्यते ॥

पदा०—(सः) वह (नित्यसंन्यासी) सदैव संन्यासी (ज्ञेयः) जानना चाहिये (यः) जो (न, द्वेष्टि) न किसी के साथ द्वेष करता (न, कांक्षति) न इच्छा करता है (निर्द्वन्द्वः) और जो काम क्रोध मोहादि द्वन्द्वों से रहित है (महावाहो) हे वड़े वलवाले ! वह पुरुष (सुखं) सुखपूर्वक ही (वन्धात्) वन्धन से (प्रमुच्यते) छूटजाता है ॥

भाष्य—जो न किसी के साथ द्वेष करता और न राग करता है, ईश्वर की आज्ञा समझकर सव कर्त्तव्यों को करता चला जाता है वह सुखपूर्वक ही कर्मों के वन्धन से छूटकर मोक्ष को प्राप्त होता है ।

अद्वैतवादी इसके यह अर्थ करते हैं कि विज्ञान के प्रतिवन्धक जो कर्म उनसे छूट जाता है, क्योंकि इनका सिद्धान्त यह है कि कर्म अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु हैं और ज्ञान साक्षात् मुक्ति का हेतु है, इसलिये इन्होंने यह कल्पना की है, पर यह अर्थ इस श्लोक के कदापि नहीं, क्योंकि आगे के चतुर्थ श्लोक में इस वात को उपपादन किया है कि ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों एक ही पदार्थ हैं, फिर इनका यह कथन कैसे सङ्गत

होसक्ता है कि कर्म अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु और ज्ञान साक्षात् मुक्ति का हेतु है ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

पद०–सांख्ययोगौ । पृथक् । बालाः । प्रवदन्ति । न । पण्डिताः । एकं । अपि । आस्थितः । सम्यक् । उभयोः । विन्दते । फलं ॥

पदा०–(सांख्ययोगौ) " संख्यायते ज्ञातव्यविषया येन तत्सांख्यं"=जिससे जानने योग्य विषयों का वर्णन किया जाय उसका नाम "सांख्य" है अथवा संख्या नाम सम्यक् बुद्धि का है उसको जो प्राप्त कराये उसका नाम "सांख्य" है, इसप्रकार सांख्य नाम ज्ञानयोग का है, उस सांख्ययोग और कर्मयोग को (बालाः, पृथक्, प्रवदन्ति) बालक पृथक् २ कहते हैं (न, पण्डिताः) पण्डित नहीं, क्योंकि (एकं, अपि, आस्थितः) एक को भी आश्रय किया हुआ पुरुष (उभयोः) दोनों का जो (सम्यक्) ठीक२ (फलं) फल है उसको (विन्दते) लाभ करलेता है ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

पद०–यत् । सांख्यैः । प्राप्यते । स्थानं । तत् । योगैः । अपि । गम्यते । एकं । सांख्यं । च । योगं । च । यः । पश्यति । सः । पश्यति ॥

पदा०–(यत्, स्थानं) जो स्थान (सांख्यैः, प्राप्यते) सांख्य नाम ज्ञानयोग के मानने वालों को मिलता है (तत्) वही स्थान (योगैः, अपि) योग के मानने वालों से भी (गम्यते) उपलब्ध किया जाता है (सांख्यं) सांख्य (च) और (योगं) योग को (एकं) एक (यः, पश्यति) जो देखता है (सः, पश्यति) वही यथार्थ देखता है ॥

भाष्य-इन श्लोकों में महर्षिव्यास ने ज्ञानकर्म के समुच्चयवाद को स्पष्ट कर दिया कि ज्ञानयोग और कर्मयोग में कोई भेद नहीं, जैसाकि "कर्मण्यकर्म यः पश्येत्" इस श्लोक में कहा था कि ज्ञान और कर्म

दोनों को साथ २ जाने, यहां मायावादियों ने यह अर्थ किये हैं कि कर्मयोग अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा मोक्षरूपी स्थान की प्राप्ति का हेतु और ज्ञानयोग साक्षात् मुक्ति का हेतु है पर उनका यह आधुनिक भेद गीता के अर्थों को कदापि नहीं बिगाड़ सक्ता, देखो आगे के श्लोक में स्पष्टतया योग को मुक्ति का साक्षात् साधन कथन किया है, जैसाकिः—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

पद०—संन्यासः । तु । महाबाहो । दुःखं । आप्तुं । अयोगतः । योगयुक्तः । मुनिः । ब्रह्म । न । चिरेण । अधिगच्छति ॥

पदा०—(महाबाहो) हे बड़े बलवाले अर्जुन ! (संन्यासः, तु) संन्यास तो (अयोगतः) योग से विना (दुःखं, आप्तुं) बड़े दुःख से मिलता है और (योगयुक्तः) योग से युक्त जो (मुनिः) मननशील पुरुष हैं वह ब्रह्म को (चिरेण) चिर से (न, अधिगच्छति) प्राप्त नहीं होते अर्थात् योगी पुरुष को ब्रह्मप्राप्ति के लिये चिरकाल नहीं लगता ॥

भाष्य—यहां आकर कृष्णजी ने "**तयोस्तुकर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते**" गी० ५ । २ इस कथन को सफल करदिया कि कर्मयोग ही विशेष है, अब यहां मायावादियों से यह पूछना चाहिये कि तुम जो ब्रह्मप्राप्ति को मुक्ति मानते हो यहां तो ब्रह्मप्राप्ति साक्षात् कर्मयोग से कथन की है, यहां तुम्हारा मनोरथमात्र का निष्कर्मप्रधान ज्ञान कहां गया ।

सच तो यह है कि यदि मायावादियों की ब्रह्मप्राप्ति नित्यप्राप्त की प्राप्ति होती और केवल अपना भ्रम निवृत्त करना ही ज्ञान का प्रयोजन होता तो "**योगयुक्तोमुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति**" कृष्णजी यह कथन न करते, फिर तो इतना ही कहदेते कि "**ज्ञानयुक्तोमुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति**"=ज्ञानयुक्त मुनि शीघ्र ही उस ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, पर कह कैसे देते, यदि हाथ के कंकण के समान ब्रह्मप्राप्ति नित्यप्राप्त की प्राप्ति होती और केवल कंकण के समान नष्ट होने का भ्रम ही होता तो भ्रम के निवृत्त करने वाले ज्ञान से आधुनिक वेदान्तियों

की मुक्ति केवल ज्ञान से होजाती पर कृष्णजी के ध्यान में तो तद्धर्मतापत्तिरूप मुक्ति थी अर्थात् परमात्मा के निष्पापादि धर्मों के धारण करने का नाम "तद्धर्मतापत्ति" है, ऐसी मुक्ति केवल ज्ञान से कैसे मिल सक्ती है, इसलिये औपनिषद लोगों ने आत्मज्ञान के अनन्तर "आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" बृहदा० ४।५।६ इस प्रकार के योग का विधान किया है ॥

इस श्लोक के भाष्य में भी मधुसूदन स्वामी ने अर्थ फेरने की योग्यता उठा नहीं रखी, जैसाकि "अयोगतः=योगमन्तः करणशोधकंशास्त्रीयंकर्मान्तरेण हठादेव यः कृतः संन्यासः स तु दुखमाप्तुमेव भवति, अशुद्धान्तःकरणत्वेन तत्फलस्य ज्ञाननिष्ठाया असंभवात् शोधकत्वे च कर्मण्यधिकारात् कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टत्वेन परमसङ्कटापत्तेः कर्मयोगयुक्तस्तुशुद्धान्तःकरणत्वान्मुनिर्मननशीलः संन्यासी भूत्वा ब्रह्म सत्यज्ञानादिलक्षणमात्मानं न चिरेण शीघ्रमेवाधिगच्छति साक्षात्करोति प्रतिबन्धका भावात् एतच्चोक्तं प्रागेव न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते नच संन्यसनादेव सिद्धिंसमधिगच्छतीति, अत एकफलत्वेऽपि कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते इति यत्प्रागुक्तं तदुपपन्नम्" गी० ५।६ मधुसू० भा०

अर्थ-"अयोगतः" के अर्थ यह हैं कि योग जो अन्तःकरण को शुद्ध करने वाला शास्त्रीय कर्म है उससे बिना ही जिन्होंने हठ से संन्यास लिया है उनको वह संन्यास दुःख से ही मिलता है अर्थात् योगरूपकर्म से अन्तःकरण की शुद्धि करने के अनन्तर वह संन्यास ठीक होता है, अशुद्धान्तःकरण वाले को संन्यास नाम ज्ञान का होना असम्भव है और कर्मयोग से शुद्धान्तःकरण वाला मुनि संन्यासी होकर ब्रह्म जो सत्यज्ञानादि लक्षण वाला है उसको शीघ्र ही प्राप्त होजाता है, क्योंकि उस समय कोई प्रतिबन्धक नहीं रहता, इसीलिये कहा है कि बिना कर्मों के आरम्भ से

पुरुष निष्कर्मता को प्राप्त नहीं होसक्ता, और नाही केवल संन्यास से सिद्धि को प्राप्त होता है, इसलिये कर्मसंन्यास से कर्मयोग विशेष है ॥

इस समाधान में भी मधुसूदन स्वामी यहां तक गड़बड़ाये हैं कि कर्म-संन्यास से कर्मयोग को विशेष सिद्ध करते हुए "**नचसंन्यसनादेवसिद्धिं-समधिगच्छति**" यह लिख ही बैठे, जिसके अर्थ यह हैं कि संन्यास नाम केवल ज्ञान से कोई सिद्धि को प्राप्त नहीं होता, हम भी तो यही कहते हैं कि केवल ज्ञान से कोई सिद्धि को प्राप्त नहीं होता किन्तु वह ज्ञान जब योग के आकार को धारण करता अर्थात् अनुष्ठान के रूप में आता है तब उससे फलप्राप्ति होती है, यदि मान भी लिया जाय कि योग से केवल अन्तः-करण की शुद्धि होती है और मोक्षरूपी फल केवल ज्ञान ही से मिलता है तो अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु योग इस श्लोक में वर्णन कर दिया फिर आगे के श्लोकों में योग ही पुरुषार्थ का हेतु क्यों कहा है ? जैसाकिः—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

पद०—योगयुक्तः । विशुद्धात्मा । विजितात्मा । जितेन्द्रियः । सर्वभूतात्म-भूतात्मा । कुर्वन् । अपि । न । लिप्यते ।

पदा०—(योगयुक्तः) जो कर्मयोग से युक्त (विशुद्धात्मा) विशुद्ध= निर्मल अन्तःकरण वाला है (विजितात्मा) जिसने अपना देहरूपी आत्मा वश में करलिया है, फिर कैसा है (जितेन्द्रियः) जिसने वाग्दण्ड, मनोदण्ड, कायदण्ड, इन तीन दण्डों से सब इन्द्रियों को जीत लिया है, और (सर्वभूतात्मभूतात्मा) सब भूतों का आत्मभूत जो परमेश्वर वह है आत्मा जिसका अर्थात् उसको ही अपने आत्मवत् जो प्रिय मानता है (कुर्वन्, अपि, लिप्यते) वह कर्म करता हुआ भी कर्म के बन्धन में नहीं आता ॥

भाष्य—ऐसा पुरुष अपने लिये काम नहीं करता किन्तु ईश्वर आज्ञापूर्त्ति के लिये कर्म करता है, इसलिये उसके कर्म बन्धन का हेतु नहीं होते ॥

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जड़ चेतन सब वस्तुमात्र

को जो अपना आत्मा मानता है अर्थात् भेदबुद्धि नहीं करता वह कर्म के बन्धन में नहीं आता, पर जब उसमें भेदबुद्धि ही नहीं तो कर्म कैसे करेगा, क्योंकि क्रिया कारकादि व्यवहार भेदबुद्धि से बिना नहीं हो-सक्ता, और दूसरी बात यह है कि दशम् श्लोक में जाकर यह कथन करना है कि परमात्मा को समर्पण करके जो कर्म करता है वह बन्धन को प्राप्त नहीं होता, यदि भेदबुद्धि न होती तो परमेश्वर को समर्पण करके कर्म करने के क्या अर्थ ? इसलिये यहां तात्पर्य्य यह है कि जो ईश्वर को समर्पण करके निष्कामकर्म किये जाते हैं वह बन्धन का हेतु नहीं होते अर्थात् ईश्वर के निष्पापादि गुणों को धारण किया हुआ पुरुष अन्य पुरुषों के समान देखता, सुनता, खाता, पीता, प्रकृति के बन्धन में नहीं आता, इस भाव को आगे ८वें और ९वें श्लोकों में वर्णन किया है, जैसाकि:—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८॥

पद०—न। एव। किंचित्। करोमि। इति। युक्तः। मन्येत। तत्त्ववित्। पश्यन्। शृण्वन्। स्पृशन्। जिघ्रन्। अश्नन्। गच्छन्। स्वपन्। श्वसन् ॥

पदा०—(तत्त्ववित्) तत्त्ववेत्ता (युक्तः) जो योगी है वह (न, एव, किंचित्, करोमि) मैं कुछ नहीं करता यह माने, क्या करता हुआ (पश्यन्) देखता हुआ (शृण्वन्) सुनता हुआ (स्पृशन्) स्पर्श करता हुआ (जिघ्रन्) सूंघता हुआ (अश्नन्) खाता हुआ (गच्छन्) चलता हुआ (स्वपन्) सोता हुआ, और (श्वसन्) श्वास लेता हुआ ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणींद्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥ ९॥

पद०—प्रलपन्। विसृजन्। गृह्णन्। उन्मिषन्। निमिषन्। अपि। इन्द्रियाणि। इन्द्रियार्थेषु। वर्तन्ते। इति। धारयन् ॥

पदा०—(प्रलपन्) प्रलाप करता हुआ (विसृजन्) किसी वस्तु को छोड़ता हुआ (गृह्णन्) किसी को ग्रहण करता हुआ (उन्मिषन्) आंखों को खोलता हुआ (निमिषन्) मीचता हुआ, यह सब कुछ काम

करता हुआ (इन्द्रियाणि) इन्द्रियें (इन्द्रियार्थेषु) इन्द्रियों के अर्थों में (वर्त्तन्ते) वर्त्तन्ते हैं (इति, धारयन्) ऐसा धारण करता हुआ यह समझे कि मैं कुछ नहीं करता।

भाष्य-आत्मरति वाला पुरुष जिसकी एकमात्र परमात्मा में प्रीति है वह एवंविध शरीरयात्रा के लिये चेष्टा करता हुआ भी निष्कर्मी ही कहलाता है, इसलिये उसको इन कर्मों से कोई आयास अथवा कर्तव्यता प्रतीत नहीं होती ॥

मायावादियों के मत में इसके अर्थ यह हैं कि:—

"यस्यैवं तत्त्वविदः सर्वकार्य्यकरण चेष्टासु कर्म-
स्वकर्मैव पश्यतः सम्यग्दर्शिनस्तस्यसर्वकर्मसं-
न्यास एवाधिकारः कर्मणोऽभावदर्शनात्। नहि
मृगतृष्णिकायामुदकबुद्ध्या पानायप्रवृत्तउदका-
भावज्ञानेऽपि तत्रैव पानप्रयोजनाय प्रवर्तते"

गी०५।६ शं० भा० ॥

अर्थ-उक्त सब प्रकार की चेष्टाओं में जो कर्म में अकर्म देखने वाला सम्यग्दर्शी है उसके कर्मों का अभाव देखे जाने से उसका सब कर्मों के संन्यास में ही अधिकार है, जैसाकि मृगतृष्णा के जल की बुद्धि करके जो पुरुष पीने के लिये प्रवृत्त होता है और जब उसको उसमें जल के अभाव का ज्ञान होजाता है तब फिर वहां जल पीने के लिये नहीं जाता, इस प्रकार तत्त्ववेत्ता पुरुष उन मृगतृष्णारूपी कर्मों का कर्त्ता नहीं, यह भाव जो मिथ्या-वादियों ने इस श्लोक का निकाला है यह कदापि नहीं, यदि यह सब कर्म मिथ्या होने से वह अकर्त्ता समझा जाता तो आगे के श्लोक में इससे विरुद्धार्थ वर्णन न किये जाते, जैसाकि:—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥१०॥

पद०-ब्रह्मणि। आधाय। कर्माणि। सङ्गं। त्यक्त्वा। करोति। यः। लिप्यते। न। सः। पापेन। पद्मपत्रं। इव। अम्भसा ॥

पदा०-(यः) जो पुरुष (कर्माणि) कर्मों के (सङ्गं) सङ्ग को (त्यक्त्वा) छोड़कर (ब्रह्मणि, आधाय) ब्रह्म के आश्रित होकर कर्म करता है अर्थात् ईश्वरार्पण कर्म करता है स्वार्थ के लिये नहीं (सः) वह पुरुष (पापेन) पाप के साथ (अम्भसा) जल से (पद्मपत्रं) कमल के पत्ते के (इव) समान (न, लिप्यते) कर्म के सङ्ग को प्राप्त नहीं होता ॥

भाष्य-इस श्लोक का आशय यह है कि जो केवल ईश्वरार्थ कर्म करता है वह कर्मों के सङ्ग को प्राप्त नहीं होता अर्थात् उसके कर्म निष्काम ही होते हैं, जैसाकि स्वामी के लिये काम करने वाला सेवक उस कर्म के फल से मुक्त समझा जाता है ॥

सं०-ननु, जब वह अपने कर्मों को शरीर, मन, बुद्धि द्वारा करता है तो फिर वह उन कर्मों का कर्त्ता कैसे नहीं कहलाता ? उत्तरः—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वंति संगंत्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥

पद०-कायेन । मनसा । बुद्ध्या । केवलैः । इन्द्रियैः । अपि । योगिनः । कर्म । कुर्वन्ति । सङ्गं । त्यक्त्वा । आत्मशुद्धये ॥

पदा० (कायेन) केवल काया से (मनसा) केवल मन से (बुद्ध्या) केवल बुद्धि से (केवलैः, इन्द्रियैः, अपि) केवल इन्द्रियों से भी (योगिनः) योगी लोग (सङ्गं, त्यक्त्वा) सङ्ग को छोड़कर (आत्मशुद्धये) आत्मा की शुद्धि के लिये (कर्म, कुर्वन्ति) कर्म करते हैं ॥

भाष्य-यद्यपि काया, मन, बुद्धि अथवा केवल इन्द्रियों से योगीजन कर्म करते हैं पर जब वह कर्म किसी अन्य फल की इच्छा न करके केवल आत्मा की शुद्धि के लिये किये जाते हैं तब वह उन कर्मों को करता हुआ भी अकर्त्ता ही कहलाता है, क्योंकि वह कर्म किसी कामना के लिये नहीं किये गये ॥

सं०-ननु, आत्मा की शुद्धि भी एक कामना है फिर आपके सकामकर्म और निष्कामकर्मों में क्या भेद ? उत्तरः—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

पद०–युक्तः । कर्मफलं । त्यक्त्वा । शान्तिं । आप्नोति । नैष्ठिकीं । अयुक्तः । कामकारेण । फले । सक्तः । निबध्यते ॥

पदा०–(युक्तः) योगी पुरुष (कर्मफलं) कर्म के फल को (त्यक्त्वा) छोड़कर (नैष्ठिकीं) ब्रह्मनिष्ठा वाली (शांतिं) मुक्ति को (आप्नोति) प्राप्त होता और (अयुक्तः) जो योगी नहीं अर्थात् निष्कामकर्म करने वाला नहीं है वह (कामकारेण) काम करने से (फले) फल में (सक्तः) लगा हुआ (निबध्यते) बांधा जाता है ॥

भाष्य–योगी मुक्ति के लिये कर्म करता है इसलिये वह कर्म उसके बन्धन का हेतु नहीं होते और जो योगी नहीं है वह काम्यकर्मों अर्थात् स्त्री, पुत्र, धनादिकों की इच्छा से कर्म करता है इसलिये वह कर्मों में बांधा जाता है, और योगी पुरुष का यह भी भेद है कि:—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

पद०–सर्वकर्माणि । मनसा । संन्यस्य । आस्ते । सुखं । वशी । नवद्वारे । पुरे । देही । न । एव । कुर्वन् । न । कारयन् ॥

पदा०–(सर्वकर्माणि) सब कर्मों को (मनसा) मन से (संन्यस्यं) त्यागकर (सुखं, आस्ते) सुखपूर्वक स्थिर होता है वह (वशी) जितेन्द्रिय सुखपूर्वक कहां ठहरता है (निवद्वारे, पुरे) नवद्वारों वाला जो पुर नाम शरीर है उसमें, छः ज्ञानेन्द्रियों के द्वार और सातवां मस्तिष्क के ऊपर मूर्धादेश में और दो मल मूत्र के, इस प्रकार नवद्वारों वाले शरीर में (देहि) जीवात्मा स्थिर रहता है (न, एव, कुर्वन्) न कुछ करता और (न, कारयन्) न करने की प्रेरणा करता है अर्थात् समाधि अवस्था में जब सब कर्मों को मन से त्याग देता है तब इस शरीर में रहता हुआ ही न कर्म करता और न कर्म करने की प्रेरणा करता है ॥

सं०–ननु, जब परमात्मा ने उसको कर्मों का कर्त्ता बनाया और उसके कर्म बनाये, फिर यह कैसे होसक्ता है कि पूर्वोक्त देह में रहकर भी कर्म न करता हुआ स्वतन्त्र रहे ? उत्तरः—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥ १४ ॥

पद०—न । कर्तृत्वं । न । कर्माणि । लोकस्य । सृजति । प्रभुः । न । कर्मफलसंयोगं । स्वभावः । तु । प्रवर्त्तते ॥

पदा०-(लोकस्य) यह जो जीवलोक है इसके (कर्माणि) कर्मों को (प्रभुः) परमात्मा (न, सृजति) नहीं रचता (न, कर्तृत्वं) न उस के कर्तापन को रचता और (न, कर्मफलसंयोगं) कर्मों का जो फल उसके साथ संयोग को भी परमात्मा नहीं रचता (स्वभावः) जो पूर्वकृत प्रारब्ध कर्मों से उस जीव का साधु असाधु रूप स्वभाव बना है वही उस जीव की प्रकृति का हेतु है, उस स्वभाव ही से कर्तृत्वादि व्यापार में (प्रवर्त्तते) प्रवृत्त होता है ॥

भाष्य-जब वह स्वभाव चित्तवृत्तिनिरोध से रुक जाता है फिर वह उस काल में फल देने के लिये समर्थ नहीं होता, इस प्रकार शरीर में रहकर भी जीव निष्काम होसकता है ॥

सं०-ननु, जब वह अपने भक्तों को निष्पाप कर-देता और पापी भक्तों को पुण्यात्मा बना देता है, फिर कैसे कहा जाता है कि परमात्मा हर्त्ता कर्त्ता नहीं ? उत्तरः—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जंतवः ॥ १५ ॥

पद०—न । आदत्ते । कस्यचित् । पापं । न । च । एव । सुकृतं । विभुः । अज्ञानेन । आवृतं । ज्ञानं । तेन । मुह्यन्ति । जन्तवः ॥

पदा०-(कस्यचित्, पापं) किसी के पाप को (विभुः) परमात्मा (न, आदत्ते) नहीं लेता (न, च, एव) और नाही (सुकृतं) पुण्य को लेता है (अज्ञानेन) अज्ञान से (ज्ञानं) ज्ञान (आवृतं) ढका रहता है (तेन) इस कारण (जन्तवः) प्राणी (मुह्यन्ति) मोह को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार ईश्वर किसी के पाप पुण्य का हर्त्ता कर्त्ता नहीं किन्तु जीव के अज्ञान से ही पाप पुण्य उत्पन्न होते हैं, जैसाकि आगे के श्लोक में भी कहते हैं कि:—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

पद०—ज्ञानेन । तु । तत् । अज्ञानं । येषां । नाशितं । आत्मनः । तेषां । आदित्यवत् । ज्ञानं । प्रकाशयति । तत् । परम् ॥

पदा०—(येषां) जिन जीवों के (आत्मनः) आत्मा का (तत्) वह (अज्ञानं) अज्ञान (ज्ञानेन) ज्ञान से (नाशितं) दूर होगया है (तेषां) उनका (आदित्यवत्) आदित्य के समान जो प्रकाश वाला ज्ञान वह ज्ञेय वस्तु को (प्रकाशयति) प्रकाश कर देता है, वह ज्ञान कैसा है (तत्परं) परमात्मविषयक अर्थात् परमार्थ वस्तु विषयक है, वह ज्ञान किस प्रकार उसका प्रकाश करता है ? उत्तरः—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

पद०—तत् । बुद्धयः । तदात्मानः । तन्निष्ठाः । तत्परायणाः । गच्छन्ति । अपुनरावृत्तिं । ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

पदा०—(तत्, बुद्धयः) उस परमात्मा में है बुद्धि जिनकी (तदात्मानः) वही है आत्मा जिनका (तन्निष्ठाः) उसी परमात्मा में जिनकी निष्ठा है अर्थात् सर्व कर्मों को जिन्होंने ईश्वराधीन करदिया है और (तत्परायणाः) वही है परं अयंन नाम गति जिनकी वह (गच्छन्ति, अपुनरावृत्तिं) अपुनरावृत्ति नाम तद्धर्मतापत्तिरूप मुक्ति को प्राप्त होते हैं, फिर वह कैसे हैं (ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः) ज्ञान से निर्धूत नाम दूर होगये हैं कल्मष=पाप जिनके, उनका वह ज्ञान प्रकाशक होता है ॥

भाष्य—ननु, तुम्हारे मत में तो मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है और यहां तो मुक्ति को अपुनरावृत्ति लिखा है जिसके अर्थ यह हैं कि जिससे पुनरावृत्ति न हो ? उत्तर—अपुनरावृत्ति शब्द के यहां यह अर्थ नहीं किन्तु यह अर्थ है कि "आवर्तनं आवृत्तिः"=जिसमें बारम्बार अभ्यास किया जाय उसका नाम "आवृत्ति" है, जैसाकि "आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" यह आवृत्ति है, इस प्रकार की

आवृत्ति मुक्ति में मुक्त पुरुष को नहीं करनी पड़ती, क्योंकि मुक्ति तद्धर्मतापत्ति=ईश्वर के धर्मों की प्राप्ति है, इसलिये फिर वहां अभ्यासरूप आवृत्ति की आवश्यकता नहीं, इसलिये मुक्ति को अपुनरावृत्ति कहते हैं, "न पुनरावृत्तिर्यस्यां सा अपुनरावृत्तिः"=न हो पुनरावृत्ति नाम अभ्यास जिसमें सो कहिये अपुनरावृत्ति, ऐसी मुक्ति को प्राप्त होते हैं, अपुनरावृत्ति वाली मुक्ति कथन करने से जीवन्मुक्ति की भी व्यावृत्ति होगई अर्थात् उससे भेद करने से यह विशेषण सार्थक होगया ॥

मायावादी और पौराणिकों की न लौटने वाली मुक्ति का खण्डन हमने विस्तारपूर्वक " वेदान्तार्य्यभाष्य " के अन्तिम सूत्र में किया है जो विशेष देखना चाहें वहां देखलें ॥

सं०—ननु, जिस ज्ञान में ईश्वराकार बुद्धि होजाती है उसकी परीक्षा क्या ? उत्तरः—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥१८॥

पद०—विद्याविनयसम्पन्ने । ब्राह्मणे । गवि । हस्तिनि । शुनि । च । एव । श्वपाके । च । पण्डिताः । समदर्शिनः ॥

पदा०—(विद्याविनयसम्पन्ने) विद्या और विनय=नम्रता से सम्पन्न (ब्राह्मणे) ब्राह्मण में (गवि) गौ में (हस्तिनि) हाथी में (शुनि) कुत्ते में (च) और (श्वपाके) अत्यन्त अधम चाण्डालादिकों में जो (समदर्शिनः) समदर्शी है अर्थात् उक्त प्रकार के ऊंच नीच जीवों में जो रागद्वेषबुद्धि नहीं करते वह समदर्शी (पण्डिताः) पण्डित कहलाते हैं ॥

भाष्य—जिनकी इस प्रकार की रागद्वेषशून्य बुद्धि होजाती है वह लोग "तद्बुद्धयस्तदात्मानः" इस श्लोक में कथन कीगई बुद्धि वाले होते हैं अर्थात् उनको आत्मरति छोड़कर किसी में रागद्वेष करने की बुद्धि नहीं रहती, इसलिये वह लोग समदर्शी कहलाते हैं, स्वामी शं० चा० और उनके चेले यहां समदर्शी के यह अर्थ करते हैं कि "यथागंगातोयतड़ागे सुरायां मूत्रे वा प्रतिबिम्बितस्यादित्यस्य न तद्गुण-

दोषसम्बन्धस्तथा ब्रह्मणोऽपि चिदाभासद्वाराप्रतिबिम्बितस्य नोपाधिगतगुणदोषसम्बन्धः ” = जैसे गंगाजल, तालाव का जल, सुरा=मदिरा और मूत्र में जो प्रतिबिम्बित सूर्य्य है उसको इन वस्तुओं के गुण दोष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, इसी प्रकार ब्रह्म जो चिदाभास द्वारा प्रतिबिम्बित है उसको उपाधि के गुण दोषों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, इस भाव से जो समदर्शी है जिसकी दृष्टि में ब्राह्मण, गौ, कुत्ते आदिकों में सर्वत्र ब्रह्म ही जीवभाव को प्राप्त होरहा है उसको "समदर्शी" कहते हैं ॥

ब्रह्म ही ऊंच नीच योनियों में प्रविष्ट होकर जीव बन रहा है, यह भाव गीता का कदापि नहीं, क्योंकि यदि नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म ही जीव बनजाता तो फिर उसकी नित्यशुद्धबुद्धमुक्तता ही क्या ? अज्ञानी जीव भी अपने लिये आप जेलखाना बनाकर आप प्रविष्ट नहीं होता तो ज्ञानी ब्रह्म की तो कथा ही क्या, ब्रह्म अपने आप जीव कदापि नहीं बनसक्ता, इस वात को हम विस्तारपूर्वक " वेदान्तार्य्यभाष्य " के " कृत्स्नप्रसक्तिनिरवयवत्वशब्दकोपो वा " ब्र० सू० २ । १ । २६ में इस प्रकार वर्णन कर आये हैं कि सारा ब्रह्म जीव बन जायगा तो शेष ब्रह्म नहीं रहेगा और यदि कुछ ब्रह्म भिन्न २ जीवों के भाव को धारण करेगा तो ब्रह्म निरवयव नहीं रहेगा, यहां समदर्शी के यह अर्थ कदापि नहीं कि सब शरीरों में ब्रह्म जीवभाव से प्रविष्ट होरहा है, यदि यह अर्थ होते तो आगे के श्लोकों में समदर्शी के वर्णन में यह न कहा जाता कि:—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१६॥

पद०—इह । एव । तैः । जितः । सर्गः । येषां । साम्ये । स्थितं । मनः । निर्दोषं । हि । समं । ब्रह्म । तस्मात् । ब्रह्मणि । ते । स्थिताः ॥

पदा०—(तैः) उन समदर्शियों ने (इह) इसी जन्म में (एव) निश्चयकरके (सर्गः) संसार को (जितः) जीत लिया है (येषां) जिनका (मनः) मन (साम्ये) समता में (स्थितं) स्थिर है (हि)

जिसलिये (निर्दोषं) निर्दोष (समं) एकरस ब्रह्म है (तस्मात्) इसलिये (ब्रह्मणि) ब्रह्म में (ते) वे (स्थितः) स्थिर हैं ॥

भाष्य—इस जन्म में उन्होंने मन को इसलिये जीत लिया है कि कूटस्थ नित्य निर्दोष ब्रह्म जैसे निश्चल है इसी प्रकार जब उसके धर्मों को धारण करके जीव भी निर्दोष और एकाग्रवृत्ति वाला होजाता है तब वह ब्रह्म में स्थिर समझा जाता है ;

यदि मायावादियों के मतानुकूल जीव के ब्रह्म बनने का उपदेश इन श्लोकों में होता तो यह न कहा जाता कि "तस्मात्ब्रह्मणि ते स्थिताः"= निर्दोष और समता के कारण वह ब्रह्म में स्थिर हैं किन्तु ब्रह्म का विवर्त्त होने से घट फूटकर जैसे मिट्टी होजाता है और सुवर्ण के भूषण टूटकर जैसे सुवर्ण होजाते हैं इस प्रकार ज्यों का त्यों ब्रह्म बनने का कथन होता, इस बात का उपदेश न होता कि जब उसको रागद्वेष नहीं रहता तब वह ब्रह्म में स्थिर समझा जाता है, जैसाकिः—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणिस्थितः ॥२०॥

पद०—न । प्रहृष्येत् । प्रियं । प्राप्य । न । उद्विजेत् । प्राप्य । च । अप्रियं । स्थिरबुद्धिः । असंमूढः । ब्रह्मवित् । ब्रह्मणि । स्थितः ॥

पदा०—(प्रियं) प्यारी वस्तु को (प्राप्य) प्राप्त होकर (न, प्रहृष्येत्) न प्रसन्न हो और न (अप्रियं) अप्रिय वस्तु को (प्राप्य) प्राप्त होकर (उद्विजेत्) उद्वेग=दुखी हो (स्थिरबुद्धिः) सदैव स्थिर बुद्धि वाला रहे (असंमूढः) मोह को कभी प्राप्त न हो, इस प्रकार का (ब्रह्मवित्) ब्रह्म को जानने वाला (ब्रह्मणि, स्थितः) ब्रह्म में स्थिर समझा जाता है ॥

सं०—ननु, तुम्हारे मत में जब मुक्तिकाल में भी जीव का ब्रह्म से भेद ही रहता है तो फिर वह ब्रह्म के आनन्द को कैसे लाभ करसक्ता है ? उत्तरः—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥

पद०—बाह्यस्पर्शेषु । असक्तात्मा । विन्दति । आत्मनि । यत् । सुखं ।

सः । ब्रह्मयोगयुक्तात्मा । सुखं । अक्षय्यं । अश्नुते ॥

पदा०-(बाह्यस्पर्शेषु) बाहर के जो स्पर्श=शब्द, स्पर्शादि विषय उनमें (असक्तात्मा) जिसका आत्मा फसा हुआ नहीं वह (आत्मनि) अपने आप में (यत्सुखं) जिस सुख को (विन्दति) लाभ करता है उस सुख को (ब्रह्मयोगयुक्तात्मा) ब्रह्म का जो योग अर्थात् ब्रह्म के साथ जो सम्बन्ध उससे युक्त है आत्मा जिसका (सः) वह (अक्षय्यं, सुखं) नाश न होने वाले सुख को (अश्नुते) भोगता है ॥

भाष्य-ब्रह्मयोग से तात्पर्य्य यहां तद्धर्मतापत्ति का है, जैसाकिः—

(१) "परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिसम्पद्यते"

(२) "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता"

(३) यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥

मुण्डक० ३ । २ । ३

(४) इदं ज्ञानमुपाश्रित्य ममसाधर्म्यमागताः ॥ गी०१४।२

अर्थ—(१) उस परंज्योति को प्राप्त होकर अपने निर्मल स्वरूप से स्थिर होता अर्थात् उस परंज्योति परमात्मा के निष्पापादि धर्मों को पाकर ही जीवात्मा निर्मल होता है (२) वह सब आनन्दों को ब्रह्म के साथ भोगता है (३) जब जीवात्मा उस स्वयंप्रकाश सब जगत् की योनि परमात्मा का साक्षात्कार करलेता है तब पुण्य पाप को छोड़ निष्पाप होकर परब्रह्म के साथ समता को प्राप्त होता है (४) इस ज्ञान को पाकर मेरी समता को प्राप्त होता है, इस प्रकार के सम्बन्ध का नाम यहां " ब्रह्मयोग " है, इस योग को उपलब्ध किया हुआ पुरुष ब्रह्म के अक्षय सुख को इस प्रकार भोगता है जिसप्रकार बाह्य विषयों से रहित जो अंतर्मुख पुरुष है वह चित्तवृत्तिनिरोधरूपी सुख को अनुभव करता है ॥

इस श्लोक से स्पष्ट होगया कि मुक्ति में जीव का ब्रह्म के साथ योग होता है ब्रह्म का स्वरूप नहीं होता, यदि जीव मुक्ति में ब्रह्म होजाता तो

"ब्रह्मयोगयुक्तात्मा" कथन करने की आवश्यकता न पड़ती और फिर इस बात के उपदेश की भी आवश्यकता न होती कि बाह्य स्पर्शों में जो आसक्त नहीं वही आत्मिक सुख को लाभ करता है, क्योंकि ब्रह्म बनने में तो बाह्य स्पर्श रहते ही नहीं फिर शमदमादिकों की शिक्षा की क्या आवश्यकता है ॥

मधुसूदन स्वामी ने "ब्रह्मयोगयुक्तात्मा" के अर्थ जीव ब्रह्म की एकता के किये हैं और फिर यहां वही "तत्त्वमसि" की सम्पूर्ण कहानी लिखदी है, अस्तु-इस खेंच से क्या, "ब्रह्मयोग" शब्द ही इस बात को स्पष्ट करता है कि मुक्ति में जीव ब्रह्म नहीं बनता किन्तु ब्रह्म के साथ युक्त होता है ॥

सं०-ननु, जब ब्रह्म के साथ युक्त होना ही मुक्ति है तो ज्ञानदृष्टि से ब्रह्म के साथ युक्त रहे और सांसारिक भोग भी भोगता रहे, फिर मुक्त पुरुष बाह्य विषयों से असंग क्यों रहे ? उत्तरः—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवंतः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

पद०—ये । हि । संस्पर्शजाः । भोगाः । दुःखयोनयः । एव । ते । आद्यन्तवन्तः । कौन्तेय । न । तेषु । रमते । बुधः ॥

पदा०—(हि) निश्चयकरके (संस्पर्शजाः) इन्द्रियों के सम्बन्ध से (ये) जो (भोगाः) भोग होते हैं (ते) वे (दुःखयोनयः) दुःख के कारण ही होते हैं, हे कौन्तेय ! फिर वह कैसे हैं (आद्यन्तवन्तः) आदि और अन्त वाले अर्थात् उत्पत्ति और नाश वाले हैं (तेषु) उनमें (बुधः) बुद्धिमान् (न, रमते) प्रवृत्त नहीं होते ॥

सं०—ननु, शरीर छोड़ने के अनन्तर वह भोग अपने आप छोड़ जायँगे, फिर यहां उनके छोड़ने का यत्न करने से क्या लाभ ? उत्तरः—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

पद०—शक्नोति । इह । एव । यः । सोढुं । प्राक् । शरीरविमोक्षणात् । कामक्रोधोद्भवं । वेगं । सः । युक्तः । सः । सुखी । नरः ॥

पदा०-(शरीरविमोक्षणात्) शरीर छोड़ने से (प्राक्) पहिले (कामक्रोधोद्भवं) काम क्रोध से उत्पन्न हुए (वेगं) वेग को (यः) जो (नरः) पुरुष (इह. एव) इसी जन्म में (सोढुं) सहारने को (शक्नोति) समर्थ होता है (सः, युक्तः) वही योगी और (सः, सुखी) वही सुखी है ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेवयः ।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

पद०-यः । अन्तःसुखः । अन्तरारामः । तथा । अन्तर्ज्योतिः । एव । यः । सः । योगी । ब्रह्मनिर्वाणं । ब्रह्मभूतः । अधिगच्छति ॥

पदा०-(यः) जो पुरुष (अन्तःसुखः) अपने आत्मा में सुखवाला (अन्तरारामः) अपने आत्मा में ही रमण करने वाला (तथा) इसी प्रकार (अन्तर्ज्योतिः) अन्तर है ज्योति नाम प्रकाश जिसके (सः, योगी) वह योगी (ब्रह्मभूतः) ब्रह्म के गुणों को धारण करके (ब्रह्मनिर्वाणं) मुक्ति को (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ॥

भाष्य-अन्तर्मुख पुरुष मुक्ति को प्राप्त होता है, यह इस श्लोक का आशय है, मधुसूदन स्वामी ने "ब्रह्मनिर्वाणं" के यह अर्थ किये हैं कि कल्पित द्वैत ब्रह्म में न होने से वह ब्रह्मनिर्वाण कहलाता है और स्वामी शङ्कराचार्य्य ने ब्रह्मनिर्वाण के अर्थ मुक्ति के किये हैं ॥

वास्तव में इसके अर्थ मुक्ति के ही हैं, अद्वैतवादियों की ब्रह्म बन जाने वाली मुक्ति के नहीं किन्तु ब्रह्मप्राप्तिरूप मुक्ति के हैं, इसलिये "लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं" कहा है कि मुक्तजीव ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होते हैं "ब्रह्मभूत" के अर्थ मधुसूदन स्वामी ने यह किये हैं, कि "सर्वदैव ब्रह्मभूतो नान्यः" = जीव सर्वदा काल ही ब्रह्म है उससे जुदा नहीं, यहां उक्त स्वामी ने नित्यप्राप्त की प्राप्ति भी लिखी है अर्थात् जीव ब्रह्मरूप प्रथम भी था पर अपने स्वरूप को भूला हुआ था वह अपने नित्यप्राप्त रूप को पाकर ब्रह्मरूप होता है ॥

यदि इसके यह अर्थ होते तो "ब्रह्मभूत" जीव को कहकर "ब्रह्मनिर्वाणं अधिगच्छति" न कहा जाता अर्थात् ब्रह्मभूत नाम

ब्रह्म के गुणों को धारण करके ब्रह्मनिर्वाण नाम मुक्ति को प्राप्त होता है, " ब्रह्मभूत " यहां भूतकाल में क्त प्रत्यय है जिसके यह अर्थ होते हैं कि " ब्रह्मेव अभूतः=ब्रह्मभूतः "=ब्रह्म के गुणों को धारण करके ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता है, देखो इसी भाव को अगले श्लोक में इस प्रकार कथन किया है किः—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहितेरताः ॥ २५ ॥

पद०—लभन्ते । ब्रह्मनिर्वाणं । ऋषयः । क्षीणकल्मषाः । छिन्नद्वैधाः । यतात्मानः । सर्वभूतहितेरताः ॥

पदा०—(क्षीणकल्मषाः) क्षीण होगये हैं पाप जिनके, ऐसे (ऋषयः) ऋषि (ब्रह्मनिर्वाणं) मुक्ति को (लभन्ते) प्राप्त होते हैं, वह कैसे ऋषि हैं (छिन्नद्वैधाः) जिनके संशय दूर होगये हैं और (यतात्मानः) जिन्होंने परमात्मा में चित्त को एकाग्र किया है (सर्वभूतहितेरताः) जो सब प्राणियों के हित में लगे हुए हैं ॥

भाष्य—" सर्वभूतहितेरताः " शब्द से पाया जाता है कि समदर्शी लोग ब्रह्मनिर्वाण पद को प्राप्त होते हैं, वह समदृष्टि यह है किः-

यस्मिन्सर्वाणिभूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

यजु० ४० । ७

अर्थ— जिस परमात्मा में सम्पूर्ण प्राणी (आत्मैव) आत्मवत् (अभूत्) प्रतीत होते हैं उस परमात्मा में एकत्व देखने वाले पुरुष को (को, मोहः, कः, शोकः) कोई मोह और शोक नहीं होता अर्थात् परमात्मा के एकत्वदर्शी पुरुष की शोक मोह से निवृत्ति होजाती है, इसलिये परमात्मदर्शी को शोक मोह प्रतीत नहीं होते, मधुसूदन स्वामी इसके यह अर्थ करते हैं कि "संयतात्मानः परमात्मन्येवेकाग्रचित्ताः एतादृशाश्चद्वैतादर्शित्वेनसर्वभूतहितेरताः हिंसाशून्याः"= संयतात्मा वह हैं जो

परमात्मा में एकाग्र चित्त वाले हैं, इस प्रकार के अद्वैतदर्शी=एक आत्मा देखने वाले सर्व भूतों के हित में रत हैं अर्थात् हिंसा शून्य हैं ॥

उक्त स्वामी के इस कथन में परस्पर विरोध पाया जाता है, जब एक परमात्मा में एकाग्र चित्तवाले हैं तो फिर अद्वैतदर्शी कैसे ? और यदि यह कहाजाय कि एकमात्र परमात्मा ही परमात्मा उनको प्रतीत होता है इसलिये अद्वैतदर्शी हैं तो फिर "सर्वभूतहितेरताः" कैसे ? क्योंकि इस शब्द के अर्थ यह हैं कि जो सर्वप्राणियों के हित में लगा हो, इससे स्पष्ट द्वैतवाद पाया जाता है, मायावादियों का अद्वैतवाद कदापि नहीं, और जो "ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति" "अवस्थितेरितिकाशकृत्स्नः" ब्र० सू० १।४।२२ उक्त उपनिषद् वाक्य और सूत्र को लिखकर जीव को ब्रह्म बनाया है यह भी ठीक नहीं, उपनिषद्वाक्य के अर्थ यह हैं कि वह ब्रह्म के गुणों को धारण करके ब्रह्म को प्राप्त होता है, और सूत्र के अर्थ यह हैं कि "आत्मावारे द्रष्टव्य :" इस वाक्य में परमात्मा को आत्मा शब्द से इसलिये कहागया है कि (अवस्थितेः) सर्वव्यापकता से उसकी स्थिति जीवात्मा में पाये जाने के कारण उसको आत्मा कहागया है, इसलिये वह आत्मरूप से श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करने योग्य है और आगे के श्लोकों में फिर साधनों पर बल देते हैं, इससे पाया जाता है कि ब्रह्मनिर्वाण शमदमादिकों के अनुष्ठान से होता है ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

पद०-कामक्रोधवियुक्तानां । यतीनां । यतचेतसां । अभितः । ब्रह्मनिर्वाणं । वर्त्तते । विदितात्मनां ॥

पदा०-(कामक्रोधवियुक्तानां) काम क्रोध से रहित (यतीनां) यत्नशील (यतचेतसां) वशीकृत अन्तःकरण वाले (विदितात्मनां) जिन्होंने आत्मा परमात्मा को विदित=जानलिया है उनके लिये (अभितः) दोनों ओर (ब्रह्मनिर्वाणं) ब्रह्मनिर्वाण परमात्मा की प्राप्ति है अर्थात्

वह जीवित भी शमदमादिकों के धारण करने के कारण ब्रह्म को प्राप्त हैं और मृत्यु के अनन्तर भी वह ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होते हैं ॥

सं०—ननु, तद्धर्मतापत्तिरूप ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति मरणानन्तर तो होसक्ती है पर नानाविध क्लेशों का आकर इस शरीर को धारण करते हुए ब्रह्मप्राप्ति कैसे होसकती है ? इसका उत्तर निम्नलिखित तीन श्लोकों से देते हैंः—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौसमौकृत्वानासाभ्यंतरचारिणौ ॥ २७ ॥

पद०—स्पर्शान् । कृत्वा । बहिः । बाह्यान् । चक्षुः । च । एव । अन्तरे । भ्रुवोः । प्राणापानौ । समौ । कृत्वा । नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥

पदा०—(बाह्यान्) बाहर के (स्पर्शान्) शब्द स्पर्शादिरूप जो विषय उनको (बहिः, कृत्वा) बाहर करके (च) और (भ्रुवोः) जो आंखों के ऊपर रोमावली हैं उनके (अन्तरे) मध्य में (चक्षुः) नेत्र करके अर्थात् नेत्रों की दृष्टि का निरोध करके (प्राणापानौ) जो प्राण और अपान वायु (नासाभ्यन्तरचारिणौ) नासिका के भीतर गति करती है उसको (समौ, कृत्वा) सम करके अर्थात् कुम्भक प्राणायाम करकेः—

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदामुक्त एव सः ॥२८॥

पद०—यतेन्द्रियमनोबुद्धिः । मुनिः । मोक्षपरायणः । विगतेच्छाभयक्रोधः । यः । सदा । मुक्तः । एव । सः ॥

पदा०—(यतेन्द्रियमनोबुद्धिः) इन्द्रिय, मन और बुद्धि को जिसने अपने अधीन करलिया है ऐसा (मुनिः) मननशील (मोक्षपरायणः) मोक्ष परायण होता है अर्थात् मुक्ति को पाता है, फिर वह कैसा है (विगतेच्छाभयक्रोधः) दूर होगये हैं इच्छा, भय, क्रोध जिसके (यः) जो इस प्रकार का मुनि है (सः, एव, सदा, मुक्तः) वह सदा ही मुक्त है अर्थात् जीवनकाल में जीवनमुक्त और मरणानन्तर कैवल्य मुक्त है, वह

परमात्मा के किस प्रकार के ज्ञान से मुक्ति में आनन्द को अनुभव करता है ? उत्तरः—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छति ॥ २६ ॥

पद०—भोक्तारं । यज्ञतपसां । सर्वलोकमहेश्वरं । सुहृदं । सर्वभूतानां । ज्ञात्वा । मां । शान्ति । ऋच्छति ॥

पदा०—(भोक्तारं, यज्ञतपसां) यज्ञ और तपों का भोक्ता नाम पालन करने वाला है, भुज्–धातु के अर्थ यहां पालन करने वाले के हैं अर्थात् यज्ञादिकों की मर्यादा का जो पालन कराने वाला है, फिर कैसा है (सर्वलोकमहेश्वरं) सब लोकों का सर्वोपरि ईश्वर है और (सर्वभूतानां) सब प्राणियों का (सुहृदं) मित्र है (मां, ज्ञात्वा) कृष्ण जी कहते हैं कि मुझको ऐसा परमात्मा जानकर पुरुष (शान्ति, ऋच्छति) शान्ति को प्राप्त होता है ॥

भाष्य—यहां कृष्णजी ने " मां " शब्द का प्रयोग तद्धर्मतापत्ति के अभिप्राय से किया है अर्थात् कृष्णजी उसकी विभूति का एकदेश हैं इसी लिये उन्होंने अपने आपको परमात्मा के राज्य में सम्मिलित करके ऐसा कहा है, जैसाकि इन्द्र और प्रतर्दनादिकों ने भी कहा है, यदि अपने आपको साक्षात् ईश्वर मानकर कहते तो " **ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**" गी० १८।६१ और "**तमेवशरणं गच्छ सर्वभावेन भारत**" गी० १८ । ६२ इत्यादि श्लोकों में ईश्वर को अपने से भिन्न और उसी को सर्वभूतों की एकमात्र शरण कदापि वर्णन न करते ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये, ज्ञानकर्म संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः

अथ षष्ठोऽध्यायः प्रारभ्यते

सङ्गति—पञ्चमाध्याय में ज्ञानयोग और कर्मयोग का वर्णन भली-भांति किया गया, अब इस अध्याय में कतिपय श्लोकों द्वारा ज्ञानयोग और कर्मयोग का समुच्चय वर्णन करके चित्तवृत्तिनिरोध के मुख्य उपाय योग का वर्णन करते हैं:—

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ॥ १ ॥

पद०—अनाश्रितः । कर्मफलं । कार्यं । कर्म । करोति । यः । सः । संन्यासी । च । योगी । च । न । निरग्निः । न । च । अक्रियः ॥

पदा०—(यः) जो पुरुष (कर्मफलं) कर्म के फल को (अनाश्रितः) आश्रय न करके (कार्यं, कर्म) कर्त्तव्य कर्म को (करोति) करता है (सः, संन्यासी) वही संन्यासी (च) और योगी है (च) और (न, निरग्निः) जो अग्नि को स्पर्श न करे (न, च, अक्रियः) और जो कर्म न करता हो वह संन्यासी नहीं ॥

भाष्य—इस श्लोक में ज्ञान और कर्म का समुच्चय सिद्ध किया है कि जो निष्काम कर्म करता है वही संन्यासी=ज्ञानी और वही योगी है अन्य कोई निष्कर्मी अथवा निरग्नि संन्यासी नहीं कहलासक्ता, गीता से प्रथम कई स्मार्त्त लोग इस प्रकार के मिथ्या संन्यास को संन्यास मानते थे जिसमें अग्नि को स्पर्श नहीं किया जाता है और नाही कोई सत्कर्म किया जाता है, इस प्रकार का मिथ्या संन्यास अवैदिक था इसलिये गीता में इसका खण्डन किया है, क्योंकि वेद में यह आज्ञा है कि:—

" कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत७ँसमाः " यजु० ४० । २

" वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त७ँशरीरम् " यजु० ४० । १५

अर्थ—कर्म करता हुआ सौवर्ष जीने की इच्छा करे, इस शरीर के वायु आदि तत्व अमृत और शरीर भस्मान्त है अर्थात् दग्ध कर देने तक ही शरीररूप कार्य्य है ॥

उक्त दोनो मंत्रों से सिद्ध है कि कोई अकर्मी और निरग्नि संन्यासी नहीं कहलासक्ता, स्मार्त्त, संन्यास का मिथ्या प्रभाव लोगों पर यहां तक पड़ा हुआ है कि यह अवैदिक लोग अपने संन्यासियों को मृत्यु के अनन्तर दवाते हैं जलाते नहीं, क्योंकि वह संन्यासी का अग्नि संस्कार करना विरुद्ध समझते हैं, इससे ज्ञात होता है कि वैदिक संन्यास से भूलकर जब लोग संप्रदायी संन्यासों में पड़े तब से यह निरग्नि और निष्क्रिय संन्यास मार्ग चल गये जिनका खण्डन गीता में भलेप्रकार किया गया है, जैसाकिः–

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

पद०–यं । संन्यासं । इति । प्राहुः । योगं । तं । विद्धि । पांडव । न । हि । असंन्यस्तसंकल्पः । योगी । भवति । कश्चन ॥

पदा०–हे पाण्डव ! (यं) जिसको (संन्यासं) श्रुतियें सब कर्मों का त्यागरूप संन्यास (प्राहुः) कहती हैं (तं) उसको (योगं) योग (विद्धि) जान (हि) निश्चयकरके (असंन्यस्तसंकल्पः) जिसने संकल्पों का त्याग नहीं किया वह पुरुष (कश्चन) कोई भी (योगी, न, हि, भवति) योगी नहीं होसक्ता ॥

भाष्य–इस श्लोक में योग और संन्यास को एक इसलिये कहा गया है कि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" यो० १ । २ इस सूत्र में चित्तवृत्ति के निरोध को "योग" कहा है और प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति यह पांच प्रकार की चित्तवृत्तियें हैं, इनके रोकने से जब योग होता है तो वह संन्यास है, क्योंकि जब तक संकल्पों का त्याग नहीं होता तब तक उक्त प्रकार का योग नहीं होसक्ता, इसलिये योग और संन्यास को एक कहा गया है ॥

(१) जो ज्ञान का कारण अर्थात् ज्ञान को उत्पन्न करने वाला हो वह "प्रमाण" कहाता है, और वह "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" न्या० १ । १ । ३ इस सूत्रानुकूल प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, इस भेद से चार प्रकार का है, और आधुनिक वेदान्ती अर्था-

पत्ति तथा अनुपलब्धि को मिलाकर छः प्रकार का मानते हैं, योगशास्त्र वाले प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम यह तीन ही प्रमाण मानते हैं, जो तीन व चार मानते हैं वह अन्य प्रमाणों को इन्हीं के अन्तर्भाव करलेते हैं, इस प्रकार तीन, चार, छ, आठ प्रमाणों की भिन्न २ संख्या मानने वालों का कोई विरोध नहीं, यह प्रमाण ग्रन्थों का विषय है इसलिये इसको यहां विस्तारपूर्वक नहीं लिखते, यहां वृत्तियों के प्रसङ्ग में नाममात्र से निरूपण करदेते हैं (२) मिथ्याज्ञान को "विपर्यय" कहते हैं, यह भी अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेष, इस भेद से पांच प्रकार का है (३) जिसके लिये शब्द हो और वस्तु न हो उसको "विकल्प" कहते हैं, जैसे शशशृङ्गादि (४) जिसमें ज्ञानादिकों का अभाव हो उसको "निद्रा" कहते हैं, जैसाकि महर्षि पतंजलि ने कहा है कि "अभाव-प्रत्ययालंबनावृत्तिर्निद्रा" यो० १ । १० (५) पूर्व अनुभव किये हुए संस्कारों से जो ज्ञान उत्पन्न हो उसको "स्मृति" कहते हैं, एवं इन पांच वृत्तियों के निरोध का नाम "योग" है ॥

सं०—ननु, योग में कर्म कारण है अर्थात् जब तक पुरुष कर्म न करे तब तक योगी नहीं होसक्ता और संन्यास में शमदमादि कारण हैं, जब तक वह शमी और दमी न हो तब तक संन्यासी नहीं होसक्ता, इस प्रकार योग और संन्यास का भेद पाया जाता है, फिर दोनों का ऐक्य कैसे ? उत्तरः—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

पद०—आरुरुक्षोः । मुनेः । योगं । कर्म । कारणं । उच्यते । योगारूढस्य । तस्य । एव । शमः । कारणं । उच्यते ॥

पदा०—(मुनेः) जो मननशील मुनि है उसको (योगं) योग पर (आरुरुक्षोः) आरोहण करने के लिये कर्म को (कारणं) कारण (उच्यते) कहा गया है और (योगारूढस्य) जब वह योग पर आरूढ होजाता है अर्थात् साधनरूपी कर्म को प्राप्त होता है फिर (तस्य, एव) उसी का (शमः, कारणं, उच्यते) शम कारण कहा गया है ॥

भाष्य—प्रथम चित्तवृत्तिनिरोध के लिये यमनियमादिकों की आवश्यक्ता है और जब चित्तवृत्तिनिरोध होने लगता है फिर केवल "शम" जो मन का निरोध है वही कारण कहा जाता है, इस प्रकार कर्म और शम साधनप्रधान होने से भी योग और संन्यास का भेद नहीं ॥

सं०—अब और हेतु कथन करते हैं:—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

पद०—यदा । हि । न । इन्द्रियार्थेषु । न । कर्मसु । अनुषज्जते । सर्वसंकल्पसंन्यासी । योगारूढः । तदा । उच्यते ॥

पदा०—(यदा) जब पुरुष (हि) निश्चयकरके (इन्द्रियार्थेषु) इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श रूपादि विषयों में (न, अनुषज्जते) संग को प्राप्त नहीं होता (कर्मसु, न) कर्मों में संग को प्राप्त नहीं होता और (सर्वसंकल्पसंन्यासी) सब संकल्पों का करदिया है त्याग जिसने ऐसा पुरुष (तदा) तब (योगारूढः, उच्यते) योग पर आरूढ़=योग को प्राप्त कहा जाता है, इस प्रकार योगारूढ़ होकर पुरुष को चाहिये कि वह अपने आत्मा का उद्धार करे, जैसाकिः—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

पद०—उद्धरेत् । आत्मना । आत्मानं । न । आत्मानं । अवसादयेत् । आत्मा । एव । हि । आत्मनः । वन्धुः । आत्मा । एव । रिपुः । आत्मनः ॥

पदा०—(आत्मानं) विषय सागर में निमग्न अपने आत्मा को (आत्मना) आत्मिक बल से (उद्धरेत्) निकाले (आत्मानं) आत्मा को (न, अवसादयेत्) नीचे न डुबावे (एव) निश्चयकरके आत्मा ही (आत्मनः) अपने आपका (बंधुः) वन्धु है और (आत्मा, एव) आत्मा ही (आत्मनः, रिपुः) अपने आपका शत्रु है ॥

सं०—किन लक्षणों वाला आत्मा अपने आपका वन्धु और किन लक्षणों वाला आत्मा अपने आपका शत्रु है, इस बात को आगे के श्लोक में स्पष्ट करते हैं:—

बंधुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

पद०-बन्धुः । आत्मा । आत्मनः । तस्य । येन । आत्मा । एव । आत्मना । जितः । अनात्मनः । तु । शत्रुत्वे । वर्त्तेत । आत्मा । एव । शत्रुवत् ॥

पदा०-(तस्य) उस पुरुष का (आत्मनः) आत्मा (आत्मा) अपने आपका (बन्धुः) सम्बन्धि है (येन) जिसने (आत्मना) अपने आपसे (एव) निश्चयकरके (आत्मा) अपना आप (जितः) जीत लिया है (अनात्मनः) जिसने अपने आत्मा को वशीभूत नहीं किया उसके (तु) निश्चयकरके (शत्रुत्वे) शत्रुपन में (आत्मा, एव) आत्मा ही (शत्रुवत्) शत्रु के समान (वर्त्तेत) वर्त्तता है ॥

भाष्य-जिसने अपने आपको जीत लिया है उसका अपना आप उसका सम्बन्धि=हितु है और जिसने अपना आप नहीं जीता उसका आत्मा उसी का शत्रु है ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

पद०-जितात्मनः । प्रशांतस्य । परमात्मा । समाहितः । शीतोष्णसुख-दुःखेषु । तथा । मानापमानयोः ।

पदा०-(जितात्मनः) जीत लिया है आत्मा जिसने, फिर कैसा है (प्रशान्तस्य) शान्त चित्त वाला है, उसकी (समाहितः) समाधि में परमात्मा आरूढ़ होता है, वह प्रशान्त चित्त कैसा है जिसने (शीतोष्ण-सुखदुःखेषु) शीत, उष्ण, सुख, दुःख में (तथा) तैसे ही (मानापमा-नयोः) मान अपमान में अपने आपको जीत लिया है, फिर वह योगी कैसा है :—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ८ ॥

पद०-ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा । कूटस्थः । विजितेन्द्रियः । युक्तः । इति । उच्यते । योगी । समलोष्टाश्मकांचनः ॥

पदा०—(ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा) ज्ञान = शास्त्रोक्त ज्ञान और विज्ञान= अनुभवरूप ज्ञान=परमात्मा का साक्षात्काररूप ज्ञान, इस प्रकार के ज्ञान और विज्ञान से तृप्त=सन्तुष्ट है आत्मा जिसका, फिर वह कैसा है (कूटस्थः) विषयों के समीपस्थ होने पर भी विकार से शून्य है (विजितेन्द्रियः) जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, और (समलोष्टाश्मकांचनः) लोष्ट = मिट्टी, अश्मा = पत्थर, कांचन = सुवर्ण, जिसके लिये सम हैं, इस प्रकार का पुरुष (युक्तः) योगारूढ़ (इति, उच्यते) कहा जाता है ॥

भाष्य—इसका नाम परवैराग्य है, अपरवैराग्य से इसका भेद यह है कि इसमें विज्ञान द्वारा तृप्तात्मा होने के कारण परमात्मा का साक्षात्कार होता है और उसमें केवल देखे और सुने हुए भोगों से उदासीनता होती है; फिर वह योगी इस प्रकार का समदर्शी होजाता है जैसाकि अग्रिम श्लोक में वर्णन किया गया है कि:—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

पद०—सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु । साधुषु । अपि । च । पापेषु । समबुद्धिः । विशिष्यते ॥

पदा०—(सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु) सुहृद् = जो विना उपकार किये और विना पूर्व स्नेह के सम्बन्ध से उपकार करता हो, मित्र = जो स्नेह के कारण उपकारक हो, अरि = जो स्वाभाविक द्वेष करता हो, उदासीन = जो दो विवाद करने वालों की उपेक्षा करदे, मध्यस्थ = जो दो विवाद करने वालों की हित की इच्छा करने वाला हो, द्वेष्य = जो उपकार किये जाने पर द्वेष करता हो, बन्धु = जो सम्बन्ध के कारण उपकार करता हो, इस प्रकार के सुहृद्, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुओं में (साधुषु) शास्त्रोक्त करने वालों में (अपि, च) और (पापेषु) पापात्माओं में जो (समबुद्धिः) समदृष्टि की बुद्धि वाला है वह (विशिष्यते) सबसे उत्कृष्ट योगी है, इस प्रकार योगारूढ़ का लक्षण और फल कहकर अब उसके योगाङ्गों का वर्णन करते हैं :—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

पद०—योगी । युंजीत । सततं । आत्मानं । रहसि । स्थितः । एकाकी । यतचित्तात्मा । निराशीः । अपरिग्रहः ॥

पदा०—(योगी, आत्मानं) योग करने वाला अपने आत्मा को (सततं) निरन्तर (रहसि, स्थितः) एकान्त में स्थित हुआ २ (आत्मानं, युंजीत) अपने आत्मा को योग साधनों के साथ जोड़े, वह कैसा योगी है जो (एकाकी) अकेला रहता है, और (यतचित्तात्मा) अधीन करलिया है अपना अन्तःकरण जिसने, फिर कैसा है (निराशीः) जिसको तृष्णा नहीं और (अपरिग्रहः) जो आवश्यकता से अधिक वस्तु पास नहीं रखता ॥

सं०—अब निम्नलिखित दो श्लोकों में योगी के आसन की विधि कथन करते हैं:—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

पद०—शुचौ । देशे । प्रतिष्ठाप्य । स्थिरं । आसनं । आत्मनः । न । अति । उच्छ्रितं । न । अति । नीचं । चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥

पदा०—(आत्मनः) अपना (स्थिरं) स्थिर आसन (शुचौ, देशे) पवित्र देश में (प्रतिष्ठाप्य) विछाकर अभ्यास करे, वह (न, अति, उच्छ्रितं) न बहुत ऊंचा हो और (न, अति, नीचं) न बहुत नीचा हो, फिर कैसा हो (चैलाजिनकुशोत्तरं) प्रथम कुशा विछा उस पर मृग का चर्म और उसके ऊपर कपड़ा विछावे ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

पद०—तत्र । एकाग्रं । मनः । कृत्वा । यतचित्तेन्द्रियक्रियः । उपविश्य । आसने । । युंज्यात् । योगं । आत्मविशुद्धये ॥

पदा०—(तत्र) उस आसन पर (मनः) मन को (एकाग्रं, कृत्वा) एकाग्र करके (यतचित्तेन्द्रियक्रियः) स्वाधीन करलिया है अपना चित्त

और इन्द्रियों की क्रिया जिसने ऐसा योगी (आसने, उपविश्य) आसन पर बैठकर (आत्मविशुद्धये) आत्मा की शुद्धि के लिये (योगं) योगरूप जो समाधि है उसका (युंज्यात्) अभ्यास करे, जैसाकि **"दृश्यतेत्वग्र-यावुद्ध्यासूक्ष्मयासूक्ष्मदर्शिभिः"** इस उपनिषद्वाक्य में वर्णन किया है कि सूक्ष्मबुद्धिवालों से ही वह देखाजाता है अर्थात् समाधि में एकाग्र चित्त वाले ही उसका अनुभव करते हैं ॥

सं०-अब उक्त आसन पर स्थित होने का प्रकार कथन करते हैं:-

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

पद०-समं । कायशिरोग्रीवं । धारयन् । अचलं । स्थिरः । संप्रेक्ष्य । नासिकाग्रं । स्वं । दिशः । च । अनवलोकयन् ॥

पदा०-(कायशिरोग्रीवं) काय=शरीर, शिर=मस्तिष्क, ग्रीवा= गर्दन, इनको समान (स्थिरः) स्थिर और (अचलं) निश्चलता के साथ (धारयन्) धारण करता हुआ (स्वं) अपनी (नासिकाग्रं) नासिका के अग्रभाग को (संप्रेक्ष्य) देखकर (दिशः) जो पूर्वोत्तरादि दिशायें हैं उनको (अनवलोकयन्) न देखता हुआ योग से युक्त हो ॥

सं०-अब उक्त आसनारूढ योगी का वर्णन करते हैं:—

प्रशांतात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

पद०-प्रशान्तात्मा । विगतभीः । ब्रह्मचारिव्रते । स्थितः । मनः । संयम्य । मच्चित्तः । युक्तः । आसीत । मत्परः ॥

पदा०-(प्रशान्तात्मा) शान्त आत्मा वाला (विगतभीः) दूर होगया है भय जिसका अर्थात् भय से रहित (ब्रह्मचारिव्रते) ब्रह्मचारियों के व्रत में (स्थितः) स्थित (मनः संयम्य) मन का संयम करने वाला (मच्चित्तः) मुझ परमात्मा में चित्त है जिसका और (मत्परः) मैं ही हूं परमस्थान जिसका ऐसा योगी (युक्तः, आसीत) संप्रज्ञातादि योगों के साथ युक्त होता है ॥

भाष्य-संप्रज्ञात योग उसको कहते हैं जिसमें वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मितारूप चार वृत्तियें बनी रहती हैं और असंप्रज्ञात में यह बीज नहीं रहते, इसीलिये इसका नाम निर्बीज समाधि है ॥

ननु-इस श्लोक में कृष्णजी ने "मच्चित्तः" कहा है इससे पाया जाता है कि समाधि में भी कृष्णजी का ही ध्यान किया जाता है ? उत्तर-यहां कृष्णजी ने अपने आपका प्रयोग परमेश्वर की तद्धर्मतापत्ति के अभिप्राय से किया है अर्थात् परमेश्वर के अपहतपाप्मादि गुणों को धारण करके कहा है, अन्यथा "ईश्वरप्रणिधानोद्वा" यो० १। २३ इस सूत्र में ईश्वर की भक्ति से समाधि लाभ कथन किया गया है न कि कृष्णजी की भक्ति से, और ईश्वर का लक्षण यह किया है कि:—

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" यो० १।२४=

अविद्यादि पांच क्लेश, भले बुरे कर्म, विपाक=उन कर्मों का फल और उस फल के अनुकूल सूक्ष्म वासनायें, इन चारों का जिससे सम्बन्ध न हो उसको "ईश्वर" कहते हैं, यदि ऐसा ईश्वर कृष्णजी अपने आप होते तो यह न कहते कि "बहूनिमेऽव्यतीतानि जन्मानि०" गी० ४। ५=हे अर्जुन ! मेरे बहुत जन्म हुए हैं, यदि यह कहाजाय कि जन्मधारण करने से भी ईश्वर की क्या हानि ? तो उत्तर यह है कि महर्षिव्यास ईश्वर को जन्मादि बन्धनों से रहित मानते हैं, जैसाकि व्यास भाष्य में लिखा है कि "यथामुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायतेनैव-मीश्वरस्ययथावाप्रकृतिलीनस्योत्तराबन्धकोटिः संभाव्यते नैवमी-श्वरस्य" यो० १। २४ व्या० भा०=जिस प्रकार प्रकृति में लीन पुरुष फिर बंधकोटि में आजाते हैं इस प्रकार ईश्वर नहीं आता, वह सदा मुक्त और सदा ही ईश्वर है, यदि व्यासजी कृष्णजी को ईश्वर मानते तो वह कृष्णजी के बहुत जन्म वर्णन न करते, जब व्यासभाष्य और "अधिष्ठा-नानुपपत्तेश्च" ब्र० सू० २। २ ।३८ "करणवच्चेन्नभोगादिभ्यः" ब्र० सू० २। २। ३९ इत्यादि सूत्रों में व्यासजी ईश्वर के शरीरधारण का खण्डन करते हैं तो फिर गीता में आकर व्यासजी की मति में क्या परि-

वर्तन हुआ जो ईश्वर का जन्म मानने लग पड़े, व्यासजी के लेखों से ही यदि व्यासजी की गीता का व्याख्यान किया जाय तो "मच्चित्तः,मत्परः" इत्यादि शब्दों का तात्पर्य कृष्णजी के ईश्वर होने का नहीं पाया जाता किन्तु ईश्वर के भावों को प्राप्त होने से वामदेवादि ऋषियों के समान कृष्णजी ने अहंभाव का उपदेश किया है, देखोः—

युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शांतिंनिर्वाणपरमामत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

पद०—युंजन् । एवं । सदा । आत्मानं । योगी । नियतमानसः । शान्तिं । निर्वाणपरमां । मत्संस्थां । अधिगच्छति ॥

पदा०—(नियतमानसः, योगी) रोक लिया है अपने मन को जिसने ऐसा योगी (एवं) पूर्वोक्त प्रकार से (आत्मानं) आत्मा को (सदा, युंजन्) सदा योग में जोड़ता हुआ (शान्तिं) शान्ति को (अधिगच्छति) प्राप्त होता है, कैसी शान्ति (निर्वाणपरमां) मुक्ति ही है परमपद जिसमें, वह कैसी मुक्ति है (मत्संस्थां) मेरे में जो स्थिर है अर्थात् जैसा मैं मुक्त हूं वैसा ही वह मुक्त होता है अथवा " अहंभाव " से जिस ईश्वर का मैं निर्देश करता हूं उसकी तद्धर्मतापत्तिरूप मुक्ति को वह योगी प्राप्त होता है, इसी भाव को "इदंज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः" गी० १४।२ इस श्लोक में वर्णन किया है कि इस ज्ञान को पाकर मेरे समान धर्मों को मुक्त पुरुष प्राप्त होते हैं अर्थात् मेरे समान ईश्वर के अपहतपाप्मादि गुणों को धारण करते हैं, इससे पाया गया कि "मच्चित्तः" और "मत्परः" के अर्थ कृष्णपरायण तथा कृष्ण में चित्त लगाने के नहीं किन्तु ईश्वरपरायण और ईश्वर में चित्त लगाने के हैं ॥

सं०—अब योगी के आहारादि नियमों का वर्णन करते हैंः—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

पद०-न । अति । अश्नतः । तु । योगः । अस्ति । न । च । एकान्तं ।

अनश्नतः । न । च । अति । स्वप्नशीलस्य । जाग्रतः । न । एव । च । अर्जुन ॥

पदा०—हे अर्जुन ! (अति, अश्नतः) अधिक खानेवाले का (योगः) योग (न, अस्ति) नहीं होता (च) और (एकान्तं) सर्वथा (अनश्नतः) न खानेवाले का भी योग (न) नहीं होता (च) और (अति, स्वप्नशीलस्य) अधिक सोने वाले का (योगः) योग नहीं होता (च) और (न, एव) नाही (जाग्रतः) अधिक जागने वाले का होता है ॥

सं०—अब योग का प्रकार कथन करते हैं:—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

पद०—युक्ताहारविहारस्य । युक्तचेष्टस्य । कर्मसु युक्तस्वप्नावबोधस्य । योगः । भवति । दुःखहा ॥

पदा०—(युक्ताहारविहारस्य) आहार=भोजनादि, विहार=गमनादि, यह हों युक्त=नियत परिमाण वाले जिसके अर्थात् आहार भी नियत हो और विहार भी नियत हो (कर्मसु, युक्तचेष्टस्य) और कर्मों में जिसकी युक्त चेष्टा हो (युक्तस्वप्नावबोधस्य) स्वप्न=सोना और अवबोध=जागना, जिसका युक्त नाम नियत हो उस पुरुष का (योगः) योग (दुःखहा) दुःखों के नाश करने वाला (भवति) होता है ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

पद०—यदा । विनियतं । चित्तं । आत्मनि । एव । अवतिष्ठते । निःस्पृहः । सर्वकामेभ्यः । युक्तः । इति । उच्यते । तदा ॥

पदा०—(यदा) जब (विनियतं) रुका हुआ (चित्तं) चित्त (आत्मनि, एव) परमात्मा में ही (अवतिष्ठते) स्थिर होता है और (सर्वकामेभ्यः, निःस्पृहः) सब कामनाओं से इच्छारहित होता है (तदा) तब (युक्तः, इति, उच्यते) वह योग से युक्त कहा जाता हैं ॥

सं०—अब समाहित चित्तवाले योगी की उपमा कथन करते है:—

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

पद०-यथा । दीपः । निवातस्थः । न । इंगते । सा । उपमा । स्मृता । योगिनः । यतचित्तस्य । युञ्जतः । योगं । आत्मनः ।

पदा०-(यथा) जिसप्रकार (निवातस्थः) विना वायु वाले स्थान में रखा हुआ (दीपः) दीपक (न, इंगते) चेष्टा नहीं करता इसी प्रकार (योगिनः) योगी की (सा, उपमा) वह उपमा (स्मृतः) कथन की गई है, किस योगी की (यतचित्तस्य) जिसने अपने चित्त को स्वाधीन करके (आत्मनः) परमात्मसम्बन्धि (योगं) समाधि का (युञ्जतः) अनुष्ठान किया है ॥

सं०-अब योग की महिमा कथन करते हैं:—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्रचैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

पद०-यत्र । उपरमते । चित्तं । निरुद्धं । योगसेवया । यत्र । च । एव । आत्मना । आत्मानं । पश्यन् । आत्मनि । तुष्यति ॥

पदा०-(योगसेवया) योग के अनुष्ठान करने से (निरुद्धं) रुका हुआ (चित्तं) चित्त (यत्र) जिस योग में (उपरमते) उपराम = विषयों से विरक्त होजाता है (च) और (यत्र) जिस योग में (आत्मना) अष्टांगयोग द्वारा संस्कार किये हुए मन से (आत्मानं) परमात्मा को (पश्यन्) देखता हुआ (आत्मनि) परमात्मा में (तुष्यति) सन्तोष को प्राप्त होता है उसको दुःख के स्पर्श से रहित योग समझो ॥

सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

पद०-सुखं । आत्यंतिकं । यत् । तत् । बुद्धिग्राह्यं । अतीन्द्रियं । वेत्ति । यत्र । न । च । एव । अयं । स्थितः । चलति । तत्त्वतः ॥

पदा०-(यत्) जिस योग में (आत्यंतिकं, सुखं) अत्यन्त सुख हो अर्थात् जिससे बढ़कर कोई सुख नहीं होसक्ता, वह कैसा सुख है (तत्, बुद्धिग्राह्यं) जो केवल बुद्धि से ग्रहण किया जाता है (अतीन्द्रियं) जिसको इन्द्रिय विषय नहीं करसक्ते और (यत्र) जिस योग में उक्त

प्रकार के सुख को योगी (वेत्ति) जानता है (यत्र, स्थितः) जहां स्थिर हुआ (अयं) यह योगी (तत्त्वतः) परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से (न, चलति) नहीं चलता अर्थात् परमात्मा के यथार्थ ज्ञान में उसको संशय विपर्यय नहीं होता ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

पद०—यं । लब्ध्वा । च । अपरं । लाभं । मन्यते । न । अधिकं । ततः । यस्मिन् । स्थितः । न । दुःखेन । गुरुणा । अपि । विचाल्यते ॥

पदा०—(यं) जिस योग को (*लब्ध्वा) लाभ करके (ततः, अधिकं) उससे अधिक (अपरं, लाभं) अन्य लाभ (न, मन्यते) नहीं मानता (यस्मिन्) जिस योग में (स्थित) स्थिर हुआ (गुरुणा, अपि, दुःखेन) बड़े दुःख से भी (न, विचाल्यते) चलायमान नहीं होता उसको दुःख के स्पर्श से रहित योग समझो ॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

पद०—तं । विद्यात् । दुखसंयोगवियोगं । योगसंज्ञितं । सः । निश्चयेन । योक्तव्यः । योगः । अनिर्विण्णचेतसा ॥

पदा०—(तं) पूर्वोक्त गुणों वाले को (योगसंज्ञितं) योग नाम वाला (विद्यात्) जाने, वह योग कैसा है (दुःखसंयोगवियोगं) दुःख के संयोग का है वियोग जिससे अर्थात् दुःख से रहित (अनिर्विण्णचेतसा) जिस चित्त में उदासीनता न आती हो अर्थात् मैं इतने काल योग में लगा रहा और फिर वह योग सिद्ध न हुआ, इस प्रकार जिसका चित्त उदासीन न हो उस चित्त से (निश्चयेन) निश्चयपूर्वक (सः) वह योग (योक्तव्यः) अभ्यास करने योग्य है ॥

सं०—अब उक्त योग का प्रकार कथन करते हैं :—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ २४ ॥

पद०-संकल्पप्रभवान् । कामान् । त्यक्त्वा । सर्वान् । अशेषतः । मनसा । एव । इन्द्रियग्रामं । विनियम्य । समंततः ॥

पदा०-(संकल्पप्रभवान्) संकल्प से है उत्पत्ति जिनकी (कामान्) उन कामनाओं को (त्यक्त्वा) छोड़कर (सर्वान्) सबको (अशेषतः) सम्पूर्ण रीति से (मनसा, एव) मन से ही (इन्द्रियग्रामं) सब इन्द्रियों को (समंततः) सब ओर से (विनियम्य) रोककर विषयों से उपराम होवे ॥

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ २५ ॥

पद०-शनैः । शनैः । उपरमेत् । बुद्ध्या । धृतिगृहीतया । आत्मसंस्थं । मनः । कृत्वा । न । किंचित् । अपि । चिन्तयेत् ॥

पदा०-(धृतिगृहीतया) धैर्य्य द्वारा ग्रहण की हुई (बुद्ध्या) बुद्धि से (शनैः, शनैः) धीरे २ (उपरमेत्) वैराग्य को प्राप्त होकर (मनः) मन को (आत्मसंस्थं) आत्मा में स्थिर (कृत्वा) करके (किंचित्, अपि) कुछ भी (न, चिन्तयेत्) चिन्तन न करें ॥

सं०-अब मन को वशीभूत करने का प्रकार कथन करते हैंः—

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततोनियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

पद०-यतः । यतः । निश्चरति । मनः । चंचलं । अस्थिरं । ततः । ततः । नियम्य । एतत् । आत्मनि । एव । वशं । नयेत् ॥

पदा०-(चंचलं) चंचल (मनः) मन (अस्थिर) जो स्थिरता से रहित है वह (यतः, यतः) जिस २ ओर से (निश्चरति) विचरता है (ततः, ततः) उसी २ ओर से (एतत्) इसको (आत्मनि, नियम्य) परमात्मा में लगाकर (वशं, नयेत्) वशीभूत करे ॥

प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

पद०-प्रशान्तमनसं । हि । एनं । योगिनं । सुखं । उत्तमं । उपैति । शान्तरजसं । ब्रह्मभूतं । अकल्मषम् ॥

पदा०—(प्रशान्तमनसं) शान्त चित्त वाले (एनं) इस (योगिनं) योगी को (हि) निश्चयकरके (उत्तमं) उत्तम (सुखं) सुख (उपैति) प्राप्त होता है, वह कैसा योगी है (ब्रह्मभूतं) ब्रह्म के गुणों को धारण करने से (शान्तरजसं) रजोगुण शांत होकर (अकल्मषं) जो पाप से रहित होगया है, ऐसे योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है ॥

युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ॥
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

पद०—युंजन् । एव । सदा । आत्मानं । योगी । विगतकल्मषः । सुखेन । ब्रह्मसंस्पर्शं । अत्यन्तं । सुखं । अश्नुते ॥

पदा०—(विगतकल्मषः) दूर होगये हैं पाप जिसके ऐसा योगी (एवं) उक्त प्रकार से (आत्मानं) अपने आपको (सदा) सदैव (युंजन्) ब्रह्म के साथ जोड़ता हुआ (सुखेन) सुखपूर्वक (ब्रह्मसंस्पर्शं) ब्रह्म के साथ है सम्बन्ध जिसका, ऐसे (अत्यन्तं) अत्यन्त (सुखं) सुख को (अश्नुते) भोगता है अर्थात् ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है ॥

भाष्य—इस श्लोक में सुख को "ब्रह्मसंस्पर्श" कहा है जिसके अर्थ यह है कि परब्रह्म के साथ सम्बन्ध है जिस सुख का उस सुख को उक्त योगी भोगता है, इस कथन ने द्वैतवाद स्पष्ट करदिया और यह भी स्पष्ट करदिया कि जीव स्वयं सुखस्वरूप नहीं किन्तु ब्रह्मानन्द को लाभ करके आनन्द वाला होता है, जैसाकि **"रसंह्येवायंलब्ध्वानन्दीभवति"** तैत्ति० २ । ७=(रसं) ब्रह्म का जो आनन्द उसी को पाकर यह जीव आनन्द वाला कहलासक्ता है, यदि जीव ब्रह्म की एकता गीताशास्त्र का सिद्धान्त होता तो जीव को ब्रह्मानन्द की प्राप्ति न कही जाती किन्तु स्वयं ब्रह्म बनने का उपदेश किया जाता, इस श्लोक में जो **"सुखेन"** पद दिया है, इसका तात्पर्य्य यह है कि समाधि में जो (अन्तराय) विघ्न कहे जाते हैं योगी के उन विघ्नों की अनायास ही निवृत्ति होजाती है अर्थात् **"व्याधि:स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व"**

यह नव प्रकार के चित्त के विक्षेप हैं और यह समाधि में विघ्न गिने जाते हैं, व्याधि=शरीरस्थ धातुओं की न्यूनाधिकता से ज्वरादि रोगों का होना, स्त्यान = कर्मों में चित्त का न लगना, जिससे गुरू आदिकों की शिक्षा मिलने पर भी उस कर्म के योग्य न होना, संशय = उभय-कोटि ज्ञान रहना अर्थात् यह बात ठीक है अथवा वह बात ठीक है, प्रमाद = समाधि के साधनों के योग्य होकर भी उनको अनुष्ठान न करना, आलस = शरीर और चित्त आदिकों में भारीपन प्रतीत होना अर्थात् अभ्यासादि कर्त्तव्यों में चित्त का बोझ मानना, अविरति = विशेष सम्बन्ध होने पर चित्त में उमंग उत्पन्न होना, भ्रान्तिदर्शन = योग के साधनों में असाधन बुद्धि होना, और असाधनों में साधन बुद्धि होना, अलब्धभूमिकत्व= समाधि का लाभ न होना, अनवस्थित्व = समाधि के लाभ होजाने पर भी प्रयत्न की शिथिलता से वहां चित्त का स्थिर न रहना, इन विघ्नों को दूर करके योगी सुखपूर्वक ही ब्रह्मानन्द को पालेता है वह इस प्रकार कि इन विघ्नों को दूर करने के लिये "तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः" यो० १ । ३२ में जो एकमात्र तत्व परमात्मा कथन किया है उसका वारंवार अभ्यास करना, जैसाकि गी० १७ । २३ में भी वर्णन किया है कि " ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः " = ओं, तत्, सत्, इन तीन प्रकार के नामों से ब्रह्म का कथन किया जाता है और उसके भाव का नाम " तत्व " है, इस प्रकार एकतत्व के अभ्यास से सुखपूर्वक ही जिज्ञासु को ब्रह्मानन्द उपलब्ध होता है, इस ब्रह्मानन्द को पाकर वह योगी परमात्मा को व्याप्यव्यापकभाव से सर्वत्र समान देखता है ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २६ ॥

पद०-सर्वभूतस्थं । आत्मानं । सर्वभूतानि । च । आत्मनि । ईक्षते । योगयुक्तात्मा । सर्वत्र । समदर्शनः ॥

पदा०-(सर्वभूतस्थं) वह योगी सब भूतों में स्थिर (आत्मनं) परमात्मा को (च) और (सर्वभूतानि) सब प्राणियों को (आत्मनि)

परमात्मा में (ईक्षते) देखता है (योगयुक्तात्मा) पूर्वोक्त योग से युक्त है आत्मा जिसका अर्थात् संप्रज्ञातसमाधि से युक्त योगी (सर्वत्र) सब स्थानों में (समदर्शनः) परमात्मा को समदृष्टि से देखता है ॥

भाष्य—"सर्वत्र समदर्शनः" के अर्थ शङ्करभाष्य में यह किये हैं कि "सर्वत्रसमदर्शनः=सर्वेषु ब्रह्मादि स्थावरान्तेषु विषयेषु-सर्वभूतेषु समं निर्विशेषं ब्रह्मात्मैकत्वविषयं दर्शनं ज्ञानं यस्य स सर्वत्रसमदर्शनः"=ब्रह्मा से लेकर पशु पक्षी पर्य्यन्त जो सब प्राणी हैं उनमें ब्रह्म और जीव की एकता का दर्शन नाम ज्ञान है जिसको वह "समदर्शन" कहलाता है ॥

उक्त स्वामीजी ने जो इससे जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध की है यह गीता का आशय कदापि नहीं, यदि यह आशय होता तो "योऽयं योगस्त्वयाप्रोक्तः साम्येन मधुसूदन" गी० ६ । ३३ में इस योग को समता का योग न कहा जाता, समता के अर्थ यहां सब भूतों में समदृष्टि और परमेश्वर की एकरस व्यापकता के हैं ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

पद०—यः । मां । पश्यति । सर्वत्र । सर्वं । च । मयि । पश्यति । तस्य । अहं । न । प्रणश्यामि । सः । च । मे । न । प्रणश्यति ॥

पदा०—(यः) जो पुरुष (मां) मुझको (सर्वत्र) सब स्थानों में (पश्यति) देखता है (च) और (सर्वं) सब वस्तुओं को (मयि) मुझ में (पश्यति) देखता है (तस्य) ऐसे समदृष्टि वाले पुरुष की दृष्टि से (अहं) मैं (न, प्रणश्यति) नाश को प्राप्त नहीं होता अर्थात् उसके ज्ञान का विषय होता हूं (च) और (सः) वह पुरुष (मे) मेरी दृष्टि से (न, प्रणश्यति) नाश नहीं होता अर्थात् वह मेरी दृष्टि में कृतार्थ होचुका है, इसलिये वह नाश को प्राप्त नहीं होता ॥

भाष्य—इस श्लोक ने उसी भाव को वर्णन किया है जो भाव यजु० ४ । ६ में कथन किया गया है कि जो सब प्राणियों का अधिकरण परमात्मा

को और सब वस्तुओं को परमात्मा का व्याप्य स्थान समझता है अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड परमेश्वर में और परमेश्वर सब ब्रह्माण्डों में व्यापक है, इस प्रकार का व्याप्यव्यापकभाव समझने वाला पुरुष परमात्मा के स्वरूपज्ञान में संशय को प्राप्त नहीं होता ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥ ३१ ॥

पद०—सर्वभूतस्थितं । यः । मां । भजति । एकत्वं । आस्थितः । सर्वथा । वर्त्तमानः । अपि । सः । योगी । मयि । वर्त्तते ॥

पदा०—(यः) जो योगी (मां) मुझको (सर्वभूतस्थितं) सब भूतों में स्थिर जानता हुआ (एकत्वं) मेरे एकत्व में (आस्थितः) स्थिर होकर (भजति) मेरा ध्यान करता है (सः, योगी) वह योगी (सर्वथा, वर्त्तमानः, अपि) सब प्रकार के काम करता हुआ भी (मयि) मेरे में (वर्त्तते) वर्त्तता है ॥

भाष्य—"एकत्वं, आस्थितः" के अर्थ यह हैं कि जो परमात्मा में एकत्व मानता है अर्थात् नाना ईश्वर नहीं मानता, जैसाकि कठ० ४ । ११ में वर्णन किया है कि:-

मनसैवेदमाप्तव्यं नेहनानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥

अर्थ—वह ब्रह्म मन से जानने योग्य है उसमें नानापन नहीं जो उस ब्रह्म में नानापन देखता है वह मरण से मरण को प्राप्त है अर्थात् परमेश्वर सर्वान्तर्यामी एक है उसमें नानापन नहीं, इस प्रकार के एकत्व को यह श्लोक वर्णन करता है, मधुसूदन स्वामी इसके यह अर्थ करते हैं कि "तत्" पद और "त्वं" पद का अर्थ निरूपण करने के अनन्तर "तत्त्वमसि" इस वाक्य के अर्थ को निरूपण करते हैं कि "सर्वेषुभूतेष्वधिष्ठानतया स्थितं सर्वानुस्यूतसन्मात्रंमामीश्वरंतत्पदलक्ष्यंस्वेन त्वंपदलक्ष्येण सहैकत्वमत्यन्ताभेदमास्थितः सन् घटाकाशो

महाकाश इत्यत्रैवोपाधिभेदनिराकरणेन निश्चिन्वन् यो भजति अहं ब्रह्मास्मीति वेदान्त वाक्येन तत्त्वसाक्षात्कारेणा-परोक्षी करोति " = सब भूतों में अधिष्ठानरूप से स्थित और सब भूतों में ओत प्रोत सन्मात्र मैं जो परमेश्वर हूं उस मुझ "तत्" पद के लक्ष्य का जो "त्वं" पद का लक्ष्य जीव उसके साथ एकत्व = अत्यन्त अभेद को प्राप्त हुआ घटाकाश और महाकाश इन दोनों की उपाधियों के हटादेने से जैसे उन दोनों आकाशों की एकता होजाती है इसी प्रकार मेरी और जीव की एकता को निश्चय करता हुआ जो मुझको "अहंब्रह्मास्मि" इस वेदान्त वाक्य से तत्त्वसाक्षात्काररूप द्वारा अपरोक्ष करता है वह मुझे भजता है, इन अर्थों का अंशमात्र भी उक्त श्लोक में नहीं, इसीलिये स्वामी शं० चा० ने भी इस एकत्व पर कुछ नहीं लिखा, स्वामी रामानुज ने इसके अर्थ परमेश्वर के साम्यभाव के किये हैं, जैसाकि "सर्वदा मत्साम्यंएवपश्यतीत्यर्थः" = वह योगी सर्वदाकाल परमेश्वर के धर्मों को उपलब्ध करके उसके सम होजाने को देखता है ॥

सं०—अब योगी को सब भूतों में समदृष्टि कथन करते हैं:—

"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

पद०—आत्मौपम्येन। सर्वत्र। समं। पश्यति। यः। अर्जुन। सुखं। वा। यदिवा। दुःखं। सः। योगी। परमः। मतः॥

पदा०—हे अर्जुन! (आत्मौपम्येन) जैसे अपने आप में सुख दुःख होते हैं इस प्रकार (सर्वत्र) सब स्थानों में (यः) जो योगी (सुखं) सुख (वा, यदिवा, दुःखं) अथवा दुःख को (समं) सम समझता है (सः, योगी) वह योगी (परमः, मतः) परम योगी समझा जाता है॥

भाष्य—इस श्लोक के अर्थ स्पष्ट हैं कि जो अपने समान दूसरे प्राणियों का सुख दुःख देखता है वह परमयोगी है अर्थात् जैसे अपने आत्मा के

प्रतिकूल काम करने से अपने को दुःख होता है इसी प्रकार दूसरे के प्रतिकूल भी नहीं करना चाहिये ॥

मायावादियों ने इस आशय को बदलकर जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करने के लिये सारा बल इसी पर लगा दिया है, जैसाकि "ब्रह्मवेद ब्रह्मैवभवति" मुण्ड०३।१६ "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्तेसर्वसंशयः। क्षीयन्तेचास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टेपरावरे" "योवेदनिहितंगुहायांपरमेव्योमन्" "सोऽश्नुतेसर्वान्कामान् सह ब्रह्मणाविपश्चिता" "तमेवविदित्वातिमृत्युमेति"=इत्यादि अनेक उपनिषद्व वाक्य लिखकर मधुसूदन स्वामी ने जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध की है, पर इस श्लोक में जीव ब्रह्म की एकता के लिये अर्थाभास करने का भी स्थान नहीं, इसलिये स्वामी शं० चा० ने इस श्लोक में आत्मवत् सब प्राणियों में समता का ही व्याख्यान किया है, उनके चेलों ने इस शमविधि के व्याख्यान से भी लाभ उठाने का यह प्रकार सोचा है कि इस शमविधि को जीव ब्रह्म की एकता विषय में लगाया जाय और वह इस प्रकार कि "तत्त्वज्ञान मनोनाशवासना क्षय होने से शमविधि होती है" तत्त्व का लक्षण इनके मत में यह है कि यह सब द्वैतप्रपंच सच्चिदानन्दादि लक्षण वाले ब्रह्म में माया से कल्पित होने के कारण मिथ्या है, एवं जब ब्रह्म से भिन्न सब वस्तुओं को योगी मिथ्या जान लेता है तब मन का नाश होकर फिर रागद्वेषादि वासनाओं का नाश होजाता है, इस प्रकार तत्वज्ञान, मनोनाश = मन का नाश और वासनाक्षय = राग द्वेषादि वासनाओं का क्षय, यह तीनों शमविधि में कारण हैं, यदि इनकी मानी हुई एकात्मवाद की यहां शमविधि होती तो उक्त श्लोक में "समंपश्यति" यह वाक्य निष्फल होजाता, क्योंकि इनके मत में मन के नाश और वासना के क्षय होने पर कोई वस्तु ही नहीं रहती, फिर कौन किसको शमविधि से देखेगा और कौन अपने दुःख के समान दूसरे के दुःख को जानेगा, यह व्याख्यान वाशिष्टादि आधुनिक ग्रन्थों से लेकर मधुसूदन स्वामी आदि टीकाकारों ने यहां भरदिया है, वास्तव में सम

दृष्टि से देखने के यदि यह अर्थ होते कि एक ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं तो उत्तर श्लोक में द्वैतवाद के योग का निरूपण न किया जाता ॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वयाप्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥

पद०—यः । अयं । योगः । त्वया । प्रोक्तः । साम्येन । मधुसूदन । एतस्य । अहं । न । पश्यामि । चंचलत्वात् । स्थितिं । स्थिरां ॥

पदा०—हे मधुसूदन ! (साम्येन) समता वाला (यः) जो (अयं) यह (योगः) योग (त्वया) तुमने (प्रोक्तः) कहा है (एतस्य) इस योग की (स्थिरां, स्थितिं) स्थिर स्थिति को (अहं) मैं (चंचलत्वात्) चंचलता के कारण (न, पश्यामि) नहीं देखता ॥

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

पद०—चंचलं । हि । मनः । कृष्ण । प्रमाथि । बलवत् । दृढं । तस्य । अहं । निग्रहं । मन्ये । वायोः । इव । सुदुष्क ॥

पदा०-हे कृष्ण ! (हि) निश्चय करके (मनः) मन (चंचलं) बड़ा चंचल है (प्रमाथि) शरीर और इन्द्रियों को मथन कर डालता है अर्थात् विशेषतया परवश करदेता है, फिर कैसा है (बलवत्) बड़ा बलवान् है (दृढ) बड़ा दृढ़ है (तस्य) उस मन को (अहं) मैं (वायोः, इव) वायु के समान (सुदुष्करं) बड़े दुःख से (निग्रहं) रोकना (मन्ये) मानता हूं अर्थात् जैसे वायु सूक्ष्म होने से बड़े दुःख से रोका जाता है इस प्रकार मन भी अति दुःख से रोका जाता है ॥

सं०—अब मन के वशीभूत करने का उपाय कथन करते हैं:—

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५

पद०—असंशयं । महाबाहो । मनः । दुर्निग्रहं । चलं । अभ्यासेन । तु । कौन्तेय । वैराग्येण । च । गृह्यते ॥

पदा०—(महाबाहो) हे बड़े बलवाले अर्जुन ! (असंशयं) इसमें सन्देह नहीं कि (मनः) मन (दुर्निग्रहं) बड़े दुःख से वश किया जासक्ता है, क्योंकि (चलं) चलवृत्ति वाला है, हे कौन्तेय ! (तु) निश्चयकरके यह (अभ्यासेन) अभ्यास (च) और (वैराग्येण) वैराग्य से (गृह्यते) वशीभूत किया जासक्ता है अन्यथा नहीं ॥

सं०—अब अशान्त मन वाले के लिये योग दुःखसाध्य कथन करते हैं:—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

पद०—असंयतात्मना । योगः । दुष्प्रापः । इति । मे । मतिः । वश्यात्मना । तु । यतता । शक्यः । अवाप्तुं । उपायतः ॥

पदा०—(असंयतात्मना) जिसका मन अपने अधीन नहीं उसको (योगः) समाधिरूप योग (दुष्प्रापः) बड़े दुःख से प्राप्त होता है (इति, मे, मतिः) यह मेरी सम्मति है (वश्यात्मना) जिसने अपने मन को वश किया है (तु) और (यतता) यत्नशील है उसको (उपायतः) उपाय करने पर (अवाप्तुं) प्राप्त होने को (शक्यः) योग्य है अर्थात् उसको प्राप्त होसक्ता है ॥

सं०—अब यह वर्णन करते हैं कि जो श्रद्धालु पुरुष मन की चंचलता के कारण योग से भ्रष्ट होजाता है वह किस गति को प्राप्त होता है:—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

पद०—अयतिः । श्रद्धया । उपेतः । योगात् । चलितमानसः । अप्राप्य । योगसंसिद्धिं । कां । गतिं । कृष्ण । गच्छति ॥

पदा०—हे कृष्ण ! (अयतिः) जो पुरुष यत्नशील नहीं (श्रद्धया, उपेतः) श्रद्धा से युक्त अर्थात् योग में श्रद्धालु है और (योगात्) योग से (चलितमानसः) गिरगया है मन जिसका वह (योगसंसिद्धिं) योग की

सिद्धि का (अप्राप्य) प्राप्त न होकर (कां, गतिं) किस गति को (गच्छति) प्राप्त होता है ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

पद०—कच्चित् । न । उभयविभ्रष्टः । छिन्नाभ्रं । इव । नश्यति । अप्रतिष्ठः । महाबाहो । विमूढः । ब्रह्मणः । पथि ॥

पदा०—हे महाबाहो ! (कच्चित्) क्या (उभयविभ्रष्टः) कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों से गिरा हुआ पुरुष (छिन्नाभ्रं, इव) बड़े मेघ से फटे हुए बादल के छोटे टुकड़े के समान (न, नश्यति) नाश को प्राप्त नहीं होजाता जो (ब्रह्मणः) परमात्मा के (पथि) ज्ञान और कर्मरूप मार्ग में (विमूढः) मोह को प्राप्त = अज्ञानी और (अप्रतिष्ठः) अप्रतिष्ठित = साधनहीन है ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

पद०—एतत् । मे । संशयं । कृष्ण । छेत्तुं । अर्हसि । अशेषतः । त्वदन्यः । संशयस्य । अस्य । छेत्ता । न । हि । उपपद्यते ॥

पदा०—हे कृष्ण ! (एतत्) यह (मे) मुझको (संशयं) संशय है, इस संशय को (अशेषतः) सर्व प्रकार से (छेत्तुं) छेदन करने को तुम (अर्हसि) समर्थ हो (त्वदन्यः) तुम्हारे से भिन्न (अस्य, संशयस्य) इस संशय का (छेत्ता) छेदन = निवारण करने वाला (हि) निश्चयकरके (न, उपपद्यते) कोई नहीं मिलसक्ता ॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

पद०—पार्थ । न । एव । इह । न । अमुत्र । विनाशः । तस्य । विद्यते । न । हि । कल्याणकृत् । कश्चित् । दुर्गतिं । तात । गच्छति ।

पदा०—हे पार्थ ! (एव) निश्चयकरके (इह) इस लोक में (तस्य)

उस पुरुष का (विनाशः) नाश (न, विद्यते) नहीं होता और (न, अमुत्र) न दूसरे जन्म में (तात) हे शिष्य ! (हि) इसलिये (कश्चित्) कोई एक (कल्याणकृत्) शास्त्रविहित कर्म करने वाला (दुर्गतिं) दुर्गति को (न, हि, गच्छति) प्राप्त नहीं होता ॥

भाष्य-कल्याणकारी कर्मों के करने वाला जिज्ञासु चित्त की चंचलता से यदि योगमार्ग से भ्रष्ट भी होजाता है अर्थात् निष्कामकर्म नहीं कर सक्ता अथवा किसी मोह में आकर परमात्मा के यथावत् स्वरूप को नहीं जानसक्ता, वह भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उसके पूर्व शुभ संस्कार बने रहते हैं, जैसाकि गी० २ । ४० में वर्णन किया है कि "स्वल्पमप्यस्यधर्मस्यत्रायतेमहतोभयात"=इस योगरूप धर्म का अंशमात्र भी बड़े२ भय से रक्षा करता है अर्थात् वह अंशमात्र भी निष्फल नहीं जाता ॥

सं०-अब योगभ्रष्ट पुरुष की गति कथन करते हैं:—

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

पद०-प्राप्य । पुण्यकृतान् । लोकान् । उषित्वा । शाश्वतीः । समाः । शुचीनां । श्रीमतां । गेहे । योगभ्रष्टः । अभिजायते ॥

पदा०-(पुण्यकृतान्) पुण्य करने वालों के (लोकान्) लोकों को (प्राप्य) प्राप्त होकर (शाश्वतीः, समाः) चिरकाल तक (उषित्वा) वहां निवास करके (शुचीनां) जो पवित्र और (श्रीमतां) श्रीमान् हैं उनके (गेहे) घर में (योगभ्रष्टः) योगभ्रष्ट पुरुष (अभिजायते) जन्म लेता है ॥

भाष्य-" लोक " शब्द के अर्थ यहां "लोक्यतेइतिलोकः = जो दर्शन का विषय हो उसका नाम "लोक" है अर्थात् पुनर्जन्म की दशा का नाम "लोक" है, वह पुरुष पुनर्जन्म में उस दशा को प्राप्त होते हैं जिस दशा को पुण्यात्मा लोग प्राप्त होते हैं अर्थात् योगभ्रष्ट पुरुषों का उत्तम जन्म होता है ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

पद०—अथवा । योगिनां । एव । कुले । भवति । धीमतां । एतत् । हि । दुर्लभतरं । लोके । जन्म । यत् । ईदृशं ॥

पदा०—(अथवा) अथवा (धीमतां) बुद्धिवाले (योगिनां) योगियों के (कुले) कुल में (एव) निश्चयकरके (यत्, ईदृशं) जो योगभ्रष्ट पुरुष है वह (भवति) उत्पन्न होता है (हि) निश्चयकरके (लोके) लोक में (एतत्, जन्म) ऐसा जन्म (दुर्लभतरं) दुर्लभ है ॥

भाष्य-इस द्वितीय पक्ष में "अथवा" कहकर इस बात को बोधन किया है कि "श्रीमतां" = जो विभूति वाले राजा महाराजा हैं उनकी अपेक्षा से बुद्धिवाले योगियों के घर में जो जन्म है वह अति दुर्लभ है और "धीमतां" बुद्धिवाला विशेषण जो योगियों को दिया है वह ज्ञानकर्म के समुच्चय के अभिप्राय से दिया है अर्थात् वह कर्मयोगी और ज्ञानयोगी भी हैं, जैसाकि "सांख्ययोगौपृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः" गी० ५ । ४ इत्यादि श्लोकों में सिद्ध कर आये हैं ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

पद०— तत्र । तं । बुद्धिसंयोगं । लभते । पौर्वदेहिकं । यतते । च । ततः । भूयः । संसिद्धौ । कुरुनन्दन ॥

पदा०—हे कुरुनन्दन ! (तत्र) पूर्वोक्त कुलों में जन्म पाकर (तं, बुद्धिसंयोगं) उस बुद्धि संयोग को जो पूर्व संस्कारों से योगरूप बुद्धि का संयोग है उसको (लभते) वह पुरुष लाभ करता है, वह कैसा बुद्धि-संयोग है (पौर्वदेहिकं) जो पूर्व देह में लाभ किया गया था (ततः) उसके अनन्तर (भूयः फिर (संसिद्धौ) मुक्ति के लिये वह पुरुष (यतते) यत्न करता है ॥

सं० -ननु, पूर्व जन्म की बुद्धि इस जन्म में कैसे आजाती है? उत्तरः-

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ ४४ ॥

पद०-पूर्वाभ्यासेन । तेन । एव । ह्रियते । हि । अवशः । अपि । सः । जिज्ञासुः । अपि । योगस्य । शब्दब्रह्म । अतिवर्त्तते ॥

पदा०-(तेन) उसी (पूर्वाभ्यासेन) पूर्वजन्म के अभ्यास से (एव) निश्चयकरके (अवशः, अपि) अवश्यमेव (सः) वह पूर्व संस्काररूप योग (ह्रियते) इस जन्म में लाया जाता है (योगस्य) उस योग का (जिज्ञासु, अपि) जिज्ञासु भी (शब्दब्रह्म) प्रकृति के (अतिवर्त्तते) बन्धनों से छूट जाता है ॥

भाष्य-शंकरमत में "शब्दब्रह्म" के अर्थ वेद के किये हैं और आशय यह निकाला है कि योग को जो सीखने वाला है वह "शब्दब्रह्म"=वेद को अतिवर्त्तते = दूर कर देता है अर्थात् उसके बन्धन से निर्मुक्त होजाता है, और जो योग को ठीक २ जानचुका हो उसकी तो कथा ही क्या, यह अर्थ यहां गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, यदि गीता का आशय वेदमार्ग को छोड़कर लोगों को निर्बन्धन बना देने का होता तो "यःशास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः" गी० १६ । २३ इत्यादि श्लोकों में शास्त्र की मर्यादा को त्यागने का दोष न कहा जाता और नाही "यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके" गी० २।४६ इत्यादि श्लोकों में वेद को सब अर्थों का भाण्डार माना जाता. शब्द गुणकं ब्रह्म=शब्द ब्रह्म=शब्द, स्पर्शादि गुणों वाला जो ब्रह्म है उसका नाम "शब्दब्रह्म" है, सो ऐसा ब्रह्म प्रकृति है, इसलिये शब्दब्रह्म के अर्थ यहां प्रकृति के हैं, जैसाकि स्वामी रामानुज ने भी लिखा है कि "शब्दाभिलाप योगं ब्रह्मप्रकृतिः"= शब्द से जिसका कथन किया जाता है ऐसी प्रकृति को यहां "शब्दब्रह्म" कहागया है, उस प्रकृति के बन्धन से वह योगी पुरुष आगे बढ़ जाता है, इसलिये "शब्दब्रह्मातिवर्तते" कहा गया है, यह अर्थ युक्तिसिद्ध

भी प्रतीत होते हैं और वह युक्ति यह है कि योगी के लिये बन्धन प्रकृति का ही है वेद विचारे का क्या बन्धन, उसने तो यथावस्थित वस्तु को प्रतिपादन कर देना है अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको वैसा ही प्रतिपादन करना है, इसलिये योगी के लिये इस श्लोक में वेदमार्ग त्याग का उपदेश नहीं ॥

सं०—ननु, फिर उस योगी को क्या फल होता है ? उत्तरः—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम् ॥ ४५ ॥

पद०—प्रयत्नात् । यतमानः । तु । योगी । संशुद्धकिल्विषः । अनेक-जन्मसंसिद्धः । ततः । याति । परां । गतिं ॥

पदा०—(प्रयत्नात्) अष्टांगयोगरूप साधनों के यत्न से (यतमानः) यत्न करता हुआ (तु) निश्चयकरके (संशुद्धकिल्विषः) भलेप्रकार शुद्ध होगये हैं पाप जिसके अर्थात् निष्पापात्मा योगी (अनेकजन्मसंसिद्धः) अनेक जन्म के किये हुए साधनों से जो सिद्धि को प्राप्त है (ततः) उसके अनन्तर (परां, गतिं) परागति जो मुक्ति है उसको (याति) प्राप्त होता है ॥

सं०—अब उस योगी का महत्व वर्णन करते हैं:—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

पद०—तपस्विभ्यः । अधिकः । योगी । ज्ञानिभ्यः । अपि । मतः । अधिकः । कर्मिभ्यः । च । अधिकः । योगी । तस्मात् । योगी । भव । अर्जुन ॥

पदा०—(योगी) योगी (तपस्विभ्यः) तपस्वियों से (अधिकः) बड़ा है (ज्ञानिभ्यः, अपि) ज्ञानियों से भी (अधिकः) बड़ा (मतः) माना गया है (च) और (कर्मिभ्यः) कर्मियों से (अपि) भी (अधिक) बड़ा है (तस्मात्) इसलिये हे अर्जुन ! तु (योगी, भव) योगी बन ॥

भाष्य—इस श्लोक में इस बात को सिद्ध करदिया कि "योगी" शब्द यहां केवल कर्मों के लिये नहीं आया किन्तु जो ज्ञान और कर्म को साथ २ करता है उसके लिये आया है, इसलिये केवल ज्ञानियों और केवल कर्मियों से योगी को भिन्न करके कहा है कि जो सच्चे दिल से परमात्मा की भक्ति करने वाला योगी है वही परमात्मा को प्यारा है ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

पद०-योगिनां । अपि । सर्वेषां । मद्गतेन। अन्तरात्मना । श्रद्धावान् । भजते । यः । मां । सः । मे । युक्ततमः । मतः ॥

पदा०-(सर्वेषां) जो सब (योगिनां) योगियों में से (मद्गतेन) मेरे विषयक (अन्तरात्मना) चित्तवृत्ति लगाकर (श्रद्धावान्) श्रद्धा वाला (यः) जो (मां) मुझको (भजते) प्राप्त होता है (सः) वह (मे) मुझको (अपि) भी (युक्ततमः) श्रेष्ठ योगी (मतः) अभिमत है ॥

भाष्य-इस श्लोक में सब योगियों में से उस योगी को श्रेष्ठ माना है जो एकमात्र परमात्मा को अवलम्बन करके अपनी चित्तवृत्ति का निरोध करता है, जैसाकि "एतदालंबनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परं एतदालंबनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते " कठ० २ । १७ = ओं० अक्षर का अर्थ जो परमात्मा है वह श्रेष्ठ अवलम्बन है और वही सबसे बड़ा अवलम्बन है, इस अवलम्बन वाला पुरुष ब्रह्मलोक ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ समझा जाता है, इस आशय को लेकर कृष्णजी ने "मद्गतेनान्तरात्मना" यह शब्द कहा है अर्थात् एकमात्र परमात्मा द्वारा जो चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग करते हैं वह योगी परमात्मा को अभिमत हैं, " अस्मच्छब्द "के यहां वही अर्थ हैं जो पीछे हम कई एक स्थलों में कर आये हैं अर्थात् परमात्मा के धर्मों को धारण करने के कारण कृष्णजी अपने आपको परमात्मा की ओर से कथन करते हैं ॥

ननु—जब "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इस लक्षण से योग एक ही प्रकार का है तो सब योगियों में से एक प्रकार के योगी को क्यों श्रेष्ठ कहा ? उत्तर-चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग बहुत प्रकार के हैं इस बात को योगशास्त्र ने भी माना है, जैसाकि " प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य " यो० १ । ३४ = प्राण को बाहर निकालने और भीतर लेजाने से चित्तवृत्ति का निरोध होता है और भीतर लेजाने से चित्तवृत्ति का निरोध होता है अर्थात् एक प्रकार का निरोध प्राणायाम से होता है और दूसरा

"विषयवतीवाप्रवृत्तिरुत्पन्नमनसः स्थितिनिबन्धिनी" यो० १।३५= किसी विषय वाली वस्तु में चित्तवृत्ति का निरोध करना भी योग है, जैसाकि स्वाध्याय आदि, एवं इससे आगे यह वर्णन किया है कि किसी विरक्त को लक्ष्य रखकर भी चित्तवृत्ति का निरोध किया जासक्ता है. इस प्रकार चित्तवृत्तिनिरोध के अनेक उपाय हैं, पर इन सब उपायों में मुख्य उपाय परमात्मा में चित्तवृत्तिनिरोध का है, इसी अभिप्राय से कृष्णजी ने कहा है कि सब योगियों में से परमात्माविषयक चित्तवृत्तिनिरोध वाला योगी सबसे श्रेष्ठ है, स्वामी शं० चा० सब योगियों में से श्रेष्ठ योगी के यह अर्थ करते हैं कि "रुद्रादि ध्यान करने वालों में से जो कृष्णजी का भक्त है वह श्रेष्ठ है" पर यह अर्थ इनके सिद्धान्तानुकूल शोभते नहीं, क्योंकि इनके मत में रुद्र शिव का नाम है और वह भी साक्षात् ईश्वर का अवतार है फिर उसके भक्त श्रेष्ठ योगी क्यों नहीं, इसलिये इसका यथावत् अर्थ यही प्रतीत होता है कि जो चित्तवृत्तिनिरोध के सर्व कारणों में से मुख्य ईश्वर को कारण समझता है वह योगी श्रेष्ठ है ॥

ननु-तुम तो मूर्त्तिपूजनादिकों से चित्तवृत्तिनिरोध ही नहीं मानते और यहां आकर तुमने चित्तवृत्तिनिरोध के योगसूत्रों से भी कई उपाय मान लिये, फिर यदि कोई मूर्तिपूजा द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध करता है तो क्या बुरा करता है ? उत्तर-हम यह कब कहते हैं कि और वस्तुओं से चित्तवृत्तिनिरोध नहीं होता, मिथ्याज्ञान से भी चित्तवृत्तिनिरोध होजाता है और विषय लम्पटों को विषयों की प्राप्ति से भी होजाता है, पर वह शास्त्रीय निरोध नहीं कहलाता, इसलिये चित्तवृत्तिनिरोध को योगशास्त्र में "विशोकाज्योतिष्मती" यो० १ । ३६ इस सूत्र से लेकर यह वर्णन किया है कि शोकरहित चित्तवृत्तिनिरोध वही है जो सात्विक है अर्थात् जो जैसी वस्तु है उसको वैसा समझना, जैसाकिः—

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्य्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥

गी० १८ । २२ ॥

अर्थ-जो एक कार्य्य में नाना प्रकार का ज्ञान हो और वह कैसा हो जो

बुद्धि से निरूपण न होसके इसको "तामस" ज्ञान कहते हैं, जैसाकि एक मूर्ति में उपासक की ईश्वरबुद्धि भी है और पाषाणबुद्धि भी है, ऐसे विषयों में चित्तवृत्तिनिरोध सात्विक नहीं कहलाता किन्तु आविद्यक कहलाता है, जैसाकिः—

"अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या"

यो० २। ५

अर्थ—अनित्य में नित्य बुद्धि, अपवित्र में पवित्र बुद्धि, दुःख में सुख बुद्धि और अनात्मा में आत्मबुद्धि "अविद्या" कहलाती है, इससे यह सिद्ध हुआ कि मूर्तिपूजा में जो चित्तवृत्तिनिरोध है वह अविद्या होने से उपादेय नहीं किन्तु हेय है अर्थात् ग्राह्य नहीं त्याज्य है, और जो "यथाभिमतध्यानाद्वा" यो० १। ३६ इस सूत्र का इस भाव से व्याख्यान करते हैं कि जिसमें अभिमत हो उसी में चित्तवृत्तिनिरोध करले, यह इसके अर्थ नहीं, "यथाभिमत०" के अर्थ यो० १—२६। २७। २८ इस त्रिसूत्री में चित्तवृत्तिनिरोध का उपाय कथन किया है और वह यथाभिमत शब्द से लिया गया है. इसीलिये जो स्वामी शं० चा० और उनके चेलों ने रुद्रादिकों का ध्यान योगियों के लिये कथन किया है वह योगसूत्र और गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, किन्तु गीता का यही आशय है कि प्राणायाम आदि चित्तवृत्तिनिरोध के कारणों में से सच्चिदानन्दादि लक्षण लक्षित परमात्मा को लक्ष्य रखकर जो चित्तवृत्तिनिरोध किया जाता है वह सर्वोपरि है, इस अभिप्राय से कृष्णजी ने कहा है कि "स मे युक्ततमोमतः" = वह श्रेष्ठ योगी मुझको=परमात्मा को अभिमत है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये, ध्यानयोगोनाम षष्ठोऽध्यायः

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रथमं षट्कं समाप्तम्

अथ सप्तमोऽध्यायः प्रारभ्यते

सङ्गति–पूर्व प्रथम "षट्क" में अर्जुन की सन्देहनिवृत्ति के लिये सांख्य योग से नित्यानित्य वस्तुओं का विवेचन किया अर्थात् अर्जुन को देहादि अनित्य पदार्थों में जो नित्यबुद्धि होरही थी उसकी निवृत्ति करके कर्मयोग और कर्मसंन्यासयोग के विरोध को मिटाया अर्थात् कर्मों की अवश्यकर्त्तव्यता बोधन करके निष्कामकर्मों को ही संन्यास वर्णन किया, फिर ध्यानयोग में शब्द, स्पर्शादिकों से रहित जो एकमात्र सृष्टि का कर्त्ता, हर्त्ता और सम्पूर्ण सृष्टि का धारण करता है उसी की उपासना ध्यानयोग द्वारा वर्णन की ॥

अब इस "मध्यम षट्क" में उस परमात्मा की विभूति और उसके ध्यानकर्त्ता योगेश्वरों का उससे सम्बन्ध निरूपण किया जाता है अर्थात् यह बतलाया जाता है, कि जीव ईश्वर का परस्पर क्या संबन्ध है ? और यह "षट्क" इस अभिप्राय को भी निरूपण करता है कि "**मद्गतेनान्तरात्मना**" पूर्व "षट्क" के अन्तिम श्लोक में जो यह वाक्य है इसके क्या अर्थ हैं, इस अर्थ में जो भ्रान्ति उत्पन्न होती थी कि कृष्ण ही परमेश्वर है अथवा इस चराचर जगत् का अधिकरण कोई और है ? इस भ्रान्ति की निवृत्ति के लिये अस्मच्छब्द = "अहं" शब्द वाच्य ब्रह्म को सब प्रकृति का स्वामी और सम्पूर्ण विश्व को एकमात्र अक्षर ब्रह्म में ओत प्रोत वर्णन करके इस सन्देह की निवृति करेंगे ॥

स्वामी शं० चा० और उनके चेलों ने इस "षट्क" की पूर्व "षट्क" से यह सङ्गति लिखी है कि पूर्व "षट्क" में "त्वं" पद का लक्ष्यरूप अर्थ वर्णन किया गया, अब "तत्" पद का लक्ष्य वर्णन करते हैं अर्थात् प्रथम के छः अध्यायों में जीवरूप चेतन का निरूपण करके अब इन छः अध्यायों में ब्रह्मरूप चेतन का निरूपण किया जाता है, प्रथम तो यह संगति इस लिये ठीक नहीं कि प्रथम के छः अध्यायों में केवल जीव का ही निरूपण नहीं किया गया किन्तु "**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः**"

गी० ४ । १३ " ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् "
गी० ४ । ११ इत्यादि श्लोकों में ईश्वर का भी निरूपण किया गया है, और इन अध्यायों में विशेष करके ज्ञान कर्म के समुच्चयवाद का वर्णन है, फिर पूर्व "षट्क" को "त्वं" पद के लक्ष्य का वर्णन करने वाला बतलाना जीव ब्रह्म के ऐक्य की मनोरथमात्र से भूमिका बांधना है, अस्तु–अब इनके जीव ब्रह्म की एकता की साक्षी इस "षट्क" से कहांतक मिलती है इस भाव को "षट्क" का विषय स्वयं बतला देगा, देखोः—

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

पद०–मयि । आसक्तमनाः । पार्थ । योगं । युञ्जन् । मदाश्रयः । असंशयं । समग्रं । मां । यथा । ज्ञास्यसि । तत् । शृणु ॥

पदा०–हे पार्थ ! (मयि) मेरे में (आसक्तमनाः) लगे हुए मन वाला होकर (योगं, युञ्जन्) योग के साथ जुड़ता हुआ और (मदाश्रयः) एकमात्र मेरे आश्रय रहता हुआ (असंशयं) संशय से रहित (समग्रं, मां) सम्पूर्ण मुझको (यथा, ज्ञास्यसि) जैसे जानेगा (तत्) वह (शृणु) सुन ॥

भाष्य–एतावानस्यमहिमातोज्यायांश्चपूरुषः ।
पादोस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि ॥
यजु० ३१ । ३

अर्थ–(एतावान्) यह ब्रह्माण्ड (अस्य) इस परमात्मा का (महिमा) महत्व है (अतः) इस महत्व=चराचर जगत् से वह परमात्मा बड़ा है अर्थात् सम्पूर्ण विश्व के जड़ चेतनरूप भूत उसके एकपाद स्थानीय=एकदेशी और वह परमात्मा त्रिपाद स्थानीय (अमृत) मृत्यु से रहित है, इस मन्त्र में पाद कल्पना इस संसार को उसके एकदेश में बोधन करने के अभिप्राय से है साकार के अभिप्राय से नहीं, इस भाव को साकारवादियों के सर्वोपरि स्वामी शं० चा० भी मानते हैं कि यह पादकल्पना ईश्वर

के साकार होने के अभिप्राय से नहीं किन्तु इस सम्पूर्ण विश्व को परमात्मा के एकदेशी होने के अभिप्राय से है, उक्त मन्त्र को लक्ष्य रख कर परमात्मा के एकदेश में जो प्रकृति आदि भूत हैं उनको वर्णन करने के लिये व्यासजी ने " समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु " यह कथन किया है अर्थात् परमात्मा को सम्पूर्ण रीति से जानना तभी होसक्ता है जब उसके पादस्थानीय प्रकृति को भी जाना जाय और वह जानना परमात्मा के योग को आश्रित करके होता है, यहां कृष्णजी अस्मच्छब्द का प्रयोग परमात्मा की विभूति में से एकपादरूप अवयव होने के अभिप्राय से अवयव अवयवी का अभेद करके कथन करते हैं, इसी अभेद को विशिष्टाद्वैतवादी स्वामी रामानुज आदि विशिष्टाद्वैतवाद के नाम से कथन करते हैं अर्थात् जिसप्रकार एक महाराजा की विभूति को पुरुष अपनी विभूति कहदेता है इसी प्रकार कृष्णजी उस विभूति का एक-देश होने से अभेदोपचार द्वारा अस्मच्छब्द से अपने को परमात्मा कथन करते हैं. और यह बात इसी अध्याय के चतुर्थ श्लोक से स्पष्ट पाई जाती है जिसमें भूमि आदि प्रकृति को कृष्णजी ने अपनी प्रकृति बतलाया है, यदि कृष्णजी का यह भाव न होता तो भूमि आदिकों को अपनी प्रकृति कैसे कहते, मायावादियों ने यहां "प्रकृति" शब्द के अर्थ भी अपनी माया के ही करलिये हैं, जैसाकि " स्वसिद्धान्ते च ईक्षणसंकल्पात्मको माया परिणामावेव " गी० ७।४ म० सू० = हमारे सिद्धान्त में इच्छा और संकल्प करना माया का परिणाम ही है अर्थात् मायावादियों के सिद्धांत में ब्रह्म ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, निमित्तकारण जिस उपादान कारण से भिन्न न हो उसको "अभिन्ननिमित्तोपादान" कारण कहते हैं, जगत् में तो ऐसा दृष्टान्त कोई नहीं मिलता, मायावादियों के मत में ही यह सिद्धान्त है कि निमित्तकारण भी आप और उपादान कारण भी आप हो, " उपादान " कारण उसको कहते हैं कि जिसमें से कार्य्य बनजाय, जैसे मिट्टी से घड़ा, रुई से कपड़ा इत्यादि, घड़े का मिट्टी और रुई कपड़े का उपादान कारण है, "निमित्तकारण" वह कहलाता है जो अपने आप भिन्न हो अर्थात् उसका स्वरूप बदलकर कार्य्यरूप न हो, जैसे घट की उत्पत्ति

में कुम्हार, पट की उत्पत्ति में जुलाहा और चक्रदण्डादि, मायावादी लोग ब्रह्म को प्रकृतिरूप उपादान कारण भी मानते हैं और निमित्तकारण भी मानते हैं. इसीलिये " प्रकृतिश्चप्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् " ब्र० सू० १ । ४ । २३ का इनके मत में यह व्याख्यान है कि प्रकृतिरूप उपादान कारण भी ब्रह्म और निमित्त कारण भी ब्रह्म है, पर इस सप्तमाध्याय में आकर व्यासजी ने मिथ्यावादियों का यह सिद्धान्त मिथ्या कर दिया. यदि व्यासजी के मत में उपादान कारण भी ब्रह्म होता तो इस अध्याय के " भूमिरापोऽनलोवायुःखंमनोबुद्धिरेव च " गी० ७ । ४ इत्यादि श्लोकों में प्रकृति को भिन्न वर्णन करके आगे के श्लोक में जीव को भिन्न वर्णन न करते और उससे आगे परमात्मा को भिन्न वर्णन कियागया है, इस प्रकार तीन पदार्थों को भिन्न २ अनादि क्यों वर्णन किया जाता, एवं प्रकृति, जीव, ईश्वर, इन तीनों को मिलाकर जो परमात्मा की समग्र विभूति है उसके ज्ञान के लिये इस " षट्क " का प्रारम्भ करते हुए निम्नलिखित श्लोक में यह वर्णन किया है कि:—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वानेहभूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

पद०-ज्ञानं । ते । अहं । सविज्ञानं । इदं । वक्ष्यामि । अशेषतः । यत् । ज्ञात्वा । न । इह । भूयः । अन्यत् । ज्ञातव्यं । अवशिष्यते ॥

पदा०-(ते) तुम्हारे प्रति (सविज्ञानं) विज्ञान के सहित (इदं, ज्ञानं) इस ज्ञान को (अशेषतः) सम्पूर्ण रीति से (वक्ष्यामि) कथन करता हूं (यज्ज्ञात्वा) जिसको जानकर (इह) इस संसार में (भूयः) फिर (अन्यत्) और (ज्ञातव्यं) जानने योग्य (न, अवशिष्यते) शेष नहीं रहेगा ॥

भाष्य—" ज्ञान " शब्द का अर्थ यहां साधारण ज्ञान और "विज्ञान" शब्द का अर्थ विशेषज्ञान है, जो ज्ञान परमात्मा का विषय करने वाला अर्थात् जिससे जीव, ईश्वर, प्रकृति का भिन्न भिन्न ज्ञान हो उसको "विज्ञान" कहते हैं, जैसाकि स्वामी रामानुज ने लिखा है कि

"विज्ञानं–विविक्ताकारविषयं ज्ञानं यथाहं मद्व्यतिरिक्तात्समस्तचिदचिद्वस्तु जातान्निखिल हेय प्रत्यनीकतयाऽनवधिकातिशया संख्येयकल्याणगुणगणनन्तमह्णविभूतितया च विविक्तः तेनविविक्तविषयज्ञानेन सहमत्स्वरूपविषयज्ञानंवक्ष्यामि"= विज्ञान के अर्थ यहां विवेक हैं अर्थात् जीव ईश्वर को भिन्न २ जानलेना, सम्पूर्ण जड़ चेतन वस्तुजात और सम्पूर्ण हेय पदार्थों से परमात्मा भिन्न है, बिना अवधि की अधिकता वाले अर्थात् बेहद जो अनन्तकल्याण गुण हैं उन गुणों के भेद से परमात्मा इन सम्पूर्ण जड़ चेतन वस्तुओं से विलक्षण है, ऐसे विवेक वाले ज्ञान के साथ जो परमात्मा को जानता है उस ज्ञान को मैं कथन करता हूं, यह विविक्तज्ञान चौथे, पांचवें और छवें श्लोक में स्पष्ट रीति से वर्णन किया गया है, मधुसूदन स्वामी ऐसे स्पष्ट विभिन्नता के ज्ञान को मायावाद में यों मिलाते हैं कि "यत्ज्ञानं नित्य चैतन्यरूपंज्ञात्वावेदान्तजन्यमनोवृत्ति विषयीकृत्य इह व्यवहार भूमौ भूयः पुनरपि अन्यत्किञ्चिदपि ज्ञातव्यं नावशिष्यते सर्वाधिष्ठानसन्मात्रज्ञानेन कल्पितानां सर्वेषां बाधे सन्मात्र परिशेषात् तन्मात्रज्ञानेनैव त्वं कृतार्थो भविष्यसीत्यभिप्रायः"

गी० ७ । २ म० सू०

अर्थ–जो ज्ञान नित्य चैतन्यरूप है जिसको जानकर वेदान्तवाक्य से उत्पन्न हुई जो मन की वृत्ति उसको विषय करके इस संसार में फिर व्यवहार विषयक कुछ जानने योग्य नहीं रहता, सब का अधिष्ठान जो सत्तामात्र ब्रह्म उसके ज्ञान से सब कल्पित वस्तुओं का बोध होजाने से तू कृतार्थ होगा, यह अभिप्राय है अर्थात् जैसे रज्जु के ज्ञान से भ्रमरूप सर्प की निवृत्ति होजाती है इसी प्रकार एकमात्र ब्रह्म के जानने से सम्पूर्ण कल्पित संसार की निवृत्ति होजाती है, इसी अभिप्राय से कहा है कि "न अन्यत् ज्ञातव्यं अवशिष्यते" = फिर और जानने योग्य नहीं रहेगा, यदि मायावादी मधुसूदन स्वामी के इस भाव को लक्ष्य रखकर गीता लिखी गई होती तो "मत्तःपरतरंनान्यत् किंचिदस्ति धनंजय"

गी० ७ । ७ इससे आगे न चार प्रकार के भक्तों का वर्णन किया जाता और नाही अनन्त प्रकार की विभूति का वर्णन होता, न दैवीसम्पत्ति और न आसुरीसम्पत्ति वतलाकर मनुष्यों को सन्मार्ग का उपदेश किया जाता, अधिक क्या अर्जुन को भीरू देखकर यह कल्पित की कहानी पढ़ादी जाती तो फ़िर "मिथ्यैषव्यवसायतेप्रकृतिस्त्वांनियोक्ष्यति" गी० १८ । ५९ इत्यादि श्लोकों में बलपूर्वक युद्धकर्म का उपदेश न किया जाता और न परमात्मा के जानने में इस प्रकार की दुर्विज्ञेयता पाई जाती, जैसाकिः—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

पद०—मनुष्याणां । सहस्रेषु । कश्चित् । यतति । सिद्धये । यततां । अपि । सिद्धानां । कश्चित् । मां । वेत्ति । तत्त्वतः ॥

पदा०—(मनुष्याणां, सहस्रेषु) सहस्रों मनुष्यों में से (सिद्धये) सिद्धि के लिये (कश्चित्, यतति) कोई एक यत्न करता है (यततां, अपि, सिद्धानां) उन यत्न करने वाले जिज्ञासुओं में से (कश्चित्) कोई एक पुरुष (मां) मुझको (तत्त्वतः, वेत्ति) यथार्थपन से जानता है ॥

भाष्य—पूर्व श्लोक में जो यह कथन किया गया था कि परमात्मा के जानने के अनन्तर फिर कुछ ज्ञातव्य नहीं रहता, इसलिये इस श्लोक में परमात्मा की दुर्विज्ञेयता कथन कीगई है कि प्रथम तो सहस्रों मनुष्यों में से कोई एक पुरुष साधनसम्पन्न होने का यत्न करता है, फिर उन साधनसम्पन्न पुरुषों में से कोई एक पुरुष परमात्मा को वास्तव में जानता है, ठीक है परमात्मा का जानना ऐसा ही दुर्घट है, यदि परमात्मा इन्द्रियगोचर होता तो राम, कृष्ण, देवी, देवता को जानने वाले सभी परमात्मा के ज्ञाता कहलाते और शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी मूर्त्त पदार्थों के मानने वाले भी ब्रह्मवेत्ता कहलाते. परमात्मा इन्द्रियगोचर नहीं किन्तु ज्ञान और अनुष्ठानगम्य है, इसीलिये मुण्डक० ३ । १ । ८ में वर्णन किया है किः—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

अर्थ–वह परमात्मा न आंखों से देखा जाता, न वाणी से कथन किया जासक्ता और न अन्य इन्द्रियों से कोई उसको प्राप्त होसकता है किंतु ज्ञान के प्रसाद से शुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष उस निर्गुण परमात्मा को जानसक्ता है, मधुसूदन स्वामी ने परमात्मा को तत्त्व से जानने की फिर वही तत्त्वमसि वाली कहानी कथन की है कि "तत्त्वतः प्रत्यगभेदेनतत्त्वमसीत्यादिगुरूपदिष्टमहावाक्येभ्य अनेकेषुमनुष्येष्वात्मज्ञानसाधनानुष्ठायी" = "तत्त्वतः" के अर्थ यह हैं कि गुरू ने जो "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों का उपदेश किया है उस उपदेश से जीव ब्रह्म के अभेद को अनेक मनुष्यों में से कोई एक ही इस आत्मज्ञान रूप साधन के अनुष्ठान वाला होता है, यदि इनके तत्त्वमसि के उपदेश से ही परमात्मा तत्त्व से जाना जाता तो व्यासजी ने इन अष्टादश अध्यायों वाली गीता में तत्त्वमसि का ही उपदेश क्यों न करदिया जिससे इन चार अक्षरों से ही विचारे आधुनिक वेदान्तियों का कल्याण होजाता, फिर महा आयाससाध्य गीताशास्त्र में ज्ञान और उसके अनुष्ठान का विधान क्यों किया ॥

सं०–ननु, तुम्हारे वैदिकमत में जो जीव, ईश्वर, प्रकृति भिन्न २ हैं इन तीनों के भेद का उपदेश गीता में कहां है ? उत्तरः—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

पद०–भूमिः । आपः । अनलः । वायुः । खं । मनः । बुद्धिः । एव । च । अहंकारः । इति । इयं । मे । भिन्ना । प्रकृतिः । अष्टधा ॥

पदा०–(भूमिः) पृथिवी (आपः) जल (अनलः) अग्नि (वायुः) वायु (खं) आकाश (मनः, बुद्धिः) मन, बुद्धि (च) और (अहंकारः) अहंकार (इति) ये (मे) मेरी (भिन्ना) भिन्न २ (अष्टधा, प्रकृतिः) आठ प्रकार की प्रकृति है ॥

भाष्य–यहां "प्रकृति" शब्द के अर्थ "प्रक्रियतेऽनया इति प्रकृतिः" इस व्युत्पत्ति से उपादान कारण के हैं अर्थात् जिससे यह जगत् बनाया

जाय उसका नाम "प्रकृति" है, यहां सांख्यशास्त्र की मानी हुई प्रकृति को व्यासजी ने लिखा है जिसका प्रमाण यह है कि "सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारोऽहंकारात्पंचतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः"=सत्व, रज, तम, इन तीनो गुणों की साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है, प्रकृति से महान्=महत्तत्व, महत्तत्व से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्र=शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, इनसे पांच कर्मेन्द्रिय और मन को मिलाकर छ ज्ञानेन्द्रिय और इन्हीं पंचतन्मात्रों से पांच स्थूल भूत होते हैं और पुरुष, यह (पंचविंशति) पच्चीस गण हैं जो सांख्यशास्त्र का सिद्धान्त है, इसी सिद्धान्त को लेकर यहां यह आठ प्रकार की प्रकृति गीता में लिखी है, और भूमि आदि शब्दों से यहां पंचतन्मात्रों का ग्रहण है, मायावादी लोग यहां प्रकृति के अर्थ माया के लेते हैं जो इनके मत में ब्रह्म के आश्रय रहने वाले अज्ञान का नाम है, और वह अज्ञान इनके मत में ज्ञानमात्र से निवृत्त होजाता है, इसलिये वह कोई भाव पदार्थ नहीं कहा जासक्ता, यदि गीता में प्रकृति शब्द इनकी माया का वाचक होता तो "य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह" गी० १३ । २३ इस श्लोक में यह क्यों कहा जाता कि गुणों के साथ जो प्रकृति को जानता है वह बन्धन में नहीं आता, इनके मत में तो उस मायारूपी अज्ञान के नाश द्वारा बन्धन से रहित होता है नकि और किसी ज्ञान अथवा अनुष्ठान से होता है, इतना ही नहीं गी० १३ । ५ में सांख्यशास्त्र को माना हुआ उक्त पंचविंशति गण स्पष्ट पाया जाता है, फिर प्रकृति शब्द के अर्थ अद्वैतवादी माया के कैसे करते हैं ? अस्तु–उन स्थलों में इस बात को विस्तारपूर्वक लिखा जायगा जिन स्थलों में मायावादी लोग अपने मिथ्याभाष्य से इस पंचविंशति गण को छिपाते हैं, यहां इतना ही प्रकृत था कि इस आठ प्रकार की प्रकृति से व्यासजी का अभिप्राय उपादानकारण का है और उस उपादानकारण को जीव और ब्रह्म से भिन्न माना है, इसलिये इसके अर्थ माया के नहीं होसक्ते, मायावादियों के सिद्धान्तानुकूल माया ब्रह्म से

भिन्न कोई वस्तु नहीं किन्तु ब्रह्म के सहारे रहनेवाले एक अज्ञान का ही नाम माया है, इसलिये गीता में प्रकृति शब्द के अर्थ मायावादियों की माया के नहीं होसक्ते ॥

सं०-अब जीवरूप प्रकृति का वर्णन करते हैं:—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

पद०-अपरा । इयं । इतः । तु । अन्यां । प्रकृतिं । विद्धिः । मे । परां । जीवभूतां । महाबाहो । यया । इदं । धार्यते । जगत् ॥

पदा०-हे अर्जुन! (इयं) यह (अपरा) अपरा प्रकृति आठ प्रकार की है (तु) निश्चयकरके (मे) मेरी (इतः, अन्यां, प्रकृतिं) इससे अन्य प्रकृति (जीवभूतां) जो जीवरूप है (परां) पूर्व वर्णित आठ प्रकार की प्रकृति जो परा=बड़ी है, हे महाबाहो! (यया) जिस जीवरूप प्रकृति से (इदं, जगत्) यह शरीररूप जगत् (धार्यते) धारण किया जाता है उसको तू (विद्धिः) जान ॥

भाष्य-"जगत्" शब्द यहां गति वाला होने के कारण शरीर के लिये आया है, इस अभिप्राय से नहीं आया कि इस सम्पूर्ण जगत् को जीव धारण करलेता है, परन्तु मायावादी लोगों ने "यया इदं धार्यते जगत्" इस वाक्य का यही व्याख्यान किया है कि जीव निखिलजगत् को धारण करता है और यहां प्रमाण यह दिया है कि "अनेनजीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" छा० ६ । ३ । २=इस जीवरूप आत्मा से प्रवेश करके नाम रूप को करूं, इसके अर्थ मायावादियों ने यह किये हैं कि ब्रह्म ही जीवरूप होकर उत्तम, अधम जन्तुओं में प्रविष्ट होरहा है, पर यह अर्थ गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध हैं, यदि यह अर्थ होते तो आगे के श्लोक में परमात्मा को इस दोनों प्रकार की प्रकृति से भिन्न क्यों निरूपण किया जाता, और यदि ब्रह्म ही जीवरूप होकर प्रविष्ट हुआ होता तो कोई ऊँच और कोई नीच कैसे बन जाता. यदि कर्मों की व्यवस्था स्वीकार करो तो जब ब्रह्म जीवरूप होकर प्रविष्ट हुआ तो उस समय आपके उस शुद्धब्रह्म में कर्म कहां से आये? जीव के ब्रह्म बनने के

खण्डन में महर्षिव्यास ने "नकर्माविभागादिति चेन्नाऽनादित्वात्" ब्र० सू० २ । १ । ३५ इस सूत्र में वर्णन किया है कि यदि यह कहाजाय कि पहले कर्म न थे एक ब्रह्म ही था तो यह ठीक नहीं, क्योंकि अनादित्वात्= जीव और उसके कर्मों के अनादि होने से, और यहां स्वामी शं० चा० ने भी कर्मों के बन्धन की व्यवस्था में फसकर जीव को अनादि ही मानलिया है, जीव किसी समय में ब्रह्म था मायावश जीव बना, मायावादियों के इस सिद्धान्त को स्वामी शं० चा० ने यहां जलांजलि देदी है, सन्देह हो तो उक्त सूत्र का शङ्करभाष्य पढ़ देखें ॥

सं०-ननु, प्रकृति के अर्थ तो तुमने यहां उपादान कारण के किये हैं फिर जीव को प्रकृति कैसे कहा गया ? उत्तरः—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

पद०-एतद्योनीनि । भूतानि । सर्वाणि । इति । उपधारय । अहं । कृत्स्नस्य । जगतः । प्रभवः । प्रलयः । तथा ॥

पदा०-हे अर्जुन ! (सर्वाणि, भूतानि) सब प्राणी (एतद्योनीनि) इन दोनों योनियों अर्थात् दोनों कारणों वाले हैं (इति) यह (उपधारय) निश्चय कर, और (अहं) मैं (कृत्स्नस्य, जगतः) सम्पूर्ण जगत् का (प्रभवः) उत्पत्ति तथा (प्रलयः) नाश का कारण हूं ॥

भाष्य-प्राणियों की उत्पत्ति में जीव की भी कारणता पाई जाने से जीव को प्रकृति कहा है, और "प्रकृति" शब्द के अर्थ साधन के भी हैं, जैसा कि राजा की प्रकृति मन्त्री आदि कहलाते हैं, मायावादी इस श्लोक के भाष्य में फिर तीनों को मिला देते हैं, जैसाकि-" स्वप्निकस्येव प्रपञ्चस्य मायिकस्य मायाश्रयत्वविषयत्वाभ्यां मायाव्यहमेवोपादानं द्रष्टा चेत्यर्थः" म० सू०=माया का स्वाश्रय और विषय होने से स्वप्न प्रपञ्च के समान इस मायारचित सम्पूर्ण प्रपञ्च का मैं मायावी उपादान कारण और द्रष्टा हूं अर्थात् निमित्तकारण हूं, माया का आश्रय और विषय मायावादी उसको कहते हैं कि जैसे गृह की चारो ओर की

भित्तियों के आश्रय अन्धकार उत्पन्न होता और उसी को अच्छा-दित करलेता है, इसी प्रकार ब्रह्म के आश्रय से अज्ञान उत्पन्न होकर उसी को ढक लेता है, उस अज्ञान सहित ब्रह्म को इन्होंने अभिन्न-निमित्तोपादानकारण माना है अर्थात् आप ही उपादान और आप ही निमित्तकारण है, पर मायावादियों का यह कथन गीता में सर्वथा निर्मूल है, यदि ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण होता तो चौथे श्लोक में आठ प्रकार की प्रकृति ब्रह्म से भिन्न वर्णन न कीजाती और नाही जीव को भिन्न वर्णन किया जाता, और बात यह है कि यदि सब जड़ चेतन वस्तुजात ब्रह्म ही होता तो उस अक्षर में सब ओत प्रोत न बतलाया जाता, जैसाकिः—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

पद०—मत्तः । परतरं । न । अन्यत् । किंचित् । अस्ति । धनंजय । मयि । सर्वं । इदं । प्रोतं । सूत्रे । मणिगणाः । इव ॥

पदा०—हे अर्जुन ! (मत्तः) मेरे से (परतरं) बड़ा (अन्यत्) और (किंचत्) कोई (न, अस्ति) नहीं है (सूत्रे) सूत्र में (मणिगणाः, इव) मणियों के समूह के समान (मयि) मेरे में (इदं, सर्वं) यह सब (प्रोतं) ओत प्रोत है ॥

भाष्य—इस श्लोक का विषयवाक्य यह हैः—

"कस्मिन्नुखल्वाकाश ओतश्चप्रोतश्च० " बृहदा० ३ । ८ । ७

" सहोवाचैतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु-ह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसंगम-रसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममा-त्रमनन्तरमवाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन "

बृहदा० ३ । ८ । ८

अर्थ—इससे पूर्व गार्गि ने यह पूछा है कि ब्रह्माण्ड में जो पृथ्वी, द्यौलोकादि पदार्थ हैं वह किसमें ओत प्रोत हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया

कि आकाश में, फिर जब आकाश के विषय में प्रश्न किया कि आकाश किसमें ओत प्रोत है ? तो याज्ञवल्क्य ने उस अक्षर में सबको ओत प्रोत बतलाया जिस अक्षर को ब्रह्मवेत्तालोग (अस्थूल) स्थूलता से रहित (अनणु) अणुता रहित (अह्रस्व) ह्रस्वता से रहित (अदीर्घ) दीर्घता से रहित मानते हैं (अलोहित) जो लाल न हो (अस्नेह) जो चिकना न हो (अच्छायं) जिसकी छाया न हो (अतमः) जो अन्धकाररूप न हो (अवायु) जो वायुरूप न हो (अनाकाश) जो आकाशरूप न हो (असङ्ग) जो संग से रहित हो (अरसं) जो रस से रहित हो (अगन्धं) जो गन्ध से रहित हो (अचक्षुष्कं) जो चक्षुओं से रहित हो (अश्रोत्रं) जो श्रोत्रों से रहित हो (अवाग्, मनः) जो मन वाणी से रहित हो (अतेजस्कं) जो तेज न हो (अप्राणं) जो प्राण न हो (अमुखं) जो मुख न हो (अमात्रं) जो मात्रारूप न हो (अनन्तरं) जो भीतर न हो (अबाह्यं) जो बाहर न हो, न वह किसी को खाय और न उस को कोई खासके, इस प्रकार का अक्षर ब्रह्म जिसका कभी क्षय नहीं होता उसकी प्रशासना में सूर्य्य चन्द्रमादि भ्रमण करते हैं, उसी अक्षर की प्रशासना में नदियें बहतीं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी अक्षर में ओत प्रोत हैं, इस विषयवाक्य से पायागया कि (मत्तः) मेरे से और (मयि) मेरे में, इन शब्दों से वसुदेव के पुत्र कृष्ण का तात्पर्य्य नहीं किन्तु अक्षर ब्रह्म का तात्पर्य्य है, उस अक्षर ब्रह्म में व्याप्य व्यापकभाव से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पदार्थ माला में मणकों के समान पुरोये हुए हैं, इसी अभिप्राय से कहा है कि " मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय "= हे अर्जुन ? उस अक्षर से बड़ा कोई पदार्थ नहीं ॥

ननु—यहां "अक्षर" शब्द से उस ब्रह्म का तात्पर्य्य कैसे लिया गया जबकि कृष्ण अपने आपको सूत्रस्थानी बनाकर सब ब्रह्माण्डों को माला के मणकों के समान वर्णन करते हैं ? उत्तर—अक्षर ब्रह्म यहां लक्षणावृत्ति से लिया जाता है अर्थात् कृष्ण में सब ब्रह्माण्डों के ओतप्रोतरूपी तात्पर्य्य न बन सकने से यहां (मत्तः) मेरे से (मयि) मेरे में, इन शब्दों के अर्थ अक्षर ब्रह्म के हैं, इसमें स्वामी रामानुज यह लिखते हैं कि " यस्यपृथिवीशरीरं" "यस्यआत्माशरीरं" एषः सर्वभूतान्त-

रात्मा अपहतपाप्मा दिव्योदेव एको नारायण इत्यात्मशरीर भावेनावस्थानं च जगद्ब्रह्मणोरन्तर्यामिब्राह्मणादिषुसिद्धम्"= जिस ब्रह्म के पृथिव्यादि भूत और जीवात्मा यह सब शरीररूप कथन किये गये हैं वह सब भूतों का अन्तरात्मा निष्पाप प्रकाशरूप एक नारायण यहां अभिप्रेत है, और जगत् ब्रह्म का शरीर शरीरीभाव अन्तर्यामी ब्राह्मणादिकों में प्रसिद्ध है, वहां इस प्रकार वर्णन किया है कि "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यामन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरोयमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" बृहदा० ३ । ७ । ३ = जो अन्तर्यामी पृथिवी में रहता है, पृथिवी के भीतर है जिसको पृथिवी नहीं जानती और पृथिवी जिसका शरीरस्थानी है, ऐसा परमात्मा जो पृथिवी आदि सब भूतों को नियम में रखता है वह (ते) तुम्हारा अन्तर्यामी (अमृतः) संसार के सब धर्मों से रहित अमृत है, इस प्रकार इस अन्तर्यामी ब्राह्मण में पृथिवी, जल, वायु, आकाश, चन्द्र, तारे आदि सब पदार्थों को उस अन्तर्यामी परमात्मा में ओतप्रोत कथन किया है और शरीर शरीरीभाव की एकता के अभिप्राय से इस वाद को सर्वात्मवाद कहा जाता है अर्थात् यह सब कुछ परमात्मा की ही विभूति है उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं ।

विशिष्टाद्वैतवादी सब जड़ चेतन को ब्रह्म का शरीर मानकर इसी भाव को विशिष्टाद्वैतवाद के नाम से कथन करते हैं, और मायावादी इस भाव को छिपाकर यहां माया का परदा डाल यह अर्थ करते हैं कि यह जितना चराचर जगत् है वह परमात्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं, जैसे स्वप्न के पदार्थ स्वप्नद्रष्टा से भिन्न कोई सचाई नहीं रखते और सीपी में जो रजत प्रतीत होता है वह सीपी से भिन्न कोई सचाई नहीं रखता, इसी प्रकार यह सम्पूर्ण प्रपञ्च ब्रह्म में रज्जु सर्पादिकों के समान कल्पित है, एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, इसी अभिप्राय से कृष्णजी ने कहा है कि " मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय " और इसी भाव को "तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" ब्र० सू० २ । १ । १४ के भाष्य में स्वामी शं० चा० ने विस्तारपूर्वक निरूपण किया है, इस श्लोक

की टीका करते हुए मधुसूदन स्वामी गड़बड़ाते हैं, वह इस प्रकार कि इनके सिद्धान्तानुकूल जैसे मिट्टी के घटादि विकार मिट्टी से भिन्न नहीं और जैसे सुवर्ण के भूषण सुवर्ण से भिन्न नहीं, इस प्रकार का कोई अद्वैतमत का साधक दृष्टान्त होना चाहिये था, फिर "सूत्रे मणि गणाइव" क्यों कहा ? क्योंकि सूत्र मणियों के गण का उपादानकारण नहीं और इनके मत में ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् का उदादानकारण है, इसलिये ग्रन्थकर्त्ता व्यास को कोई उपादानकारण का दृष्टान्त देना चाहिये था और वह दृष्टान्त यह था कि "कनकेकुण्डलादिव इति तु योग्यो दृष्टान्तः" गी० ७। ७म० सू०= सुवर्ण में कुण्डलादि भूषणों के समान कथन करना योग्य दृष्टान्त है, यह कथन करके इनके मधुसूदन स्वामी ने व्यासजी की यह न्यूनता पूर्ण की है और तात्पर्य्य यह निकाला है कि "सूत्रे मणि गणाइव" यह दृष्टान्त केवल ग्रन्थन=पुरोने मात्र में है अभेद में इसका अभिप्राय नहीं, महर्षिव्यास के तात्पर्य्य को अन्यथा वर्णन करने वाला यह मधुसूदन का व्याख्यान गीता में स्पष्ट भेद को दबा नहीं सक्ता और नाही व्यासजी के इस आशय को कोई छिपा सक्ता है जो उन्होंने इस सातवें अध्याय में उपास्य उपासकभाव वर्णन करके जीव ब्रह्म का भेद कथन किया है ॥

सं०–ननु, तुम्हारे मत में जब जीव और प्रकृति पहले ही अनादि सिद्ध हैं तो ईश्वर का कर्तृत्व और उसकी प्रभुता ही क्या ? उत्तरः—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्य्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

पद०–रसः। अहं। अप्सु। कौन्तेय। प्रभा। अस्मि। शशिसूर्य्ययोः। प्रणवः। सर्ववेदेषु। शब्दः। खे। पौरुषं। नृषु ॥

पदा०–(कौन्तेय) हे अर्जुन ! (अप्सु) जलों में (रसः, अहं, अस्मि) मैं रस हूं (शशिसूर्य्ययोः) चन्द्रमा तथा सूर्य्य में (प्रभा) प्रकाश मैं हूं (सर्ववेदेषु) सब वेदों में (प्रणवः) ओंकार हूं (खे) आकाश में (शब्दः) शब्द हूं (नृषु) मनुष्यों में (पौरुषं) पुरुषार्थ हूं ॥

भाष्य–इस श्लोक में यह सिद्ध किया है कि इस कार्य्यरूप संसार में जो रूप रसादिकों का आविर्भाव होता है वह परमात्मा से ही होता है,

इस अभिप्राय से जलों में रस और सूर्य्य तथा चन्द्रमादिकों में प्रकाशादि यह परमात्मा ने अपनी विभूति वर्णन की है ॥

मायावादी इसका यह अभिप्राय लेते हैं कि रसादिरूप सब कुछ परमात्मा अपने आपही बनगया है, इसलिये यह कहा कि मैं जलों में रस और सूर्य्य चन्द्रमादिकों में प्रकाश हूं, यदि इस श्लोक का यह भाव होता तो "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं" कठ० ३। १५ इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में परमात्मा को रूप रसादिकों से रहित क्यों कहा जाता, और गी० १३। २७ में यह वर्णन किया है कि:—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

अर्थ–सब भूतों में जो परमात्मा को एकरस मानता और विनाशियों में अविनाशी मानता है वह यथार्थ मानता है, और इससे आगे यह निरूपण किया है कि इस प्रकार परमात्मा को अविनाशी जानता हुआ ही मुक्ति को प्राप्त होता है, फिर "अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्माऽयमव्यय" गी० १३।३२ में यह वर्णन किया है कि वह अव्यय परमात्मा अनादि और निर्गुण होने से किसी विकार को प्राप्त नहीं होता, यदि पृथिवी, जल, तेज, वायु आदिकों में रस, रूप, गन्ध, स्पर्श आदि परमात्मा के ही गुण होते तो इस श्लोक में परमात्मा को निर्गुण कथन न किया जाता, स्वामी रामानुज ने इन श्लोकों को इस भाव से लगाया है कि "एते सर्वे विलक्षणाभावा मत्तएवोत्पन्नाः मच्छेषभूतामच्छरीरतयामय्येवाऽवस्थिताः, अतस्तत्प्रकारोऽहमेवावस्थितः" = यह सब रूपरसादि भाव परमात्मा ही से उत्पन्न होते और परमात्मा के ही प्रकृतिरूप शरीर में स्थित हैं इसलिये कहा है, कि रसादिरूप से मैं ही स्थित हूं, आधुनिक वेदान्ती भी ब्रह्म को उपादान कारण मानकर सर्वभूतों की ब्रह्मरूपता सिद्ध करने के लिये रूपरसादि भावों में ब्रह्म का व्याख्यान करते हैं पर जब वैदिकभाव पर उनकी दृष्टि जापड़ती है कि वेदों ने ब्रह्म को रूपरसादि गुणों से रहित माना है तो यह लिखते

हैं कि " इयंविभूतिरध्यानायोपदिश्यतइतिनातिग्रामिनिष्ठव्यं "
गी० ७ । ६ म०सू० = यह विभूति ध्यान के लिये उपदेश कीगई है, इसलिये इसमें यह आग्रह नहीं करना चाहिये कि परमात्मा इस विभूति में वर्णन किये हुए रूपों वाला है, यदि आधुनिक वेदान्तियों के सिद्धान्तानुकूल मृत्तिका से घट और सुवर्ण से कुण्डलादिकों के समान परमात्मा ने ही शुभाशुभरूप धारण किये होते तो निम्नलिखित श्लोकों में परमात्मा के पवित्र भाव क्यों वर्णन किये जाते, जैसाकिः—

पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पद०—पुण्यः । गन्धः । पृथिव्यां । च । तेजः । च । अस्मि । विभावसौ । जीवनं । सर्वभूतेषु । तपः । च । अस्मि । तपस्विषु ॥

पदा०—हे अर्जुन ! (पृथिव्यां) पृथिवी में (पुण्यः, गन्धः) पवित्र गंध मैं हूं (च)और (विभावसौ) अग्नि में (तेजः, अस्मि) तेज मैं हूं (सर्वभूतेषु, जीवनं) सब भूतों में जीवन मैं हूं और (तपस्विषु) तपस्वियों में (तपः, च, अस्मि) तप मैं हूं ॥

भाष्य—पृथिवी आदिकों में पवित्र गन्ध परमात्मा की विभूति है, अग्नि में तेज परमात्मा की विभूति है, सब जीवों में जीवन परमात्मा की विभूति है, " येन जीवन्ति सर्वाणिभूतानि तज्जीवनं " = जिससे भूत जीते हैं उसका नाम " जीवन " है, और तपस्वियों में तप परमात्मा की विभूति है, अधिक क्या, निम्नलिखित श्लोक में यह लिखा है किः—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

पद०—बीजं । मां । सर्वभूतानां । विद्धि । पार्थ । सनातनं । बुद्धिः । बुद्धिमतां । अस्मि । तेजः । तेजस्विनां । अहं ॥

पदा०—(सर्वभूतानां) सब प्राणियों का (मां) मुझको (सनातनं, बीजं, विद्धि) सनातन बीज जान (बुद्धिमतां) बुद्धि वालों में (बुद्धिः) बुद्धि (अहं, अस्मि) मैं हूं (तेजस्विनां) तेज वालों में (अहं, तेजः, अस्मि) मैं तेज हूं ॥

भाष्य—सब भूतों की विभूति मैं हूं अर्थात् परमात्मा की शक्ति से ही बीजाकार होकर सब भूतों की उत्पत्ति होती है, बुद्धि वालों में बुद्धि तथा तेजस्वियों में तेज परमात्मा की विभूति है, इस श्लोक से यह बोधन किया है कि तेजस्वी चक्रवर्ती आदिकों का तेज परमात्मा से ही उत्पन्न होता और बुद्धि वालों का बुद्धि = वेदरूपी आदित्यज्ञान भी परमात्मा-से ही उत्पन्न होता है ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

पद०—बलं । बलवतां । च । अहं । कामरागविवर्जितं । धर्माविरुद्धः । भूतेषु । कामः । अस्मि । भरतर्षभ ॥

पदा०—हे भरतर्षभ ! (बलवतां) बलवालों का (बलं) बल (अहं) मैं हूं, वह कैसा बल है जो (कामरागविवर्जितं) काम और राग से रहित है (च) और (भूतेषु) प्राणियों में (धर्माविरुद्धः, कामः, अस्मि) धर्म से जो विरोध नहीं रखता वह काम मैं हूं ॥

सं०—ननु, जब भूतों का बीज और सब कामादि बल परमात्मा ही है तो फिर परमात्मा को नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव कैसे कहसक्ते हैं ? उत्तरः—

ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

पद०—ये । च । एव । सात्विकाः । भावाः । राजसाः । तामसाः । च । ये । मत्तः । एव । इति । तान् । विद्धि । न । तु । अहं । तेषु । ते । मयि ॥

पदा०—(ये) जो (सात्विकाः, भावाः) सात्विक गुण हैं (च) और (राजसाः, तामसाः) जो राजस तथा तामस गुण हैं (तान्) उनको (मत्तः, एव) मेरे से ही (विद्धि) जान (न, तु, अहं, तेषु) मैं उन गुणों में नहीं आता (ते) वे गुण (मयि) मेरे में हैं ॥

भाष्य—सात्विक, राजस, तामस, यह सब गुण परमात्मा की कारणता से इस कार्य्य जगत् में आते और परमात्मरूप अधिकरण में रहते हैं

अर्थात् परमात्मा के आश्रित जो प्रकृति है उसके यह सब गुण हैं, इसीलिये कहा है कि " न त्वहं तेषु "=मैं उनमें नहीं और " ते मयि "= वे मुझ में हैं अर्थात् यह गुण जीवों को व्याप्त होते हैं परमात्मा इन गुणों से सर्वथा अतीत है, अतएव वह सदैव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव होने से प्रकृति के सब बन्धनों से परे है, इस प्रकार परमात्मा की निमित्त-कारणता इस विभूतिवर्णन में कथन कीगई है और परमात्मा को उक्त भावों का निमित्तकारण होने से सर्वथा स्वतन्त्र वर्णन किया गया है, पर मायावादी लोग उस भाव को भी कल्पित कहानी से ही वर्णन करते हैं, जैसाकि मधुसूदन स्वामी ने लिखा है कि "ते तु भावा मयि रज्ज्वा-मिव सर्पादयः कल्पिता मदधीनसत्तास्फूर्तिकाः मदधीना इत्यर्थः" गी० ७। १२ म० सू०=यह सब भाव जो पूर्व वर्णन किये गये हैं रज्जु में सर्प के समान कल्पित और परमात्मा के अधीन सत्ता-स्फूर्ति वाले हैं, इसलिये परमात्मा के अधीन कथन किये गये हैं, मायावादियों का जो नाममात्र का नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव परमात्मा है वह रज्जु सर्प के समान अपने आप में सम्पूर्ण संसार की कल्पना का कल्पक होकर स्वयं बन्धन में फस जाता है ॥

ननु–रज्जु सर्प के समान संसाररूपी कल्पना का कल्पक जीव है ब्रह्म तो नहीं, फिर उसको यह दोष क्यों लगाया जाता है? उत्तर–मायावा-दियों के सिद्धान्तानुकूल सब मिथ्या कल्पनाओं की मूलभूत माया शुद्ध ब्रह्म के आश्रित रहती और उसी को अज्ञानी बनाती है, जैसाकिः—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभाग चितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापिगोचरः ॥

अर्थ–जीव ईश्वर के विभाग से रहित जो केवलाचिति है वही चिति (आश्रयत्वविषयत्वभागिनी) अज्ञान का आश्रय और विषय है (पूर्वसि-द्धतमसः) जीव ईश्वर की उत्पत्ति से प्रथम जो अज्ञान है वह (पश्चिमः) पीछे होने वाले किसी पदार्थ का (नाश्रयः) न आश्रय करता और (नापिगोचरः) नाही उसका विषय होता है अर्थात् सब संसार की उत्पत्ति का कारण माया वा अज्ञान मायावादियों के शुद्धब्रह्म के सहारे रहता और उसी

को अज्ञानी बनाता है, क्योंकि और सब पदार्थ तो पीछे से उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार रज्जु सर्प के समान इस मिथ्याभूत संसार की मिथ्या कल्पना करके मायावादियों का शुद्धब्रह्म स्वयं अशुद्ध होजाता है, इसलिये उसको नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव नहीं कहसक्ते, और इनके उक्त आधुनिक वेदान्त के श्लोक के आशय से विरुद्ध गीता का यह सिद्धान्त है कि:-

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

पद०—त्रिभिः । गुणमयैः । भावैः । एभिः । सर्वं । इदं । जगत् । मोहितं । न । अभिजानाति । मां । एभ्यः । परं । अव्ययं ॥

पदा०—(एभिः, त्रिभिः) इन तीनों (गुणमयैः) गुणरूप (भावैः) भावों से (इदं, सर्वं, जगत्) यह सब जगत् (मोहितं) मोह को प्राप्त हुआ (एभ्यः, परं) तीनो गुणों से परे (अव्ययं) विकार रहित (मां) मुझको (न, अभिजानाति) नहीं जानता ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह कथन किया है कि इन तीन गुणों से संसार मोह को प्राप्त होता है परमात्मा कदापि नहीं और मायावादियों के सिद्धान्तानुकूल परमात्मा ही मोह को प्राप्त होकर जीव ईश्वरादि भावों को धारण करता है, इस प्रकार इनका अज्ञान ब्रह्माश्रित रहकर ब्रह्म को मोह लेता है, यह सिद्धान्त गीताशास्त्र से सर्वथा विरुद्ध है, इस श्लोक की सङ्गति मधुसूदन स्वामी ने यों लगाई है कि "रसोऽहमप्सु कौन्तेय" इत्यादि वाक्यों से परमेश्वर ने सब जगत् को अपना स्वरूप कहा और आप नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है फिर परमात्मा से अभिन्न इस जगत् में संसारीपन कैसे बनेगा, यदि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव परमात्मा के अज्ञान से जीवों में संसारीपन है वास्तव में नहीं तो जीवों में अज्ञान कहां से आता है ? अर्जुन की इस शंका की निवृत्ति के लिये यह श्लोक है, उक्त स्वामी की यह सङ्गति सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि इनके मत में अज्ञान जीवों के मोह का कारण नहीं किन्तु ब्रह्म को मोहित करके जीव बना देने का कारण है, फिर विचारे जीवों का क्या अपराध जब शुद्ध ब्रह्म ही अज्ञान के वशीभूत होकर जीव बन गया, मायावादियों के मतानुकूल यह उपा-

लम्भ कृष्णजी जीवों को तब देते जब स्वयं माया के वशीभूत होकर अपने स्वरूप को न भूल जाते, जब स्वयं ब्रह्म ही भूलकर जीव बनता है तो जीवों को क्या उपालम्भ देसक्ता है कि तुम मोह के वशीभूत हुए मुझको नहीं जानते, वैदिकमतानुकूल (माया) प्रकृति जीवों के मोह का कारण है परमात्मा के मोह का कारण नहीं, देखोः-

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंति ते ॥ १४ ॥

पद०-दैवी। हि। एषा। गुणमयी। मम। माया। दुरत्यया। मां। एव। ये। प्रपद्यन्ते। मायां। एतां। तरन्ति। ते॥

पदा०-(एषा) ये (गुणमयी) सत्व, रज, तम इन गुणों वाली (मम) मेरी (माया) प्रकृति (दुरत्यया) दुःख से तरने योग्य है (मां, एव) मुझको ही (ये) जो लोग (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (ते) वह (एतां, मायां) इस माया को (तरन्ति) तर जाते हैं॥

भाष्य-"माया" शब्द के अर्थ यहां प्रकृति के हैं, जैसाकि "**मायान्तुप्रकृतिंविद्यान्मायिनन्तुमहेश्वरं**" श्वे० ४। १०। १३=प्रकृति को माया और (मायी) मायावाला परमेश्वर को जानो, इत्यादि उपनिषद् वाक्यों से स्पष्ट पाया जाता है कि माया यहां प्रकृति का नाम है और इस मायारूपी प्रकृति=मोह के हेतु प्रकृति को परमात्मा के ज्ञान से ही पुरुष तरसक्ता है अन्यथा नहीं, जैसाकि "**परंज्योतिरुपसंपद्यस्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते**"=उस परंज्योति परमात्मा को प्राप्त होकर अपने स्व स्वरूप से स्थिर होता है अर्थात् प्रकृति के बन्धनों से रहित होजाता है, इस आशय से कृष्णजी ने कहा है कि परमात्मा के ज्ञान द्वारा प्रकृति के बन्धनों से पुरुष छूट जाता है॥

मायावादियों ने इसके यह अर्थ किये हैं कि जिस प्रकार तिगुनी कीहुई रज्जु दृढ़ होजाती है इसी प्रकार अत्यन्त दृढ़ होने के अभिप्राय से यहां माया को गुणमयी कथन किया है और गुण शब्द के अर्थ इन्होंने यहां सांख्यशास्त्र के माने हुए गुणों के नहीं लिये, क्योंकि यहां वह अर्थ लिये जाते तो इनकी माया सिद्ध न होती और माया के

सिद्ध न होने से इनकी सारी प्रक्रिया बिगड़ जाती, क्योंकि इनके मत में जगत् का उपादान कारण माया है और माया से ही इनके मत में जीव ईश्वर बनता है, शुद्धसत्वप्रधान माया उपाधि वाला ईश्वर और मलिनसत्वप्रधान अविद्या उपाधि वाला जीव कहलाता है अर्थात् जो अविद्या सत्वगुण की प्रधानता से अत्यन्त स्वच्छ है जैसे स्वच्छ दर्पण मुख के आभास को ग्रहण करता है इसीप्रकार स्वच्छ अविद्या चेतन के आभास को ग्रहण करती है, जिसप्रकार दर्पण के छाई आदि दोष मुख रूप बिम्ब को दूषित नहीं करते, इसीप्रकार वह अविद्या बिम्ब स्थानीय ईश्वर को दूषित नहीं करती, और जैसे दर्पण के दोषों से प्रतिबिम्ब दूषित होता है इसी प्रकार उस अविद्या के दोषों से प्रतिबिम्ब स्थानीय जीवात्मा दूषित होता है, इस प्रकार आविद्यक उपाधि से ही इनके मत में जीव ईश्वर आदि सब प्रपञ्च बना है, माया, अविद्या, अज्ञान इनके मत में एकही वस्तु के नाम हैं, यदि यहां अविद्यारूप माया न मानी जाती प्रकृतिरूप माया ही मानी जाती तो इनका मायिक मायावाद मनोरथमात्र होजाता अर्थात् मायावी पुरुष के मायाजाल समान उसकी माया के नाश से मायावाद नाश को प्राप्त होजाता, इसलिये जहां २ गीता में प्रकृति के अर्थों में माया शब्द आता है उसके यह लोग अविद्या के ही अर्थ करते हैं, परन्तु "**मममाया**" कथन करने से यदि इसके अर्थ मेरे अज्ञान के किये जायं तो अर्थ सर्वथा बिगड़ जाते हैं ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यंते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

पद०-न । मां । दुष्कृतिनः । मूढाः । प्रपद्यन्ते । नराधमाः । मायया । अपहृतज्ञानाः । आसुरं । भावं । आश्रिताः ॥

पदा०-(दुष्कृतिनः) खोटे कर्मों वाले (मूढाः) मोह को प्राप्त (मायया) प्रकृति के बन्धनों से (अपहृतज्ञानाः) जिनका ज्ञान नष्ट होगया है, ऐसे (नराधमाः) अधम पुरुष जो (आसुरं, भावं, आश्रिताः) असुरों के भावों को आश्रय किये हुए हैं वह (मां) मुझको (न, प्रपद्यन्ते) प्राप्त नहीं होते ॥

भाष्य-"**मायया अपहृतज्ञाना**" इस वाक्य के अर्थ यह हैं कि

माया से जिनका ज्ञान नष्ट होगया है, इस कथन से पायागया कि माया से जीवों का ज्ञान नाश होजाता है न कि ईश्वर का, और इनके मत में तो माया ब्रह्म में भी मिथ्याज्ञान उत्पन्न करदेती है, जैसाकि "तदैक्षत-बहुस्यां प्रजायेय" छा० ६।२।३ इस वाक्य की मायावादी यह व्यवस्था करते हैं कि माया के वशीभूत होकर ब्रह्म में यह इच्छा उत्पन्न हुई, क्योंकि इनके मत में शुद्धब्रह्म में इच्छा नहीं है, इस प्रकार यदि माया ब्रह्म को मोहन करने वाली का ही इन श्लोकों में ग्रहण होता तो आसुरभाव में विचारे जीवों का क्या दोष, वह तो इनके सर्वोपरि ब्रह्म को भी मोहित करके सत्राकार बना देती है, स्वामी रामानुज इस विषय में यह लिखते हैं कि:—

"मिथ्यार्थेषु मायाशब्दप्रयोगोमायाकार्य्य बुद्धि विषयत्वेनौपचारिकः" "मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत्, एषागुणमयीपारमार्थिकीभगवन्मायैव" "मायान्तुप्रकृतिंविद्यान्मायिनन्तुमहेश्वरम्" इत्यादिष्वभिधीयते ॥

अर्थ—जो कहीं २ मायावी लोगों और मिथ्यार्थों में "माया" शब्द का प्रयोग आता है वह औपचारिक है मुख्य नहीं, जैसे "मञ्चा बोलते हैं" इस वाक्य में मञ्चों का बोलना मुख्य नहीं किन्तु गौणीवृत्ति से होता है "एषागुणमयिममभाया" इस वाक्य में माया सच्ची प्रकृति का नाम है, क्योंकि "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरं" इत्यादि वाक्यों में प्रकृति को माया कथन किया गया है ॥

सं०—अब इस प्रकृतिरूप माया के बन्धन से छूटने का उपाय कथन करते हैं:—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

पद०—चतुर्विधाः । भजन्ते । मां । जनाः । सुकृतिनः । अर्जुन । आर्त्तः । जिज्ञासुः । अर्थार्थी । ज्ञानी । च । भरतर्षभ ॥

२६

पदा०–(भरतर्षभ) हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! चतुर्विधाः) चार प्रकार के (सुकृतिनः, जनाः) पुण्यात्मा लोग (मां, भजन्ते) मुझको भजते अर्थात् मेरी उपासना करते हैं, प्रथम (आर्त्तः) किसी दुःख से दुखी होकर, द्वितीय (जिज्ञासुः) ईश्वर के जानने की इच्छा करने वाले, तीसरे (अर्थार्थी) किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये भक्ति करने वाले, चौथे (ज्ञानी) जो सदसद्वस्तु का विवेक रखकर तद्धर्मतापत्ति के लिये ईश्वर का भजन करते हैं ॥

भाष्य–उक्त चार प्रकार के भक्तों में से ज्ञानी सब में श्रेष्ठ होने के कारण प्रथम ज्ञानी का वर्णन करते हैं, मायावादियों के मत में ज्ञानी के अर्थ यह हैं कि जिसने भगवत्तत्व का साक्षात्कार किया हो और वह साक्षात्कार इनके मत में जीव ब्रह्म की एकतारूप कहलाता है, ऐसे ज्ञानी के अभिप्राय से यहां "ज्ञानी" शब्द नहीं आया किन्तु सदसद्विवेचन के अनन्तर अनुष्ठानी के अभिप्राय से आया है, जैसाकि "एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति" गी० ५ । ५ इत्यादि श्लोकों में निष्काम-कर्म और उसके अनुष्ठान का नाम ज्ञान है, और "सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते" गी० १८ । २० इत्यादि श्लोकों में सब विनाशी पदार्थों में अविनाशी पदार्थों की दृष्टि का नाम ज्ञान है, यही ज्ञान "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" मुण्डक० २ । २ । ८ इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में कथन किया गया है और यही ज्ञान "आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि वाक्यों में कथन किया है, इनके "तत्त्वमसि" और "अहंब्रह्मास्मि" वाला ज्ञान अर्थात् ब्रह्म ही अविद्या उपाधि से जीवरूप बना हुआ था जब उसको फिर बोध हुआ तो उस अविद्या की निवृत्ति द्वारा फिर ज्यों का त्यों ब्रह्म होगया, इस भाव से ज्ञान शब्द गीता में कहीं भी नहीं आया॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

पद०-तेषां । ज्ञानी । नित्ययुक्तः । एकभक्तिः । विशिष्यते । प्रियः । हि । ज्ञानिनः । अत्यर्थं । अहं । स । च । मम । प्रियः ।

पदा०-(तेषां) उक्त चार प्रकार के भक्तों में से ज्ञानी (नित्ययुक्तः) परमात्मा के योग से नित्ययुक्त रहता अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोग से नित्य युक्त रहता है, फिर वह ज्ञानी कैसा है (एकभक्तिः) एक परमात्मा में ही है भक्ति जिसकी उसको "एकभक्ति" कहते हैं, वह एकभक्ति वाला ज्ञानी (विशिष्यते) औरों से विशेष समझा जाता है (हि) निश्चयकरके (ज्ञानिनः) ज्ञानी को (अहं) मैं (अत्यर्थं) अत्यन्त (प्रियः) प्रिय हूं और (स, च) वह ज्ञानी (मम, प्रियः) मेरा प्यारा है ॥

भाष्य-एकस्मिन्भगवत्येव अनुरक्तिर्यस्य स तथा तस्य अनुरक्तिविषयान्तराभावात् "=एक भगवान् में भक्ति नाम प्रेम हो जिसका उसको "एकभक्ति" कहते हैं, क्योंकि उसके प्रेम का अन्य कोई विषय नहीं होता, यहां मधुसूदन स्वामी ने भी एकभक्ति के अर्थ यही मान लिये हैं कि जो परमात्मा से भिन्न किसी अन्य उपास्य में प्रेम नहीं रखता उसको "एकभक्ति" कहते हैं, इस प्रकार की एकभक्ति वाला ज्ञानी पूर्वोक्त भक्तों से विशेष है, इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि जो जीव ईश्वर के मायिकभाव को मिटाकर मायावादी एक अद्वैत सिद्ध करते थे वह गीता से नहीं निकलता, क्योंकि यहां ज्ञानी को भी एक प्रकार का भक्त ही माना है, और इनके मत में ज्ञान होने के अनन्तर भक्ति तो क्या प्रत्युत कोई कर्तव्य ही नहीं रहता, यदि ज्ञानी से मायावादियों का ज्ञानी अभिप्रेत होता तो फिर विचारी भेदरूपभक्ति का क्या काम ॥

सं०-ननु, जब परमात्मा को चार प्रकार के भक्तों में से केवल ज्ञानी ही प्रिय है तो दूसरे तो सर्वथा निष्फल हुए फिर उनको भक्त ही क्यों कहा ? उत्तरः—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

पद०-उदाराः । सर्वे । एव । एते । ज्ञानी । तु । आत्मा । एव । मे ।

मतम् । आस्थितः । सः । हि । युक्तात्मा । मां । एव । अनुत्तमां । गतिं ॥

पदा०-(एते) ये (सर्वे, एव) सब ही (उदाराः) श्रेष्ठ हैं (ज्ञानी, तु) ज्ञानी तो (मे) मेरा (आत्मा, एव) आत्मा ही (मतं) माना हुआ है (हि) जिसलिये (युक्तात्मा) निष्कामकर्मादि योग वाला है आत्मा जिसका (सः) वह (अनुत्तमां, गतिं) जिस गति से उत्तम कोई गति नहीं ऐसे (मां) मुझको (आस्थितः) आश्रय किया हुआ सर्वोपरि उपास्य देव मानता है ॥

भाष्य-ज्ञानी सदसद्विवेकी होने से परमात्मा को अत्यन्त प्रिय है, इसलिये उसको आत्मा कहा गया है अर्थात् वह परमात्मा के आत्मभूत अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करने के कारण परमात्मा का आत्मा कहलाता है, यहां ज्ञानी को आत्मरूप से कथन करना जीव ब्रह्म की एकता के अभिप्राय से नहीं किन्तु तद्धर्मतापत्ति और अत्यन्त प्रेम के अभिप्राय से है, जैसाकि आत्माधिकरण में "त्वं वाऽहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि" इत्यादि वाक्यों में परमात्मा को आत्मत्वेन कथन० किया गया है, और जैसे "यस्यात्माशरीरम्" बृहदा० ३ । ७ । ३ इत्यादि वाक्यों में जीवात्मा को ब्रह्म का शरीर कथन किया है वह जीव ब्रह्म की एकता के अभिप्राय से नहीं किन्तु सर्वाधिष्ठान के अभिप्राय से है, एवं "आत्मा" शब्द यहां प्रेम का वाची है, अद्वैतवादियों ने यहां आत्मा शब्द पर अपने अद्वैतवाद का रंग चढ़ाया है पर वह रंग निम्नलिखित श्लोक की वाणीरूप वारिधि में प्रक्षालन करने से सर्वथा उतर जाता है, देखोः—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

पद०-बहूनां । जन्मनां । अन्ते । ज्ञानवान् । मां । प्रपद्यते । वासुदेवः । सर्वं । इति । सः । महात्मा । सुदुर्लभः ।

पदा०-(बहूनां) बहुत से (जन्मनां) जन्मों के (अन्ते) अन्त में (ज्ञानवान्) ज्ञानवाला पुरुष (मां) मुझको (प्रपद्यते) प्राप्त होता है (वासुदेवः, सर्वं) वह सब वासुदेव है (इति) यह समझकर जो मुझे

प्राप्त होता है (सः) वह (महात्मा) महात्मा और वह (सुदुर्लभः) दुर्लभ है ॥

भाष्य—वह ज्ञानवान् पुरुष जिसने सर्व में अनुगत परमात्मा को सर्वाधिष्ठान होने से सर्वरूप समझा है, और "वसतीति वासुः, वासुश्चासौ देवश्चेति वासुदेवः"=जो व्यापकरूप से सब स्थानों में निवास करे उसको "वासु" और प्रकाशरूप जो वासु उसको "वासुदेव" कहते हैं अर्थात् शशिसूर्य्यादि सब पदार्थों के अधिष्ठाता का नाम "वासुदेव" है, एवं आदित्यादिकों के नियन्ता परमात्मा का नाम यहां "वासुदेव" है, जैसाकि बृहदारण्यक के अन्तर्यामी ब्राह्मण में लिखा है कि "य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" बृहदा० ३ । ७ । ९=जो सूर्य्य के भीतर व्यापक और सूर्य्य का नियन्ता है वह तुम्हारा अन्तर्यामी अमृत परमात्मा है, इस अभिप्राय से "वासुदेवः सर्वमिति" कहा है ॥

स्वामी रामानुज इसके यह अर्थ करते हैं किः—"प्रकृतिद्वयस्य कार्यकारणोभयावस्थस्य परमपुरुषायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वं परमपुरुषस्य च सर्वैः प्रकारैः सर्वस्मात्परपरत्वमुक्तम्" गी० ७ । १९ रामानुज भा०=यह जड़ चेतनरूप जो दोनों प्रकार की प्रकृति, इस प्रकृति के कार्य्य कारणरूपी भावों में स्थिर जो परमपुरुष परमात्मा है उसी के अधीन इस चराचर प्रकृति के स्वरूप की स्थिति है, इस भाव से सब कुछ वासुदेव कहा है ॥

वसुदेव का पुत्र वासुदेव के अर्थ यहां स्वामी शंकराचार्य्य, मधुसूदन स्वामी तथा स्वामी रामानुज किसी टीकाकार ने नहीं किये, और कर ही कैसे सक्ते थे जब गीता का जन्म उपनिषद् वाक्यों को आश्रय करके हुआ है तो इसका मूलभूत वाक्य ही क्या रखते, इस श्लोक में भाष्य करने

योग्य "ज्ञानवान्" शब्द है, इस शब्द के अर्थ यहां यदि शङ्करमत के होते तो यह न कहा जाता कि बहुत जन्मों के पश्चात् ज्ञानी पुरुष मुझे मिलता है, क्योंकि शङ्कर फ़िलासफ़ी में ज्ञान के अनन्तर उसी समय ब्रह्म बन जाता है बीच में क्षणभर का भी विलम्ब नहीं होता, जैसाकि वेदान्त सूत्र आरम्भणाधिकरण में लिखा है कि:—

"ब्रह्मदर्शनसर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्त्तव्यान्तरवारणायोदाहार्यम्, तथातिष्ठन् गायति तिष्ठति गायत्योर्मध्ये तत्कर्तृककार्य्यान्तरं नास्तीति गम्यते" ब्र० सू० १ । १ । ४ शं० भा०

अर्थ-ब्रह्मज्ञान और उसका फल जो सर्वात्मभाव है इसके बीच में अन्य कोई काम नहीं करना पड़ता, जैसाकि "बैठकर गाता है" यहां बैठने और गाने के बीच में और कोई काम नहीं पाया जाता, इसी प्रकार क्रिया तथा ब्रह्मज्ञान के अनन्तर मुक्ति होने के बीच में कोई अन्य काम नहीं होता, इतना ही नहीं प्रत्युत बड़े बलपूर्वक यह कथन किया गया है कि ज्ञान होने पश्चात् पुनर्जन्म की तो कथा ही क्या कोई कर्त्तव्य ही नहीं रहता, और "यदप्यकर्तव्यप्रधानमात्मज्ञानंहानायोपादानाय वा न भवतीति तथैवेत्यभ्युपगम्यतेऽलङ्कारोह्ययमस्माकंयद्ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति" ब्र० सू० १। १ । ४ शं० भा० = जो यह कहा है कि आत्मज्ञान के पश्चात् कोई कर्तव्य नहीं रहता, न कोई पदार्थ ग्रहण करने योग्य रहता और न कोई त्यागने योग्य रहता है यह ठीक है, क्योंकि यह हमारा भूषण है जो ब्रह्मज्ञान के होने पर सब कर्तव्यों का नाश होजाता और कृतकृत्यता होजाती है, इत्यादि-शङ्कर मत के प्रमाणों से स्पष्ट है कि इनके यहां ज्ञान के पश्चात् कोई कर्तव्य नहीं रहता और इस श्लोक में उस ज्ञानी के फिर कई जन्म माने हैं, इससे स्पष्ट है कि मायावादियों का ज्ञान कृष्णजी ने इन श्लोकों में कथन नहीं किया किन्तु भक्तिरूप ज्ञान कथन किया है, जैसाकि "छित्त्वैनंसंशयंयोगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत" गी० ४ । ४२ में यह वर्णन है कि ज्ञान

से संशय दूर करके और योग से अनुष्ठान प्रधान होकर उठ खड़ा हो, एवं जो ज्ञान और कर्म का समुच्चय है उसको भक्तियोग कहते हैं, उस भक्तियोग के अभिप्राय से यहां ज्ञान शब्द आया है अर्थात् सत्यासत्य का विवेक करके जो ईश्वर की भक्ति करता है उसको ज्ञानी कहते हैं, उस ज्ञानी को यहां अन्य भक्तों से श्रेष्ठ माना है ॥

सं०-ननु, दूसरे तीन प्रकार के भक्त ईश्वर को प्यारे क्यों नहीं, क्योंकि वह यद्यपि सप्रयोजन भक्ति करते हैं पर भक्ति तो ईश्वर ही की करते हैं ? उत्तरः—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यंतेऽन्यदेवताः ।
तंतं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

पद०-कामैः । तैः । तैः । हृतज्ञानाः । प्रपद्यन्ते । अन्यदेवताः । तं । तं । नियमं । आस्थाय । प्रकृत्या । नियताः । स्वया ॥

पदा०-(तैः, तैः) उन २ (कामैः) कामनाओं से (हृतज्ञानाः) नाश होगया है ज्ञान जिनका वह लोग (अन्यदेवताः) अन्य देवताओं को (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (तं, तं) उन २ (नियमं) नियमों को (आस्थाय) आश्रय करके (स्वया, प्रकृत्या) अपनी जो प्रकृति = वासनारूप पूर्व स्वभाव उससे (नियताः) वश में हुए २ हैं ॥

भाष्य-हे अर्जुन ! आर्त्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु, यह तीनों प्रकार के भक्त परमात्मा को इसलिये प्यारे नहीं कि वह अपनी २ कामनाओं के वशीभूत होकर भिन्न पदार्थों की उपासना में लग जाते हैं और उन कामनाओं से उनका ज्ञान नाश को प्राप्त होजाता है, इसलिये उनको सत्यासत्य का विवेक नहीं रहता, इस प्रकार परमेश्वर से विमुख होने के कारण वह उसको प्रिय नहीं, जैसाकि " अथ यो अन्यां देवतां उपासते " बृहदा० १ । ४ । १० इत्यादि वाक्यों में परमात्मा से भिन्न की उपासना करने वालों को पशु कहा है और " अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते " यजु० ४० । ९ इत्यादि मन्त्रों में प्रकृति के उपासकों को अज्ञान की प्राप्ति कथन की है, एवं कृष्णजी ने भी यहां अन्य देवताओं के उपासकों को " हृतज्ञान " शब्द से अज्ञानी कथन किया है ॥

सं०-ननु, जब ईश्वर से भिन्न ईश्वरत्वेन अन्य देवता की उपासना करना पाप है तो सर्वशक्तिमान् ईश्वर उनको हटाता क्यों नहीं ? उत्तरः-

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्यतस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

पद०-यः । यः । यां । यां । तनुं । भक्तः । श्रद्धया । अर्चितुं । इच्छति । तस्य । तस्य । अचलां । श्रद्धां । तां । एव । विदधामि । अहं ॥

पदा०-(यः, यः) जो २ (भक्तः) भक्त (यां, यां) जिस २ (तनुं) प्रकृति के रूप को (श्रद्धया) श्रद्धापूर्वक (अर्चितुं) पूजा करने की (इच्छति) इच्छा करता है (तस्य, तस्य) उस २ पुरुष की (अचलां, श्रद्धां) अचल श्रद्धा को (तां, एव) उस प्रकृति के रूप के प्रति ही (विदधामि) धारण कराता हूं ॥

भाष्य-यद्यपि परमात्मा सर्वशक्तिमान् है और यह उसकी शक्ति में है कि तत्काल पुरुष की अज्ञाननिवृत्ति करके उसको वैदिकपथ पर चलाये पर वह जीवों के पूर्वकृत कर्मों के अनुसार मन्दकर्मों से एकधा ही वर्जित नहीं करता किन्तु जैसे जैसे शुभकर्मों से अपनी प्रकृति को वह जीव अच्छा बनाते जाते हैं वैसे २ ही वह वैदिकपथ पर चलने के लिये उद्यत होते जाते हैं, और जो श्लोक में यह कहा गया है कि मूर्त्तिपूजकों की श्रद्धा उस मूर्त्ति में मैं दृढ़ करदेता हूं, इसका तात्पर्य्य यह नहीं कि मैं अपनी ओर से दृढ़ करदेता हूं किन्तु कर्मफलदाता होने से पूर्वकृत कर्मों के अनुकूल उनको उनके अज्ञान का फल देता हूं, जैसाकिः—

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

पद०-सः । तया । श्रद्धया । युक्तः । तस्य । आराधनं । ईहते । लभते । च । ततः । कामान् । मया । एव । विहितान् । हि । तान् ॥

पदा०-(सः) वह पूर्वोक्त भक्त (तया, श्रद्धया) उस श्रद्धा से (युक्तः) जुड़ा हुआ (तस्य) उस प्रकृति की मूर्त्ति का (आराधनं) पूजन (ईहते) करता है (च) और (ततः) उससे (हि) निश्चय (तान्) उन कामनाओं को (लभते) पाता है जो (मया, एव, विहितान्) मैंने अपने नियम में नियत कर छोड़ी हैं ॥

भाष्य—पूर्वोक्त प्राकृतिक मूर्तियों की उपासना करने वाला परमेश्वर से वैसा ही फल पाता है जैसा वह करता है, इस आशय से "मयैव विहितान्" कथन किया है अर्थात् प्रकृतिनिर्मित इस जड़ जगत् के भिन्न२ देवों की उपासना करने वालों ने वह फल पाया जो परमात्मा ने वेद में नियत करदिया है, जैसाकि "अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते" यजु०४०।६=वह अन्धतम को प्राप्त होते हैं जो प्रकृति की उपासना करते हैं, प्रकृति के उपासकों को अन्धतमप्राप्ति की सूचना सहस्रों प्रतिमायें सूचित कर रही हैं जो जीर्ण मन्दिरों में नाना प्रकार से खंडित हैं, और जो इस श्लोक का यह अर्थ करते हैं कि भिन्न २ देवों के उपासकों को भी उनकी श्रद्धा के अनुकूल परमात्मा ही शुभफल देता है, इस आशय से कृष्णजी ने "मयैव विहितान्" कहा है, उनके मत में "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" गी०१८।६६के क्या अर्थ होंगे? जब कृष्ण स्वयं यह कहते हैं कि तुम सब धर्मों को छोड़ एक धर्मपरायण होकर मेरी ओर आओगे तभी मैं तुम्हारा रक्षक बनूंगा अन्यथा नहीं, तो फिर यहां भिन्न देवताओं की पूजा करने वालों के लिये कृष्णजी फल देने को कैसे उद्यत होगये, और जो उद्यत भी हुए तो कैसे शुभफल के लिये अर्थात् मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के लिये जिनका मधुसूदन स्वामी ने यह समाधान किया है कि (मारण) किसी को मार देना (मोहन) मोह लेना (उच्चाटन) किसी का दिल उदास कर देना, जो ये तुच्छ फल हैं इनकी इच्छा करके वह लोग क्षुद्र देवताओं की भक्ति करते हैं और इन अशुभ फलों की कामना के कारण परमात्मा उन क्षुद्र देवताओं में उनकी श्रद्धा को दृढ़ कर देता है ताकि ऐसे क्षुद्र फल परमात्मा को न देने पड़ें, और यहां आकर यह कहदिया कि "मयाएवविहितान्"=वह फल मैंने ही विधान किये हैं, यह क्या? यह तो वही घट्टकुटीप्रभात न्याय आगया कि घाट के कर के डर से सारी रात घूमकर प्रातः फिर उसी घाट की शरण ली और कर देना पड़ा, जब परमेश्वर उनको मारण, मोहन, उच्चाटनादिकों का फल देने के लिये तैयार है तो उन विचारे उपासकों को क्षुद्र देवताओं के गले क्यों मढ़ता

है आपही साक्षात् फल क्यों नहीं देदेता, यदि यह कहाजाय कि ऐसी बुरी कामनाओं का आप साक्षात् फल देने से परमेश्वर बाललालन के समान होजायगा अर्थात् जैसे एक बालक को खिलाने के लिये जैसी चाहे वैसी इष्टानिष्ट वस्तु से उसको प्रसन्न करसकते हैं, इस प्रकार परमेश्वर भी एक खिलौना हुआ जो मारण, मोहन, उच्चाटन वालों को भी उनकी कामना के अनुकूल फल देने के लिये तैयार और सदसद्विवेकी तत्वज्ञानियों को भी यथार्थ फल देने के लिये उद्यत है, यह अनिष्ट अर्थ " मया एव विहितान् "का कदापि नहीं होसक्ता, अतएव इसके अर्थ यह हैं कि जैसा वह करेंगे वैसा भरेंगे, मैंने यह नियम विधान करदिया है, और देखो उन क्षुद्र देवताओं के भक्तों की क्षुद्रता प्रतिपादन के लिये कृष्णजी कैसी दृढ़ता से कहते हैं किः—

> अंतवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
> देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

पद०—अंतवत् । तु । फलं । तेषां । तत् । भवति । अल्पमेधसां । देवान् । देवयजः । यांति । मद्भक्ताः । यांति । मां । अपि ।

पदा०-(तेषां,अल्पमेधसां) उन थोड़ी बुद्धि वाले भक्तों अर्थात् अज्ञानी भक्तों का (तु) निश्चयकरके (तत्. फलं) वह फल (अंतवत्) अंत वाला होता है (देवान्) देवों को (देवयंजः) देवों की पूजा करने वाले (यांति) प्राप्त होते हैं (मद्भक्ताः) मेरे भक्त (मां) मुझको (अपि) निश्चय करके (यांति) प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में आकर कृष्णजी ने प्रकृति के भक्तों का निबटारा करदिया अर्थात् उनके फल को दर्शा दिया कि उनका फल अंतवाला= छोटा होता है और " अल्पमेधसां "=अल्प बुद्धि वाले, यह विशेषण देकर ज्ञानी से उनका अत्यन्त भेद सिद्ध करदिया है ॥

सं०—ननु, प्राकृत देवों को ईश्वर मानकर उनकी पूजा करना पाप है तो फिर आप इससे विरुद्ध प्राकृत शरीरधारी होकर अपनी पूजा क्यों बतलाते हो ? उत्तरः—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यंते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानंतो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

पद०—अव्यक्तं । व्यक्ति । आपन्नं । मन्यन्ते । मां । अबुद्धयः । परं । भावं । अजानन्तः । मम । अव्ययं । अनुत्तमम् ॥

पदा०—(व्यक्ति) व्यक्ति को (आपन्नं) प्राप्त हुए (मां) मुझको (अबुद्धयः) बुद्धिहीन = अज्ञानी लोग (अव्यक्तं) अक्षर परमात्मा रूप से मानते हैं और (मम) मेरे सम्बन्धि (अव्ययं) विकार रहित (अनुत्तमं) जिससे कोई उत्तम नहीं ऐसे (परं, भावं) परमात्मरूपी भाव को (अजानन्तः) न जानते हुए मानते हैं ॥

भाष्य—वह परमभाव यह है जिसको लोग न जानकर कृष्ण को परमात्मा मानते हैं " आत्मेतितूपगच्छन्तिग्राहयन्ति च " ब्र० सू० ४ । १ । ३ = उस परमात्मा के परम भाव को प्राप्त होकर पुरुषोत्तम पुरुष उसको आत्मरूप से कथन करते हैं, जैसाकि "त्वंवाऽहमस्मि॰ गवोदेवतेऽहंवैत्वमसि" = हे परमात्मदेव ! तू मैं और मैं तू है अर्थात् तद्धर्मतापत्ति के कारण मेरे और तेरे में एकात्मभाव होगया है, जैसाकि लोक में अत्यन्त मैत्री से एकात्मभाव होजाता है, ऐसा एकात्मभाव इस आत्माधिकरण में कथन किया गया है, इस परमभाव का व्याख्यान गी० ९ । ११ में इस प्रकार वर्णन किया है कि जो परंभाव = सर्वोत्कृष्टभाव अर्थात् परमतत्व है उसको न जानते हुए लोग मुझको मनुष्यमात्र समझकर अवज्ञा करते हैं, मैं कैसा हूं "महांश्चासौ ईश्वरश्चेति महेश्वरः" = बड़ा ईश्वर=महेश्वर हूं, यहां तद्धर्मतापत्ति के कारण कृष्ण ने अपने आपको महेश्वर कहा है, यदि "अवजानन्ति मां मूढाः" गी० ९।११ इस श्लोक के वह अर्थ किये जायं जिनको स्वामी शंकराचार्य्य और मधुसूदन स्वामी आदि मानते हैं तब भी कृष्णजी ईश्वर सिद्ध नहीं होते, क्योंकि उन अर्थों में यह लिखा है कि लोग मनुष्य समझकर मेरा अपमान करते हैं, अब विचार योग्य बात यह है कि जब कृष्णजी के सखा = मित्र उस समय के लोग कृष्णजी को ईश्वर नहीं समझते थे तो यह बात स्पष्ट होगई कि

उनमें मनुष्य के भाव थे, इस प्रकार व्याख्या किया हुआ यह श्लोक उलटा कृष्ण के ईश्वरीय भाव को मिटा देता है, इसलिये इसके वही अर्थ हैं जो हम पीछे तद्धर्मतापत्ति के कर आये हैं ॥

सं०—ननु, यदि तद्धर्मतापत्तिरूप योग के कारण कृष्णजी अपने आपको ईश्वर शब्द से कथन करते थे तो उस समय के लोग उनके इस भाव को क्यों नहीं जानते थे ? उत्तरः—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

पद०—न । अहं । प्रकाशः । सर्वस्य । योगमायासमावृतः । मूढः । अयं । न । अभिजानाति । लोकः । मां । अजं । अव्ययं ॥

पदा०—(योगमायासमावृतः) ऐश्वररूप योग की जो माया = महती घटना है उससे समावृत = ढका हुआ (अहं) मैं (सर्वस्य) सब लोगों के सम्बन्ध में (न, प्रकाशः) प्रकाशित नहीं (अजं) अजन्मा (अव्ययं) ईश्वरीय निष्पापादि धर्मों के धारण करने से जो मैं अव्यय हूं ऐसा अव्यय (मूढः) प्रकृति में मोह को प्राप्त (अयं, लोकः) यह जनसमुदाय (मां) मुझको (न, अभिजानाति) नहीं जानता ॥

भाष्य—प्रकृति के तीनो गुणों का जो पुरुष के साथ योग है उन तीन गुणों की माया=प्रकृति में फसे हुए पुरुष मेरे परमभाव को नहीं जानते "योगमाया" शब्द के अर्थ अद्वैतवादियों ने अनिर्वचनीय माया के किये हैं कि उस माया से ढका हुआ मैं लोगों की बुद्धि में नहीं आता अर्थात् उस अन्धकाररूप माया ने स्वप्रकाश ब्रह्म को ढकलिया है यह अर्थ निकालते हैं, पर इसके यह अर्थ नहीं, इसके अर्थ प्रकृति के ही हैं, जैसाकिः— "हिरण्मयेनपात्रेण सत्यस्याऽपिहितंमुखं" यजु० ४०।१७ इस मन्त्र में कथन किया है कि जैसे प्रकृतिरूप लोभादि पात्रों से सत्य का मुख ढका हुआ है एवं प्रकृतिरूपी व्यवधान से योगेश्वर कृष्ण का तद्धर्मतापत्ति रूप भाव ढका हुआ है ॥

सं०—ननु, जब प्रकृतिरूपी पात्र से तुम्हारा तद्धर्मतापत्तिरूप भाव ढका हुआ है तो फिर उसको कोई भी नहीं जानसकता, इस अभिप्राय

से कथन करते हैं कि मेरे विज्ञानी भक्तों से बिना उस भाव को कोई नहीं जानता:—

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

पद०—वेद । अहं । समतीतानि । वर्त्तमानानि । च । अर्जुन । भविष्याणि । च । भूतानि । मां । तु । वेद । न । कश्चन ॥

पदा०—(अहं) मैं (समतीतानि) व्यतीत हुए २ (वर्तमानानि) वर्तमान (च) और (भविष्याणि) भविष्यकाल के (भूतानि) भूतों को भी (वेद) जानता हूं (च) और (मां, तु) मुझको तो (न, कश्चन, वेद) कोई नहीं जानता ॥

सं०—अब उस प्रतिबन्ध को वर्णन करते हैं, जिससे विज्ञानी भक्त से भिन्न उसको कोई नहीं जानता:—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यांति परंतप ॥ २७ ॥

पद०—इच्छाद्वेषसमुत्थेन । द्वन्द्वमोहेन । भारत । सर्वभूतानि । संमोहं । सर्गे । यांति । परंतप ॥

पदा०—हे भारत ! (सर्गे) शरीर की उत्पत्ति होने पर (इच्छाद्वेषसमुत्थेन) इच्छा, द्वेष = राग द्वेष से उत्पन्न हुए (द्वन्द्वमोहेन) काम क्रोध, लोभ मोह, शीत उष्णादि द्वन्द्वों के मोह से (परंतप) हे शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन ! (सर्वभूतानि) सब प्राणी (संमोहं) मोह को (यांति) प्राप्त होते हैं ॥

सं०—ननु, तुमने चार प्रकार के भक्तों में से ज्ञानी को अपने आपका ज्ञाता माना था, फिर कैसे कहा कि उक्त रागद्वेषादि प्रतिबन्धों के कारण मुझको कोई नहीं जानता ? उत्तर:—

येषां त्वंतगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजंते मां दृढ़व्रताः ॥ २८ ॥

पद०—येषां । तु । अंतगतं । पापं । जनानां । पुण्यकर्मणां । ते । द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः । भजन्ते । मां । दृढ़व्रताः ॥

पदा०-(येषां, जनानां, पुण्यकर्मणां) जिन पुण्यात्मा कर्मी जनों का (तु) निश्चयकरके (पापं, अंतगतं) पाप नाश को प्राप्त होगया है (ते) वह (द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः) काम क्रोधादि मोह से निवृत्त हुए (मां, भजन्ते) मेरी सेवा करते अर्थात् मुझे जानते हैं, वह कैसे हैं (दृढ़-व्रताः) दृढ़व्रत = निश्चय आत्मा वाले हैं ॥

भाष्य—पापनाश वाले यहां वह लोग कथन किये गये हैं जिनके पाप उस ब्रह्मज्ञान से नाश होगये हैं अर्थात् जिनके वासनारूपी कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध होगये हैं, जैसाकि "क्षीयन्तेचास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टेपरावरे" इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में कथन किया है और "दृढ़व्रताः" इसलिये कहा है कि वह आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्तों के समान निर्बल आत्मा न हो किन्तु दृढ़व्रतधारी हो अर्थात् नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव परमात्मा को समझकर फिर चलायमान न हो ॥

सं०—ननु, तुम जो बारंबार अपनी ही भक्ति और अपनी ही उपासना बताते हो इससे तुम्हारे भक्तों को क्या मिलेगा ? उत्तरः—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

पद०—जरामरणमोक्षाय । मां । आश्रित्य । यतन्ति । ये । ते । ब्रह्म । तत् । विदुः । कृत्स्नं । अध्यात्मं । कर्म । च । अखिलं ॥

पदा०—(जरामरणमोक्षाय) जरा = वृद्धावस्था, मरण = देहत्याग, इनके मोक्षाय = दुःखों से छूटने के लिये (मां) मुझको (आश्रित्य) आश्रय करके (ये) जो (यतन्ति) यत्न करते हैं (ते) वह (तत्, ब्रह्म) उस ब्रह्म (कृत्स्नं, अध्यात्मं) सम्पूर्ण अध्यात्म (च) और (अखिलं, कर्म) सम्पूर्ण कर्मों को (विदुः) जानते हैं ॥

भाष्य—वह विज्ञानी पुरुष जो जन्म मरणादि दुःखों से छूटने के लिये "मां आश्रित्य"=मुझको आश्रय करके ज्ञानयोग औरकर्मयोग इस उभय प्रकार के योग से यत्न करते हैं वह अक्षर ब्रह्म और अध्यात्म=अपनी स्वरूपनि-ष्पत्तिको प्राप्त होते हैं, जैसाकि "परंज्योतिरुपसम्पद्यस्वेनरूपेणाभिनि-

पद्यते " इस वाक्य में कथन किया है कि उस परंज्योति परमात्मा को प्राप्त होकर अपने शुद्धस्वरूप में स्थिर होते हैं और शुभाशुभ कर्मों का उनको पूर्णज्ञान होजाता है, इस श्लोक में अपने से भिन्न अक्षर ब्रह्म का कथन करके कृष्णजी ने अपने ईश्वर होने का सन्देह सर्वथा मिटा दिया, केवल अपने आपको इतने अंश में कारण रखा है कि जो मेरे दृढ़ उपदेश द्वारा आते हैं उनको अक्षर ब्रह्म, स्वरूपनिष्पत्ति, शुभाशुभ कर्मों का ज्ञान, यह फल मिलते हैं, अवतारवादियों के मतानुकूल तद्धर्मतापत्तिरूप ईश्वरीय भावों को उलंघन कर यदि कृष्णजी अपने को ईश्वर होने का भाव दर्शाते तो यहां अपने से भिन्न ब्रह्म को कदापि कथन न करते, मायावादियों ने ब्रह्म के अर्थ यहां " तत् " पद के लक्ष्य के किये हैं, अध्यात्म के अर्थ " त्वं " पद के लक्ष्य के किये हैं और कर्मों के अर्थ श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदिकों के किये हैं, यदि यही आशय व्यासजी का होता तो इतनी कठिन कल्पना और पुनरुक्ति की क्या आवश्यकता थी अर्थात् " तत् " पद का लक्ष्य भी वही निर्गुण ब्रह्म और " त्वं " पद का लक्ष्य भी वही निर्गुण ब्रह्म, इससे तो निर्गुण ब्रह्म ही कथन कर देना पर्याप्त था फिर इतनी कठिनाई क्यों ? और उस ब्रह्म की प्राप्ति के अनन्तर तो श्रवण, मनन आदि साधन इनके यहां रहते ही नहीं फिर उनका कथन क्यों ? भाव यह है कि यह विज्ञानयोग नाम अध्याय है जिसमें " ज्ञानयज्ञेनतेनाऽहं इष्टस्यादिति मे मतिः " इत्यादि श्लोकों के मतानुकूल विज्ञानियों को विज्ञानयोग से इस श्लोक में अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति कथन कीगई है ॥

५०–ननु, यदि कृष्णजी ने अपने से इतर ब्रह्म की प्राप्ति इस श्लोक में कथन की है तो देहत्याग काल में अपना ध्यान क्यों बतलाया ? उत्तरः–

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

पद०–साधिभूताधिदैवं । मां । साधियज्ञं । च । ये । विदुः । प्रयाणकाले । अपि । च । मां । ते । विदुः । युक्तचेतसः ॥

पदा०–(साधिभूताधिदैवं) अधिभूत, अधिदैव (च) और (साधि-

यज्ञं) अधियज्ञ के साथ (ये) जो (प्रयाणकाले) प्रयाणकाल = मरणकाल में (अपि) भी (मां, विदुः) मुझको जानते हैं (ते, युक्तचेतसः) ऐसे युक्तचित्त वाले (मां, विदुः) मुझे ठीक २ जानते हैं ॥

भाष्य-" अधिभूत " शब्द के अर्थ प्रकृति " अधिदैव " के अर्थ परमात्मा और " अधियज्ञ " के अर्थ यहां वेद के हैं, इसलिये कृष्णजी कहते हैं कि प्रकृति, पुरुष और उसकी वेदरूप आज्ञा के साथ जो मरणकाल समीप होने पर भी मुझे प्राप्त होता है वह यथार्थपन से मुझको जानता है अर्थात् प्रकृति, ईश्वर और उसकी वेदरूप आज्ञा को मानकर जो मुझे जानता है वही विज्ञानी है, इस कथन से व्यासजी ने यह स्पष्ट करदिया कि कृष्णजी केवल वैदिकमार्ग की ओर लाने के लिये एक प्रवर्तक थे और जिन वैदिक पदार्थों के सहारे कृष्णजी अभ्युदय तथा निश्रेयस की सिद्धि बतलाते हैं उन पदार्थों के बोधन द्वारा ही अपने आपको कल्याणकारी मानते हैं, इस विज्ञानयोगाध्यायानुसार " यज्ञे अधीति अधियज्ञं "=यज्ञ में जो मुख्य हो उसका नाम अधियज्ञ है, जैसाकि "तस्मात्सर्वगतंब्रह्मनित्यंयज्ञेप्रतिष्ठितम् " गी० ३ । १५ इस श्लोक में वेद को कर्मयज्ञ और ज्ञानयज्ञ का मुख्य साधन वर्णन किया है, इस प्रकार इस विज्ञानयोगाध्याय की विज्ञानवाची " अधियज्ञ " शब्द से समाप्ति की है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीता योगप्रदीपार्य्यभाष्ये, विज्ञानयोगोनाम सप्तमोऽध्यायः

अथ अष्टमोऽध्यायः प्रारभ्यते

सङ्गति—उक्त सप्तमोऽध्याय में चार प्रकार के भक्तों को वर्णन करके उनमें से विज्ञानी भक्त परमात्मा को प्रिय होने के कारण उसको अक्षर ब्रह्म का ज्ञाता कथन किया, अब उस अक्षर ब्रह्म के स्वरूपनिर्देश के लिये यह ब्रह्माक्षरनिर्देशाध्याय प्रारम्भ करते हैं:—

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

पद०—किं । तत् । ब्रह्म । किं । अध्यात्मं । किं । कर्म । पुरुषोत्तम । अधिभूतं । च । किं । प्रोक्तं । अधिदैवं । किं । उच्यते ॥

पदा०—हे पुरुषोत्तम ! (तत्, ब्रह्म) वह ब्रह्म (किं) क्या = किस लक्षण वाला है (किं, अध्यात्मं) वह अध्यात्म क्या है (किं, कर्म) कर्म क्या (च) और (अधिभूतं, किं, प्रोक्तं) अधिभूत किसको कहा गया (अधिदैवं, किं, उच्यते) और अधिदैव किसको कहते हैं ॥

भाष्य—" ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नं " गी० ७ । २९ इस वाक्य में जो ब्रह्म कथन किया गया है वह क्या है ? अध्यात्म तथा कर्म क्या हैं ? इत्यादि पदार्थों की स्वरूपनिरुक्ति के लिये अर्जुन ने यहां पांच प्रश्न किये हैं और पूर्वाध्याय के अन्तिम श्लोक में जो अधियज्ञ कथन किया गया था और जो यह कहा थो कि देहत्याग समय में इन पदार्थों के ज्ञाता ही मुझे जानते हैं, यह सब अर्जुन ने पूछा है ॥

सं०—अब उक्त विषय में अर्जुन दो प्रश्न और करते हैं:—

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

पद०—अधियज्ञः । कथं । कः । अत्र । देहे । अस्मिन् । मधुसूदन । प्रयाणकाले । च । कथं । ज्ञेयः । असि । नियतात्मभिः ॥

पदा०-(मधुसूदन) हे कृष्ण ! (अधियज्ञः) अधियज्ञ का (कथं) किस प्रकार से चिन्तन करना चाहिये और (अत्र) यहां वह अधियज्ञ (कः) क्या है ? (प्रयाणकाले) देहत्यागकाल में (अस्मिन्, देहे) इस देह में (नियतात्मभिः) समाहितचित्त वालों से (कथं, ज्ञेयः, असि) तुम किस प्रकार जाने जाते हो ॥

भाष्य-यज्ञ में जो मुख्य हो उसका नाम "अधियज्ञ" है, और वह अधियज्ञ यहां वेद का वाचक है, जैसाकि " तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितं" गी० ३ । १५ में कथन कर आये हैं, देहत्याग समय में जो समाहितचित्त वाले जिज्ञासु हैं उनसे तुम किस प्रकार चिन्तन करने योग्य हो, इसका तात्पर्य्य यह है कि गी० ७ । ३० में कृष्णजी ने यह कहा था कि मुझे अधिभूत के साथ, अधिदैव के साथ और अधियज्ञ के साथ जो जानता है वही देहत्याग समय में मुझे जानता है, इस अभिप्राय से यह प्रश्न किया गया है कि तुम उक्त तीनो पदार्थों के साथ देहत्याग समय में कैसे जाने जाते हो ॥

सं०-अब कृष्णजी उक्त प्रश्नों का उत्तर देते हैं:—

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

पद०-अक्षरं । ब्रह्म । परमं । स्वभावः । अध्यात्मं । उच्यते । भूतभावोद्भवकरः । विसर्गः । कर्मसंज्ञितः ॥

पदा०-(अक्षरं, परमं, ब्रह्म) सर्वोपरि ब्रह्म का नाम अक्षर (अध्यात्मं, स्वभावः, उच्यते) अध्यात्म को स्वभाव कहते हैं (भूतभावोद्भवकरः) प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि करने वाला जो (विसर्गः) दान (कर्मसंज्ञितः) उसका नाम यहां कर्म है ॥

भाष्य- अब उक्त सात प्रश्नों का क्रम से इस प्रकार उत्तर देते हैं कि अक्षर का नाम यहां ब्रह्म है, " परमं " विशेषण इसलिये दियागया है कि प्रकृति को भी अक्षर कहते हैं, क्योंकि "न क्षरतीत्यक्षरं"=जिसका नाश न हो उसका नाम " अक्षर " है, यह निरुक्ति प्रकृति में भी घट

जाती है, क्योंकि वह भी परिणामी नित्य है वास्तव में उसका नाश नहीं होता, इसलिये " परम " विशेषण दिया कि परम जो सर्वोपरि अक्षर है वह यहां " ब्रह्म " शब्द से ग्रहण किया जाता है, सर्वोपरि अक्षर परमात्मा ही है, क्योंकि वह कूटस्थ नित्य होने से उसके स्वरूप में कोई विकार नहीं होता अथवा "अश्नुते सर्वमित्यक्षरं"=जो सर्वव्यापक हो उसका नाम अक्षर है, जैसाकि "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणाभिवदन्ति एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौविधृतौ तिष्ठतः" बृहदा०३।८।९=हे गार्गि ! इस अक्षर को ब्राह्मण लोग कथन करते हैं, इसी अक्षर की शासना में सूर्य्य चन्द्रमादि स्थिर हैं, उसी अक्षर को वर्णन करने के अभिप्राय से यहां "ब्रह्म" शब्द आया है जिसका वर्णन "अक्षरमम्बरान्तधृते" ब्र० सू० १।३।९ में है कि अक्षर ब्रह्म का ही नाम है, क्योंकि अम्बर नाम आकाशादिकों का धारण करना ब्रह्म में ही बन सकता है, इस अक्षराधिकरण के विषयवाक्यों को लेकर कृष्णजी ने कहा है कि "अक्षरं ब्रह्म परमं" और " अध्यात्म " नाम स्वभाव का है, जैसाकि पीछे वर्णन किया गया है "स्वस्यभावः स्वभावः" यथा "परंज्योतिरुपसम्पद्यस्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" = उस परमज्योति को प्राप्त होकर स्वस्वरूप से स्थिर होता है, और " अध्यात्म " के अर्थ यहां जीवात्मा के स्वभाव के हैं, जैसाकि "आत्मनि अधीत्याध्यात्मं"=जो आत्मा में हो उसको " अध्यात्म " कहते हैं, " आत्मा " शब्द के अर्थ यहां शरीर के हैं, " भाव " नाम उत्पत्ति का है, और "उद्भव" नाम वृद्धि का है, इसलिये भूतों की उत्पत्ति तथा वृद्धि करने वाले यज्ञादि कर्मों को यहां "कर्म" कथन किया गया है, और गी० ७।२९ में जो यह कहा गया था कि जो कृष्णजी के सदुपदेश द्वारा यत्न करते हैं वह ब्रह्म, अध्यात्म तथा कर्म को जानते हैं, सो इन तीनों के निर्वचन का प्रश्न प्रथम श्लोक में किया है, एवं उक्त तीन वस्तुओं विषयक तीनों प्रश्नों का उत्तर होगया, अब अधिभूतादि जो प्रथम श्लोक में पूछे गये हैं, उनका उत्तर देते हैं:—

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ॥ ४ ॥

पद०-अधिभूतं । क्षरः । भावः । पुरुषः । च । अधिदैवतं । अधियज्ञः । अहं । एव । अत्र । देहे । देहभृतांवर ॥

पदा०-(देहभृतांवर) हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! (क्षरः, भावः) परिणामि नित्य जो पदार्थ हैं वह (अधिभूतं) अधिभूत (च) और (अधिदैवतं) अधिदैवत (पुरुषः) पुरुष परमात्मा है, और (एवं) इस प्रकार (अत्र, देहे) इस देह में (अधियज्ञः, अहं) अधियज्ञ मैं हूं ॥

भाष्य—गी० ७।३० में जो यह कथन किया गया था कि अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के साथ जो मुझे जानते हैं वही ठीक २ जानते हैं, इसलिये इस चतुर्थ श्लोक में अधिभूतादिकों की व्याख्या की है, अधिभूत नाम यहां प्रकृति का है, क्योंकि वह प्रत्येक भूत में कार्य्यरूप होरही है, इस लिये "**भूते अधित्यधिभूतं**" इस समास से प्रकृति के अर्थ लाभ होते हैं, अधिदैवत नाम परमात्मा का है, जैसाकि "**य आदित्येतिष्ठन्नादित्यादन्तरोयमादित्यो न वेद**" बृहदा० ३ । ७ । ९ इत्यादि वाक्यों में वर्णित है, अधियज्ञ नाम वेद का है, जैसा पीछे निरूपण कर आये हैं, और गी० ७ । ३० में जो यह कथन किया है कि प्रकृति, परमात्मा और उसकी आज्ञा वेद, इन तीनों पदार्थों के ज्ञान का उपदेष्टा जो कृष्णजी को जानते हैं वह युक्तचित्त वाले योगी मरणकाल में भी उसकी आज्ञा को नहीं भूलते.इसी आशय का इस चतुर्थ श्लोक में विवरण करते हुए कृष्णजी अपने आपको "अधियज्ञ" कहते हैं ॥

"**अधियज्ञो विद्यते यस्य स अधियज्ञः**" = वेद जिसके ज्ञान में विद्यमान हो उसको "अधियज्ञ" कहते हैं, स्वामी शं० चा० और मधुसूदन स्वामी ने अधिभूत के अर्थ तो प्रकृति के ही किये हैं पर अधिदैव और अधियज्ञ के अर्थों में बड़ा भेद है, अधिदैव के अर्थ इनके मत में हिरण्यगर्भ के हैं और हिरण्यगर्भ इनके मत में छोटे ईश्वर का नाम है जो प्रथम जीव भी कहलाता है और जिसको यह लोग ब्रह्मा भी कहते हैं, अधिक क्या,

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत् ।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यजु० १३ । ४

इस मन्त्र को यह अपने ब्रह्मारूपी हिरण्यगर्भ का प्रतिपादक कथन करते हैं, जिसके सत्यार्थ यह हैं कि "हिरण्यं गर्भे यस्य स हिरण्यगर्भः"=हिरण्य नाम सूर्यादि ज्योति जिसके गर्भ में हों अर्थात् जो सम्पूर्ण विश्व में व्यापक होरहा हो वह "हिरण्यगर्भ" है, और (पतिरेक, आसीत्) वह एक ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का पति था, इत्यादि मन्त्रों से स्पष्ट है कि हिरण्यगर्भ यहां परब्रह्म का नाम है पर इन्होंने अपरब्रह्म = छोटे ब्रह्म का नाम हिरण्यगर्भ इसलिये रखा है कि उक्त श्लोक में अधियज्ञ विष्णु को माना है और हिरण्यगर्भ से विष्णु को बड़ा बनाकर कृष्ण को सब से बड़ा बनाना है, वह इस प्रकार कि कृष्णजी जो यह कहते हैं कि "अधियज्ञोऽहं" = मैं अधियज्ञ अर्थात् विष्णु हूं, इस प्रकार कृष्णजी हिरण्यगर्भ से बढ़े हुए हैं, क्योंकि हिरण्यगर्भ इनके मत में इसी ब्रह्माण्ड का स्वामी है और विष्णु व्यापक होने से सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का स्वामी है, इस पर मधुसूदन स्वामी यह लिखते हैं कि "यज्ञो वै विष्णुरिति श्रुतेः स च विष्णुरधियज्ञोऽहं वासुदेव एव न मद्भिन्नः कश्चित्"= यज्ञ नाम विष्णु का है और वह विष्णु वसुदेव का पुत्र कृष्ण ही है, वह अपने आपको अधियज्ञ कहकर अर्थात् विष्णुरूप बोधन करके यह सिद्ध करता है कि मेरे से भिन्न और कुछ नहीं, यदि कृष्ण का अपने आपको अधियज्ञ कहने का यही अभिप्राय है कि मेरे से भिन्न कुछ नहीं तो फिर विनाशी भावों वाला जो अधिभूत कहा गया है उसको और हिरण्यगर्भ को कृष्ण ने "अहं" शब्द से क्यों न कहा ? हमारे मत में तो इसकी यह व्यवस्था है कि गी० ७ । ३० में जो कृष्णजी ने यह कहा है कि प्रकृति, परमात्मा और उसकी आज्ञा वेद के साथ २ जो मुझे जानता है वह युक्त चित्त वाला है, इसी भाव को यहां आकर इस प्रकार बोधन किया है कि प्रकृति, पुरुष और उसकी आज्ञा वेद जो अधियज्ञ शब्द से कथन कीगई है उसका उपदेष्टा होने से मैं साक्षात् वेदरूप हूं, इसलिये अपने आपको अधि-

यज्ञ कहा और यहां अपने आप पर इतना बल इस अभिप्राय से दिया है कि इस अध्याय के ७ वें श्लोक में यह कहना है कि सब कालों में मेरा स्मरण करके युद्ध करते हुए मुझको प्राप्त होगे अर्थात् मेरे भाव को तभी प्राप्त होगे जब आततायियों का वध करना जो वेद की आज्ञा है उसको मानोगे, इस अभिप्राय से कृष्णजी ने अपने आपको अधियज्ञ कहा है, और इसी अभिप्राय से प्रायः बहुत स्थलों में अपना महत्व कथन करके अर्जुन को अपनी ओर खेंचा है, "सब कुछ मैं हूं" यदि इस भाव से कृष्ण अपने आपको अधियज्ञ कहते अथवा अवतार के भाव से कहते तो अक्षर परमात्मा को "कविंपुराणमनुशासितारं" गी० ८ । ९ इत्यादि श्लोकों में अपने से भिन्न न बतलाते ॥

सं०-अब कृष्ण अपना महत्व कहकर अर्जुन की वृत्ति को दृढ़ करते हुए अक्षर परमात्मा को अपने से भिन्न कथन करते हैंः—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

पद०-अन्तकाले । च । मां । एव । स्मरन् । मुक्त्वा । कलेवरं । यः । प्रयाति । सः । मद्भावं । याति । न । अस्ति । अत्र । संशयः ।

पदा०-(अन्तकाले) अन्तकाल में (मां, एव) मुझको ही (स्मरन्) स्मरण करता हुआ (कलेवरं, मुक्त्वा) शरीर को छोड़कर (यः) जो (प्रयाति) प्रयाण करता है (सः) वह (मद्भावं) मेरे भाव को (याति) प्राप्त होता है (अत्र, संशयः, न अस्ति) इसमें संशय नहीं॥

भाष्य-यह श्लोक स्पष्ट है, इसलिये इसकी विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं, इसमें कृष्णजी ने केवल "मद्भाव" कथन किया है कि पूर्वोक्त कर्म करने वाला मेरे भाव को प्राप्त होता है, इस पर अद्वैतवादी टीकाकारों ने "मद्भाव" के यह अर्थ किये हैं कि वह ब्रह्म होजाता है, यदि यह प्रकरण जीव को ब्रह्म बनादेने का होता तो फिर युद्ध करने के लिये अर्जुन को क्यों उद्यत करते, यहां मद्भाव कथन करने से तात्पर्य्य यह है कि जो पुरुष जैसे २ भावों वाले की संगति करता है वह भाव संस्काररूप से उसमें दृढ़ बैठ जाते हैं, इसलिये उन संस्कारों से लिपटा हुआ ही वह इस कलेवर को छोड़ता है, इस भाव से "मद्भाव" शब्द कथन किया है और आगे

भी यही कथन करते हैं कि उन्हीं भावों को प्राप्त होता है, जैसाकिः—

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

पद०—यं। यं। वा। अपि। स्मरन्। भावं। त्यजति। अन्ते। कलेवरं। तं। तं। एव। एति। कौन्तेय। सदा। तद्भावभावितः ॥

पदा०—हे कौन्तेय! (यं, यं, भावं) जिस २ भाव को (स्मरन्) स्मरण करता हुआ पुरुष (अन्ते, कलेवरं, त्यजति) अन्तकाल में शरीर को छोड़ता है वह (सदा, तद्भावभावितः) सदा उन भावरूप संस्कारों से संस्कारी हुआ २ (तं, तं, एव, एति) उसी २ भाव को प्राप्त होता है॥

सं०—अब उक्त संस्कारों का प्रयोजन कथन करते हैंः—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

पद०—तस्मात्। सर्वेषु। कालेषु। मां। अनुस्मर। युद्धच। च। मयि। अर्पितमनोबुद्धिः। मां। एव। एष्यसि। असंशयं ॥

पदा०—(तस्मात्) इसलिये (सर्वेषु, कालेषु) सब कालों में (मां, अनुस्मर) मेरा स्मरण कर (च) और (युद्धच) युद्ध कर (मयि, अर्पितमनोबुद्धिः) मेरे में अर्पण करदिये हैं मन और बुद्धि जिसने ऐसा तू (मां, एव, एष्यसि) मुझको ही प्राप्त होगा (असंशयं) इसमें कोई संशय नहीं ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह भाव स्पष्ट होगया कि कृष्णजी का अपना महत्व बोधन करना और अपना ही स्मरण बतलाना युद्ध के अभिप्राय से है, हां अर्थवाद से कृष्णजी कहीं २ अपने आपको इतना बड़ा कहजाते हैं कि जिस बड़ाई के तत्व को न समझकर श्रद्धालु लोग उनको ईश्वर बना देते हैं, जैसाकि इस श्लोक के अर्थ में मधुसूदन स्वामी यह लिखते हैं कि "**मां सगुणमीश्वरमनुस्मर**"=मुझ सगुण ईश्वर का स्मरण कर, भला यहां ईश्वर का क्या प्रकरण, प्रकरण तो यहां संस्कारों का था कि पुरुष के जैसे संस्कार होते हैं वैसे ही भावों को प्राप्त

होता है, और जिन संस्कारों से ईश्वर की प्राप्ति होती है उनको आगे के श्लोक में वर्णन करते हैं किः--

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥ ८ ॥

पदा०-अभ्यासयोगयुक्तेन । चेतसा । नान्यगामिना । परमं । पुरुषं । दिव्यं । याति । पार्थ । अनुचिन्तयन् ॥

पदा०--हे पार्थ ! (अभ्यासयोगयुक्तेन) अभ्यासरूप योग से युक्त होकर अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध करके (नान्यगामिना, चेतसा) इधर उधर न जाने वाले चित्त से (अनुचिन्तयन्) चिन्तन करता हुआ (दिव्यं, परमं, पुरुषं) दिव्य परम पुरुष जो परमात्मा है उसको (याति) प्राप्त होता है ॥

सं०-अब उस परमपुरुष का कथन करते हैं:—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिंत्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

पदा०-कविं । पुराणं । अनुशासितारं । अणोः । अणीयांसं । अनुस्मरेत् । यः । सर्वस्य । धातारं । अचिन्त्यरूपं । आदित्यवर्णं । तमसः । परस्तात् ॥

पदा०-(यः) जो पुरुष (सर्वस्य, धातारं) सर्व का धारण करने वाला (अचिन्त्यरूपं) जिसका स्वरूप अचिन्त्य है (आदित्यवर्णं) जो सूर्य्य के समान स्वतःप्रकाश है (तमसः, परस्तात्) जो अज्ञानरूप तम से परे है, फिर कैसा है (कविं) सर्वज्ञ (पुराणं) सनातन (अनुशासितारं) सब का अनुशासन करने वाला, और जो (अणोः) परमाणु आदिकों से भी सूक्ष्म है उस (अणीयांसं) अतिसूक्ष्म को (यः, अनुस्मरेत्) जो स्मरण करता है वह पुरुष उस परमस्वरूप को प्राप्त होता है ॥

भाष्य-यह श्लोक " सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्, कविर्मनीषीपरिभूः स्वयम्भूः " यजु० ४०।८ इत्यादि मन्त्रों के आशय को लेकर बनाया गया है, इसलिये इसमें " कवि " आदि वही वैदिक शब्द आये हैं, " आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् "

यह प्रतीक " वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं " यजु० ३१।१८ मन्त्र की है, उक्त मन्त्रों में वर्णित परमात्मा इस श्लोक में वर्णन किया गया है ॥

सं०-अब उस परमात्मा के स्मरण का उपाय वर्णन करते हैं:—

प्रयाणकाले मनसाऽचलेनभक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

पद०-प्रयाणकाले । मनसा । अचलेन । भक्त्या । युक्तः । योगबलेन । च । एव । भ्रुवोः । मध्ये । प्राणं । आवेश्य । सम्यक् । सः । तं । परं । पुरुषं । उपैति । दिव्यं ॥

पदा०-(प्रयाणकाले) देहत्याग समय में (अचलेन, मनसा) अचल मन से जो उस परमात्मा का चिन्तन करता है वह उस दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है (च) और (भक्त्या, युक्तः) भक्ति से युक्त होकर (योगबलेन) चित्तवृत्तिनिरोध से (भ्रुवोः, मध्ये) दोनों भ्रुवों के मध्य = आज्ञाचक्र में (सम्यक्, प्राणं, आवेश्य) भलेप्रकार प्राणों को स्थिर करके जो उस परमात्मा का स्मरण करता है (सः, तं, परं, पुरुषं, दिव्यं) वह उस दिव्य परमपुरुष को (उपैति) प्राप्त होता है ॥

सं०-ननु, जिस अक्षर परमात्मा के स्मरण का आपने विधान किया है वह किस नाम से स्मरण करने योग्य है ? उत्तरः—

यदक्षरं वेदविदो वदंति विशंति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छंतो ब्रह्मचर्य्यं चरंति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

पद०-यत् । अक्षरं । वेदविदः । वदंति । विशंति । यत् । यतयः । वीतरागाः । यत् । इच्छन्तः । ब्रह्मचर्यं । चरंति । तत् । ते । पदं । संग्रहेण । प्रवक्ष्ये ॥

पदा०-(यत्, अक्षरं) जिस अक्षर को (वेदविदः) वेद के जानने वाले (वदंति) कथन करते हैं (वीतरागाः) विरक्तपुरुष (यतयः) यत्नशील (यत्, विशंति) जिसको प्राप्त होते हैं और (यत्, इच्छन्तः) जिसकी इच्छा करते हुए (ब्रह्मचर्य्यं) ब्रह्मचर्य्य को (चरन्ति) करते हैं (तत्, पदं) वह पद (ते) तुम्हारे लिये (संग्रहेण) संक्षेप से (प्रवक्ष्ये) वर्णन करता हूं ॥

सं०-अब धारणा का उपाय वर्णन करते हैं:—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥

पद०-सर्वद्वाराणि । संयम्य । मनः । हृदि । निरुध्य । च । मूर्ध्नि । आधाय । आत्मनः । प्राणं । आस्थितः । योगधारणां ॥

पदा०-(सर्वद्वाराणि, संयम्य) सब इन्द्रियों का संयम करके (च) और (मनः, हृदि, निरुध्य) मन को हृदयदेश में लगाकर (आत्मनः, प्राणं) अपने प्राण को (मूर्ध्नि, आधाय) मूर्धादेश में चढ़ा (योगधारणां, आस्थितः) योग की धारणा में स्थिर हो ॥

सं०-अब परमात्मप्राप्ति कथन करते हैं:—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

पद०-ओं । इति । एकाक्षरं । ब्रह्म । व्याहरन् । मां । अनुस्मरन् । यः । प्रयाति । त्यजन् । देहं । सः । याति । परमां । गतिम् ॥

पदा०-(ओं, एकाक्षरं, ब्रह्म ; "ओ३म्" यह एक अक्षर ब्रह्म है अर्थात् ब्रह्म का बोधक जो यह "ओ३म्" अक्षर है इसको (व्याहरन्) कथन करके (मां, अनुस्मरन्) मुझको इसके अनन्तर स्मरण करता हुआ अर्थात् इस पद का उपदेष्टा जानता हुआ (यः) जो पुरुष (देहं, त्यजन्) देह त्यागकर (प्रयाति) प्रयाण करता है (सः) वह (परमां, गतिं, याति) परमगति को प्राप्त होता है ॥

भाष्य-यहां यह भाव कथन किया है कि "ओंकार" का जप समाधिलाभ में उपयोगी है, जैसाकि "**ईश्वरप्रणिधानाद्वा**" यो० १ । २३ में कथन किया है कि ईश्वर के प्रणिधान = भक्ति विशेष से समाधि लाभ होती है ॥

इस श्लोक की व्याख्या में अवतारवादी टीकाकारों ने इस अक्षर के साथ कृष्ण को मिला दिया है अर्थात् कृष्ण को परमेश्वर बनादिया है, यदि महर्षिव्यास का यह तात्पर्य होता तो इस अक्षर के अनन्तर कृष्णजी "मां, अनुस्मर" यह कथन न करते, हमारे विचार में कृष्णजी अपने

आपको उस अक्षर का उपदेष्टा होने से अपना महत्व कथन करते हैं अपने आप अक्षर ब्रह्म बनने का अभिमान नहीं करते, यदि स्वयं अक्षर=ब्रह्म बनने का अभिमान करते तो "तमाहुः परमां गतिं" गी० ८। २१ इस वाक्य द्वारा उस अक्षर को परमगति निरूपण करके अपना धाम कथन न करते "धाम" शब्द के अर्थ स्थिति स्थान के हैं अर्थात् मेरी स्थिति का स्थान भी वही अक्षर है, यह कथन करके फिर आगे उस अक्षर की प्राप्ति अनन्यभक्ति द्वारा कथन की है ॥

सं०-ननु, यदि कृष्णजी अपने आपको अक्षर कथन नहीं करते तो योगियों के लिये अपना स्मरण क्यों बतलाते हैं ? उत्तरः-

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

पद०-अनन्यचेताः । सततं । यः । मां । स्मरति । नित्यशः । तस्य । अहं । सुलभः । पार्थ । नित्ययुक्तस्य । योगिनः ॥

पदा०-हे पार्थ ! (अनन्यचेताः) किसी अन्य वस्तु में चित्त न लगाकर (नित्यशः) प्रतिदिन (सततं) निरन्तर (यः) जो (मां) मेरा (स्मरति) स्मरण करता है (तस्य, नित्ययुक्तस्य, योगिनः) उस निरन्तर समाहित चित्त वाले योगी को (अहं) मैं (सुलभः) सुलभ हूं अर्थात् सुख से प्राप्त होता हूं ॥

भाष्य-इस श्लोक में कृष्णजी ने अपने महत्व का कथन उसी अभिप्राय से किया है, जैसाकि गी० ८। ७ में अपने में अर्जुन की मन, बुद्धि अर्पण कराके उसको युद्ध का उपदेश किया है, इसी प्रकार यहाँ अपना महत्व वर्णन करके आगे अपने आपको सुख का परमधाम कथन करते हैं:-

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवंति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

पद०-मां । उपेत्य । पुनः । जन्म । दुःखालयं । अशाश्वतं । न । आप्नुवन्ति । महात्मानः । संसिद्धिं । परमां । गताः ॥

पदा०-(मां, उपेत्य) मुझको प्राप्त होकर (दुःखालयं) दुःख का स्थान (अशाश्वतं) विनाशी (पुनः, जन्म) जो पुनर्जन्म है उसको

(महात्मानः) महात्मा लोग (न, आप्नुवन्ति) प्राप्त नहीं होते, जो (परमां) बड़ी (संसिद्धिं) सिद्धि को (गताः) प्राप्त हैं ॥

भाष्य–यहां कृष्णजी ने अपना महत्व इस अभिप्राय से वर्णन किया है कि अब इस निम्नलिखित श्लोक में ब्रह्मलोक, विष्णुलोक और रुद्र-लोक इस प्रकार के लोकविशेष जो अज्ञानी लोग मानते हैं उनका खण्डन करते हैं:–

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

पद०–आब्रह्मभुवनात् । लोकाः । पुनरावर्तिनः । अर्जुन । मां । उपेत्य । तु । कौन्तेय । पुनः । जन्म । न । विद्यते ॥

पदा०–हे अर्जुन ! (आब्रह्मभुवनात्) ब्रह्मलोक से लेकर (लोकाः) सब लोक (पुनरावर्तिनः) पुनर्जन्म वाले हैं पर (मां, उपेत्य, तु) मुझको प्राप्त होकर हे कौन्तेय ! (पुनः, जन्म, न, विद्यते) फिर जन्म नहीं होता ॥

भाष्य–इस श्लोक का आशय यह है कि ब्रह्मलोक, विष्णुलोक और रुद्रलोक इन लोकविशेषों के मानने वाले जो अवैदिक लोग हैं वह पुनः२ जन्म मरण में आते हैं और तत्त्वज्ञानी मुझको प्राप्त होकर पुनः२ जन्म मरण में नहीं आते अर्थात् वह मेरे वैदिक मत की शरण में आने से मिथ्या बातों पर विश्वास नहीं करते, इसलिये पुनः २ जन्म मरण को प्राप्त नहीं होते, यदि इस श्लोक का वही आशय लियाजाय जो अद्वैतवादी टीका-कार लेते हैं तब भी लोकविशेषों का खण्डन होजाता है, वह इस प्रकार कि अद्वैतवादियों के मत में ब्रह्मलोक से भिन्न अन्य कोई लोक नहीं और उसका भी "**ब्रह्मणोलोकः ब्रह्मलोकः**" यह अर्थ नहीं किन्तु "**ब्रह्मैवलोकः ब्रह्मलोकः**" यह अर्थ हैं अर्थात् ब्रह्म का लोक यह नहीं किन्तु ब्रह्म ही लोक है यह अर्थ हैं, यदि यह अर्थ लिये जायं तो अद्वैतवादियों की ब्रह्मप्राप्तिरूप नित्य मुक्ति का खण्डन होजाता है और यदि उक्त लोकविशेष माने जायं तो इनके अवतारत्रयी के लोकत्रय से पुनरावृत्ति कहकर कृष्णजी उक्त अवतारत्रयी में न्यूनता कथन करते हैं, हमारे विचार में तो कृष्णजी ने इतना ऊंचा अभिमान किसी परमतत्व को आश्रयण करके किया है

अन्यथा अद्वैतवादियों की ब्रह्मलोक प्राप्ति को पुनर्जन्मवाली कहकर अपने पद की प्राप्ति को सर्वोपरि न बतलाते और वह परमपद आगे २० वें श्लोक में कथन करेंगे ॥

सं०-अब ब्रह्मरात्रि और ब्रह्मदिन जिस हिसाब से कालवेत्ता लोग मानते हैं वह वर्णन करते हैं:—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणोविदुः ।
रात्रिं युगसहस्रांतां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

पद०-सहस्रयुगपर्यन्तं । अहः । यत् । ब्रह्मणः । विदुः । रात्रिं । युगसहस्रांतां । ते । अहोरात्रविदः । जनाः ॥

पदा०-(यत्) जो योगीजन (सहस्रयुगपर्यन्तं) हज़ार युग पर्यन्त (ब्रह्मणः) ब्रह्म का (अहः) दिन, और (युगसहस्रांतां) हज़ार युग की (रात्रिं) रात्रि को (विदुः) जानते हैं (ते, जनाः) वह पुरुष (अहोरात्रविदः) दिन और रात्रि के जानने वाले हैं ॥

भाष्य-१७२८००० वर्ष सतयुग, १२९६००० वर्ष त्रेतायुग, ८६४००० वर्ष द्वापर और ४३२००० वर्ष कलियुग की आयु है, यह चारो युग जब एक सहस्रवार व्यतीत होते हैं उसका नाम "ब्रह्मदिन" और इसी प्रकार इतने ही युगों की ब्रह्मरात्रि होती है, इस रात्रि दिन के हिसाब से मास पक्ष गिनकर ब्रह्मा की सौवर्ष की आयु होती है, उसमें से ५० वर्ष को प्रथम परार्द्ध और दूसरे ५० वर्षों को द्वितीय परार्द्ध कहते हैं, इस रात्रि दिन गिनने का यहां यह उपयोग था कि एक ब्रह्मदिनभर इस सम्पूर्ण सृष्टि की स्थिति होती है और ब्रह्मरात्रिभर प्रलय रहती है, इसी आशय को निम्नलिखित श्लोक में वर्णन करते हैं कि:—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवंत्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयंते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

पद०-अव्यक्तात् । व्यक्तयः । सर्वाः । प्रभवंति । अहरागमे । रात्र्यागमे । प्रलीयंते । तत्र । एव । अव्यक्तसंज्ञके ॥

पदा०-(अव्यक्तात्) अव्याकृत प्रकृति से (सर्वाः, व्यक्तयः) सब

कार्य्य (अहरागमे, प्रभवन्ति) ब्रह्मदिन में होते और (रात्र्यागमे) ब्रह्म रात्रि में (तत्र, अव्यक्तसंज्ञके) उसी अव्याकृत प्रकृति में (प्रलीयन्ते) लय को प्राप्त होजाते हैं ॥

भाष्य-यह श्लोक इस सम्पूर्ण कार्य्य की उत्पत्ति तथा प्रलय वर्णन के अभिप्राय से आया है जिसका आशय यह हैकि ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, रुद्रलोक इनको जो ब्रह्मादि देवों के देशविशेष मानते हैं वह परमात्मा को विभूति में ऐसे तुच्छ हैं कि एक दिन रात में उत्पत्ति विनाश को प्राप्त होते हैं, और अन्य टीकाकारों के मत में उक्त दोनों श्लोक इस अभिप्राय से आये हैं कि वास्तव में ब्रह्मलोक ऐसा स्थान है कि यह चारो युग जब एक सहस्रवार व्यतीत होजाते हैं तव उस ब्रह्म का एक दिन होता है और इस दिन रात के हिसाव से उसकी १०० वर्ष की आयु होती हैं, ब्रह्म के लोक को मुक्तपुरुष प्राप्त होते हैं उनकी पुनरावृत्ति "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः" गी० ८। १६ इस श्लोक में प्रतिपादन की है और जब कृष्णजी ने ब्रह्मलोक की प्राप्तिरूप मुक्ति से लौट आना कथन किया तो इसका उत्तर यह यों देते हैं कि उस वड़ी उमर वाले ब्रह्मा के साथ जो मुक्तपुरुष रहते हैं वहां उनको तत्वज्ञान उत्पन्न होजाता है फिर वह वड़ी मुक्ति को पालेते हैं उससे फिर लौटकर नहीं आते, इसको यह लोग "क्रममुक्ति" कहते हैं, और जो पितृयाण मार्ग द्वारा चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं वह फिर लौटकर आजाते हैं, इसलिये इन्होंने सारांश यह निकाला है कि जो पंचाग्निविद्याद्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं वह लौटकर आजाते हैं उनके लिये कृष्णजी ने यह कहा है कि ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए तो लौट कर आजाते हैं पर मुझे प्राप्त हुए नहीं लौटते, इतनी खेंचतान से जो वह यह भाव निकालते हैं, गीता के अक्षरों में इसका अंशमात्र भी नहीं, वास्तव में इन श्लोकों का तत्त्व यह है कि मिथ्या विश्वास से माने हुए ब्रह्मलोक, विष्णुलोक और रुद्रलोक यह सब आगमापायी हैं अर्थात् वनने और मिटने वाले हैं, इसलिये एकसहस्र चार युगों का एक दिन और इसी दिन के हिसाव से पक्ष मास वर्णन करके परमात्मा की अगाध रचना में इसको अनित्य वोधन किया है ॥

सं०—अब इसी भाव को आगे कथन करते हैं:—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
राज्यागमेऽवशःपार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

पद०—भूतग्रामः । सः । एव । अयं । भूत्वा । भूत्वा । प्रलीयते । राज्यागमे । अवशः । पार्थ । प्रभवति । अहरागमे ॥

पदा०—हे पार्थ ! (सः, अयं, भूतग्रामः) वह यह भूतों का समुदाय (भूत्वा, भूत्वा) हो २ कर (राज्यागमे) ब्रह्मरात्रि के आने पर (अवशः, प्रलीयते) अवश्य नाश होता और (प्रभवति, अहरागमे) ब्रह्मदिन के आने पर फिर उत्पन्न होजाता है ॥

सं०-इस उत्पत्ति नाश वाले ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और उनके लोकों की अनित्यता प्रतिपादन करके अब उस पद को प्रतिपादन करते हैं जिसको ध्यान में रखकर कृष्णजी ने यह कहा था कि " मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते "=हे अर्जुन ! मुझको प्राप्त होकर फिर जन्म नहीं होताः—

परस्तस्मात्तुभावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

पद०—परः । तस्मात् । तु । भावः । अन्यः । अव्यक्तः । अव्यक्तात् । सनातनः । यः । सः । सर्वेषु । भूतेषु । नश्यत्सु । न । विनश्यति ॥

पदा०-(तस्मात्, अव्यक्तात्) उस अव्यक्तरूप प्रकृति से (अन्यः, अव्यक्तः, भावः) अन्य अव्यक्तभाव=सूक्ष्म परमात्मा (तु) निश्चयकरके (परः) परे है, फिर वह कैसा है (सनातनः) सनातन है (सः, यः) वह यह (सर्वेषु, भूतेषु) सब भूतों के (नश्यत्सु) नाश होने पर भी (न, विनश्यति) नाश को प्राप्त नहीं होता ॥

भाष्य–यह वह पद है जिसको " तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" अथर्व० ७ । ३ । ७ इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया है कि इस व्यापक विष्णु = परमात्मा के (पदं) स्वरूप को ज्ञानी लोग प्राप्त होते हैं, यह वह पद है जिस पद की साकारता को "नतस्यप्रतिमा-

स्त०" यजु० ३१।३ इत्यादि मन्त्र निषेध करते हैं, इस अव्यक्त परमात्मा की इन्द्रियगोचरता को "न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनं" इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में वर्णन किया है, और इसी अव्यक्त को कृष्णजी इसप्रकार बलपूर्वक वर्णन करते हैं कि:—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

पद०—अव्यक्तः । अक्षरः । इति । उक्तः । तं । आहुः । परमां । गतिं । यं । प्राप्य । न । निवर्त्तन्ते । तत् । धाम । परमं । मम ॥

पदा०-(अव्यक्तः, अक्षरः, इति, उक्तः) यह जो अव्यक्त अक्षर कथन किया गया है (तं) उसको वेद (परमां, गतिं, आहुः) परमगति कहते हैं (यं, प्राप्य) जिसको प्राप्त होकर (न, निवर्त्तन्ते) फिर निवृत्त नहीं होते अर्थात् फिर उसमें कोई संशय विपर्यय नहीं होता (तत्) वह (परमं) सब से बड़ा (मम, धाम) मेरा स्थान है ॥

भाष्य-इस श्लोक में आकर कृष्णजी ने उस अक्षररूप परमपद को अपना धाम अर्थात् अपना आश्रयभूत कथन किया है, जैसे अनेक क्लेशों से खिन्न पुरुष अपने धाम को प्राप्त होकर शान्ति पाता है इसी प्रकार संसारानल से संतप्त पुरुष इस शान्ति वारिधि में स्थिति पाकर शान्त होता है, इस अभिप्राय से उस सूक्ष्म से सूक्ष्म अव्यक्त पुरुष को जो गी०८--९।१०।११ में अक्षर नाम कथन किया गया है इस भाव से कृष्णजी ने उसको अपना धाम कहा है ॥

इस श्लोक के "तद्धाम परमं मम" इस वाक्य का मायावादी यहां तक अर्थाभास करते हैं कि "अहंब्रह्मास्मि" तथा "तत्त्वमसि" का सारा बल इसी पर लगा देते हैं और कहते हैं कि कृष्णजी ने इस श्लोक में अपने आपको परमेश्वर कहा है, हमारे विचार में यह भाव इस श्लोक का कदापि नहीं, यदि अक्षर होने का अभिमान कृष्णजी को होता तो अग्रिम श्लोक में उस अक्षर ब्रह्म को अपने से भिन्न बोधन न करते, परन्तु किया है इससे सिद्ध है कि कृष्ण ब्रह्म नहीं ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यांतःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

पद०-पुरुषः । सः । परः । पार्थ । भक्त्या । लभ्यः । तु । अनन्यया । यस्य । अंतःस्थानि । भूतानि । येन । सर्वं । इदं । ततं ॥

पदा०-हे पार्थ ! (सः) वह (परः, पुरुषः) परम पुरुष (तु) निश्चय करके (अनन्यया, भक्त्या, लभ्यः) अनन्यभक्ति से मिलता है (यस्य) जिसके (भूतानि) सब भूत (अन्तःस्थानि) भीतर हैं और (येन) जिसने (इदं, सर्वं) इस सब ब्रह्माण्ड को (ततं) विस्तृत किया है ॥

सं०-अब इस ब्रह्माचराध्याय की समाप्ति करके ज्ञानी और कर्मी लोगों के मार्ग का वर्णन करते हैं:—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यांति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

पद०-यत्र । काले । तु । अनावृत्तिं । आवृत्तिं । च । एव । योगिनः । प्रयाताः । यांति । तं । कालं । वक्ष्यामि । भरतर्षभ ॥

पदा०-हे भरतर्षभ ! (यत्र, काले) जिस काल में (तु) निश्चय करके (अनावृत्तिं) मुक्ति (च) और (आवृत्तिं) परमात्मा की अभ्यास रूप भक्ति को (प्रयाताः) प्राण त्याग के अनन्तर (योगिनः) योगी जन (यांति) प्राप्त होते हैं (तं, कालं) उस काल को (वक्ष्यामि) कथन करता हूं ॥

भाष्य-इस श्लोक का आशय यह है कि परमात्मा के योग से युक्त पुरुष किस दशा में जाकर असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त होता और किस दशा में "तज्जपस्तदर्थभावनं" इत्यादि जप तथा यज्ञों से संप्रज्ञात योग को प्राप्त होता है ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

पद०—अग्निः । ज्योतिः । अहः । शुक्लः । षण्मासाः । उत्तरायणं । तत्र । प्रयाताः । गच्छन्ति । ब्रह्म । ब्रह्मविदः । जनाः ॥

पदा०—(अग्निः, ज्योतिः) जिस अवस्था में अग्नि के समान ज्योति (अहः, शुक्लः) दिन शुभ्र है और (षण्मासाः, उत्तरायणं) छ मास उत्तरायण है (तत्र) उस दशा में (प्रयाताः) शरीर त्यागकर (ब्रह्मविदः, जनाः) ब्रह्मवेत्ता पुरुष (ब्रह्म, गच्छन्ति) ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥

भाष्य—यह रूपकालङ्कार है अर्थात् उत्तरायण काल में दिन शुक्ल होता है और अग्नि ज्योति के समान होती है ऐसे प्रदीप ज्ञानकाल में जो लोग प्राणत्याग करते हैं वह ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, जैसाकि "परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादि वाक्यों में जो तद्धर्मतापत्तिरूप मुक्ति कथन कीगई है उसको प्राप्त होते हैं, इसलिये इसके बोधक पूर्व श्लोक में अनावृत्ति शब्द कथन किया गया है कि उस में वार२ आवृत्ति नहीं करनी पड़ती, जब पुरुष परमात्मा के योग से निष्पाप होजाता है फिर उसको "आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि जपयज्ञ की आवृत्ति नहीं करनी पड़ती अर्थात् ऐसे दिव्यज्ञान की अवस्था में उसका प्रयाण हुआ कि वह मुक्त होगया है, इसलिये उस आवृत्ति की आवश्यकता नहीं ॥

सं०—अब आवृत्ति वाले केवल कर्मी की दशा कथन करते हैं:—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चाद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥ २५ ॥

पद०—धूमः । रात्रिः । तथा । कृष्णः । षण्मासाः । दक्षिणायनं । तत्र । चान्द्रमसं । ज्योतिः । योगी । प्राप्य । निवर्त्तते ।

पदा०—(धूमः, रात्रिः) जिस दशा में धूम का रात्रि के समान अन्धकार (तथा, कृष्णः) और कृष्णपक्ष है (षण्मासाः, दक्षिणायनं) छ मास का दक्षिणायन होने पर जहां दिव्य ज्योति की मन्दता रहती है (तत्र) उस दशा में प्रयाण किया हुआ (योगी) कर्मी (चन्द्रमसं,

ज्योतिः, प्राप्य) चन्द्रमा के समान जो आह्लादक ज्योति है उसको प्राप्त होकर (निवर्त्तते) पुनरावर्त्तते=पुनः२ आवृत्ति करता है ॥

भाष्य-इस श्लोक का आशय यह है कि केवल कर्मकाल में जो योगी प्रयाण करता है वह धूम, रात्रि तथा कृष्णपक्ष के समान अज्ञानरूप अन्धकार को प्राप्त होता है, जैसाकि दक्षिणायन समय में उत्तर ध्रुव के समीप घोर अन्धकार रहता है, ऐसे समय में केवल कर्मानुष्ठानी योगी भोगरूप आनन्दों को प्राप्त होता है, "चान्द्रमसं ज्योति" के यहां चदि= आह्लादने से आह्लाद के अर्थ लिये जाते हैं अर्थात् ऐसा योगी बार २ कर्मों की आवृत्ति करता है ॥

सं०-अब कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग का उपसंहार करते हैं:—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्त्तते पुनः ॥ २६ ॥

पद०-शुक्लकृष्णे । गती । हि । एते । जगतः । शाश्वते । मते । एकया । याति । अनावृत्तिं । अन्यया । आवर्त्तते । । पुनः ॥

पदा०-(हि) निश्चयकरके (एते) यह (शुक्लकृष्णे, गती) शुक्ल-कृष्णगति (जगतः) जगत् की (शाश्वते, मते) निरन्तर मानी गई है (एकया) एक ज्ञानगति से (अनावृत्तिं) मुक्ति को (याति) प्राप्त होता और (अन्यया) दूसरा केवल कर्मगति से (पुनः) फिर (आवर्त्तते) कर्मों का आवर्त्तन करता है अर्थात् बार २ उपासनारूप कर्मों का अभ्यास करता है ॥

सं०-ननु, योगी के अर्थ तो पीछे यह कर आये हो कि वह कभी नाश नहीं होता और यहां आकर यह कथन करदिया कि **"योगीप्राप्यनिवर्त्तते"**=योगी प्राप्त होकर फिर निवृत्त होजाता है ? उत्तर—**"शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते"** गी० ६।४१ इस श्लोक में यह कथन किया है कि योग से गिरा हुआ पुरुष भी असद्गति को प्राप्त नहीं होता अर्थात् श्रीमानों के घर में जन्म लेता है, इसी आशय से आगे दो श्लोकों में योगियों का महत्व वर्णन करते हैं कि:—

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

पद०-न । एते । सृती । पार्थ । जानन् । योगी । मुह्यति । कश्चन । तस्मात् । सर्वेषु । कालेषु । योगयुक्तः । भव । अर्जुन ॥

पदा०-हे पार्थ ! (एते) इन दोनों (सृती) मार्गों को (जानन्) जानता हुआ (कश्चन, योगी) कोई योगी (न, मुह्यति) मोह को प्राप्त नहीं होता (तस्मात्) इसलिये (सर्वेषु, कालेषु) सब दशाओं में हे अर्जुन ! तू (योगयुक्तः, भव) योगयुक्त हो अर्थात् योग का अनुष्ठान कर ॥

भाष्य-उक्त देवयान तथा पितृयाण अर्थात् ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार के मार्गों में से किसी एक मार्ग को भी जानता हुआ योगी मोह को प्राप्त नहीं होता, यह वही आशय है जिसको " नेहाभिक्रमनाशोस्ति प्रत्यवायो न विद्यते " गी० २ । ४० इत्यादि श्लोकों में वर्णन कर आये हैं कि योग के अंशमात्र का भी नाश नहीं होता ॥

सं०-अब योग के महत्व का वर्णन करते हुए योगी का परम स्थान ब्रह्माक्षर निरूपण करके इस ब्रह्माक्षराध्याय का उपसंहार करते हैं:-

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

पद०-वेदेषु । यज्ञेषु । तपःसु । च । एव । दानेषु । यत् । पुण्यफलं । प्रदिष्टं । अत्येति । तत् । सर्वं । इदं । विदित्वा । योगी । परं । स्थानं । उपैति । च । आद्यं ।

पदा०-(वेदेषु) वेदों में (यज्ञेषु) यज्ञों में (च) और (तपःसु) तपों में तथा (दानेषु) दानों में (एव) निश्चयकरके (यत्) जो (पुण्यफलं) पुण्य का फल (प्रदिष्टं) कथन किया है (इदं, विदित्वा, योगी) इस अक्षर ब्रह्म को जानकर योगी (तत्, सर्वं) उस सम्पूर्ण फल को (अत्येति) उल्लंघन कर जाता है अर्थात् वह सब फल इसके लिये तुच्छ हैं (च) और वह योगी (आद्यं) सब का आदिरूप (परं, स्थानं) परमस्थान जो ब्रह्माक्षर है उसको (उपैति) प्राप्त होता है ॥

भाष्य—" उपैति " शब्द के अर्थ यहां ब्रह्म के साथ तद्धर्मतापत्तिरूप योग के हैं, जैसाकि " निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति " मु० २ । ३ इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है, यदि यहां कृष्णजी का अपने आप को ब्रह्मबोधन करने का तात्पर्य्य होता तो इस ब्रह्म नामाध्याय के अन्त में अपने आपको अक्षर = ब्रह्मरूप से अवश्य वर्णन करते, और जो योगी के लिये एकमात्र " आद्यस्थान " उपदेश किया है उसको भी अपने आपसे वर्णन करते, यहां कृष्णजी का आद्यस्थान को अपने आप से भिन्न निर्देश करना " मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते " इत्यादि सब संदिग्ध वाक्यों को स्पष्ट करदेता है अर्थात् वहां भी अस्मच्छब्द का तात्पर्य्य अपने मन्तव्य के अभिप्राय से है, जैसाकि " तद्धाम परमं मम " इस श्लोक में कृष्णजी ने परमात्मा को अपना निजधाम कहकर बोधन किया है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीता योगप्रदीपार्य्यभाष्ये, विज्ञानयोगोनाम अष्टमोऽध्यायः

अथ नवमोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०-पूर्व ब्रह्माक्षराध्याय में उस अक्षर ब्रह्म की अनन्यभक्ति * वर्णन कीगई, जैसाकि " पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया " गी० ८। २२ इत्यादि श्लोकों में एकमात्र उसी पुरुष को उपास्य माना है, इस प्रकार उपास्य उपासकभाव कथन करके अब " अहंग्रह "=आत्मत्वेन उपासना इस अध्याय में कथन करते हैं:—

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

पद०-इदं । तु । ते । गुह्यतमं । प्रवक्ष्यामि । अनसूयवे । ज्ञानं । विज्ञानसहितं । यत् । ज्ञात्वा । मोक्ष्यसे । अशुभात् ॥

पदा०-(ते, अनसूयवे) तुम जो निन्दा से रहित हो तुम्हारे लिये (इदं) ये (गुह्यतमं) गोपनीय (ज्ञानं) ज्ञान (प्रवक्ष्यामि) कथन करता हूं, (विज्ञानसहितं) जो अनुष्ठानार्ह है (यत्, ज्ञात्वा) जिसको जानकर तुम (अशुभात्) बुरे कर्मों से (मोक्ष्यसे) छूट जाओगे ॥

भाष्य—इस श्लोक में विज्ञान सहित ज्ञान कथन करके यह बोधन किया है कि यह ज्ञान केवल ज्ञानरूप ही नहीं किन्तु अनुष्ठानरूप भी है और वह अनुष्ठान भी ऐसा कि जिसको "सिद्धि" शब्द से कथन किया गया है, जैसाकि "जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः" यो० ४।१ जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि इनसे सिद्धियें प्राप्त होती हैं, यह वह सिद्धि है जिसको समाधि की सिद्धि कहा जाता है, इसलिये ज्ञान को विज्ञान का विशेषण दिया है, यह वह ज्ञान है जिसका अनुष्ठान करके आवृत्तिरूप भक्ति से विना ही पुरुष अशुभ कर्मों से छूटकर परमात्मा का साक्षात्कार करता है ॥

---

* जिस भक्ति का परमात्मा से भिन्न कोई अन्य विषय न हो उसको "अनन्यभक्ति" कहते हैं ।

सं०-ननु, सप्तमाध्याय में भी इस विज्ञानयोग का वर्णन किया गया है फिर यहां क्या विशेषता ? उत्तरः—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

पद०-राजविद्या । राजगुह्यं । पवित्रं । इदं । उत्तमं । प्रत्यक्षावगमं । धर्म्यं । सुसुखं । कर्तुं । अव्ययं ॥

पदा०-(इदं) यह ज्ञान (राजविद्या) सब विद्याओं का राजा (राजगुह्यं) सब रहस्यों का राजा (पवित्रं) पवित्र (उत्तमं) उत्तम और (प्रत्यक्षावगमं) प्रत्यक्ष से जाना जाता है (धर्म्यं) धर्मपूर्वक (सुसुखं, कर्तुं) सुखपूर्वक किया जाता और (अव्ययं) विकार से रहित है ॥

भाष्य-जिससे तत्वज्ञान की प्राप्ति हो उसको " विद्या " कहते हैं, यह वह विज्ञान है जो सब विद्याओं का राजा है, क्योंकि यह विज्ञान परमात्मरूप परमतत्व की प्राप्ति कराता है, संसार में जितने रहस्य हैं उन सबको जान लेना सुकर और इसका जानना अति दुष्कर है, इसीलिये इसको सब गुह्यों का राजा कहा है, और प्रत्यक्ष का विषय इसको इसलिये कहा है कि इस ईश्वरीय योगरूप विज्ञान से ईश्वर का साक्षात्कार=अपरोक्ष ज्ञान होजाता है, अधिक क्या, इस अभेदोपासनारूप योग का करना धर्म है, सातवें अध्याय में विज्ञानयोग का कथन और यहां अभेदोपासना द्वारा उसके साक्षात्कार करने का वर्णन होने से दोनों अध्यायों में भेद है ॥

सं०-जब यह योग ऐसा श्रेष्ठ है तो फिर सब लोग इसका धारण क्यों नहीं करते ? उत्तरः—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

पद०-अश्रद्दधानाः । पुरुषाः । धर्मस्य । अस्य । परंतप । अप्राप्य । मां । निवर्त्तन्ते । मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥

पदा०-(परंतप) हे अर्जुन ! (अस्य, धर्मस्य, अश्रद्दधानाः) इस धर्म की श्रद्धा से रहित पुरुष (मां, अप्राप्य) मुझको प्राप्त न

होकर (मृत्युसंसारवर्त्मनि) मृत्युरूप संसार के मार्ग में (निवर्त्तन्ते) पड़जाते हैं ॥

भाष्य—अश्रद्धालु पुरुष कृष्णजी के ईश्वरसम्बन्धि योग के तत्व को न समझकर सब विद्याओं का राजा जो यह योग है इसमें श्रद्धा नहीं करते, इसलिये वह इस मार्ग में चलने के अधिकारी नहीं होते ॥

सं०-ननु. वह कृष्णजी का ईश्वरसम्बन्धि योग क्या है जिसके तत्व को साधारण लोग नहीं समझते ? उत्तरः—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

पद०—मया । ततं । इदं । सर्वं । जगत् । अव्यक्तमूर्त्तिना । मत्स्थानि । सर्वभूतानि । न । च । अहं । तेषु । अवस्थितः ॥

पदा०-(इदं) यह (सर्वं) सम्पूर्ण (जगत्) संसार (अव्यक्तमूर्तिना) निराकाररूप से (मया) मैंने (ततं) विस्तृत किया है (सर्वभूतानि) संसार के पृथिवी आदि सब भूत (मत्स्थानि) मेरे में स्थिर हैं (च) और (अहं) मैं (तेषु) उनमें (न, अवस्थितः) स्थिर नहीं अर्थात् मैं उनके आश्रित नहीं ॥

भाष्य—कृष्णजी का ईश्वर सम्बन्धि वह योग है जिसको "य आत्मनितिष्ठन् आत्मनोऽन्तरोयमात्मानवेदयस्यात्माशरीरम्" बृहदा० ३ । ७ । २२ इत्यादि अन्तर्यामी ब्राह्मण में उस अन्तर्यामी पुरुष का जीवात्मा के साथ शरीरशरीरीभाव सम्बन्ध वर्णन किया गया हैं, इस भाव से कृष्णजी अपने आपको परमात्मा की विभूति समझकर उस अन्तर्यामी में तद्धर्मतापत्ति से आत्मभाव धारण करके यह कथन करते हैं कि मैंने इस सब संसार को बनाया है, इस ईश्वरीय योग को साधारण पुरुष नहीं समझते, केवल साधारण योगशक्ति से कृष्णजी ने यह अपूर्व अर्थ प्रतिपादन नहीं किया किन्तु ईश्वर के साथ अभेदोपासना द्वारा उक्त प्रकार का योग रखते हुए यह अर्थ प्रतिपादन किया है, और अन्य कई एक ऋषियों ने भी यह प्रतिज्ञा की है, जैसाकि हम इन्द्रप्रतर्दनाधिकरण में "प्राणस्तथानुगमात्" ब्र० सू० १ । १ । २८ सूत्र लिखकर

चतुर्थाध्याय में दिखला आये हैं कि "इन्द्र" ने जो अपने आपको प्राणरूप से कथन करके यह कहा है कि तुम मेरी उपासना करो, वह यही ऐश्वर योग था, फिर वामदेव ने बृहदा० १।४।१० में कहा है कि जो २ देवों में जागा वह परमात्मा की अभेदोपासना करके अपने आपको परमात्मत्वेन निर्देश करने लगा, और इसी अर्थ को "सत्वपुरुषान्यथाख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च" यो० ३।४८ में इस प्रकार वर्णन किया है कि जब प्रकृति और परमात्मा का तत्वज्ञान होजाता है, तब सब भावों का अधिष्ठातापन और ज्ञातापन उस पुरुष में होजाता है, इसी का नाम सिद्धि है, कृष्णजी इस प्रकार की योगसिद्धि को प्राप्त थे, इसलिये उन्होंने अपने आपको ईश्वरभाव से कथन किया है ॥

सं०-ननु, यह सब तुम अपनी कल्पना से लगाते हो, ऐसा ईश्वरीय योग गीता में कहीं वर्णन नहीं किया गया ? उत्तरः—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

पद०—न । च । मत्स्थानि । भूतानि । पश्य । मे । योगं । ऐश्वरं । भूतभृत् । न । च । भूतस्थः । मम । आत्मा । भूतभावनः ॥

पदा०—(मत्स्थानि, भूतानि, न, च) मेरे में भूत स्थिर नहीं (न, च, भूतभृत्) न मैं सब प्राणियों का भरण पोषण करने वाला हूं (मे) मेरा (योगं) योग (ऐश्वरं) "ईश्वरेभवः ऐश्वरः, तं ऐश्वरं योगं" = ईश्वर में जो हो उसको "ऐश्वर" कहते हैं, उस ऐश्वर योग को तू (पश्य) देख (मम, आत्मा) मेरा आत्मा (भूतभावनः) भूतों का संकल्प करने वाला है ॥

भाष्य—इस श्लोक में जो कृष्णजी का ईश्वर के साथ योग था उसको "पश्य मे योगमैश्वरम्" यह कथन करके स्पष्ट कर दिया कि मेरा ईश्वर के साथ ऐसा योग है जिससे मैं सब भूतों का कर्त्ता न होकर भी उनके करने का अभिमान करसक्ता हूं, यह कृष्णजी का ईश्वर के साथ

अद्भुत योग था जिसको साधारण पुरुष नहीं समझते, उक्त दोनों श्लोकों के अर्थ मायावादी टीकाकारों ने रज्जु सर्पादिकों के समान कल्पित ब्रह्माण्ड के कर्त्ता होने के किये हैं और स्वयं यह आशङ्का करके कि परिच्छिन्न एकदेशी कृष्ण ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों को कैसे रचा ? इसका उत्तर यह दिया है कि "अव्यक्तमूर्त्तिना"=निराकाररूप से ब्रह्माण्डों को रचा, जब यह जगत् उनके मत में कल्पित है तो फिर निराकार कर्त्ता की निराली कल्पना क्यों कीजाती है ? अनित्य शरीरधारी कृष्ण का निखिल ब्रह्माण्डों का कर्त्ता होना प्रत्यक्ष से विरुद्ध है, इस बात के मार्जन करने की आवश्यकता तो उनको है जिनके मत में रज्जु सर्पादिकों के समान यह सब संसार अज्ञानमात्र है, उनके मत में कल्पित कृष्ण को निराकार ईश्वर बनाकर संसार का यथायोग्य कर्त्ता कथन करने से क्या लाभ ॥

ननु-तुम्हारे मत में जो ईश्वर के साथ योग होने से कृष्णजी अपने आपको सब जगत् का कर्त्ता कथन करते हैं यह भी तो एक आरोप मात्र है ठीक नहीं ? उत्तर—कृष्णजी में इस ईश्वरीय योग की योग्यता होने से हमारा अर्थ तो ठीक है पर ईश्वर का जन्म मानने वाले लोगों के मत में कृष्णजी किसी रूप से भी जगत् का कर्ता नहीं होसक्ते, चतुर्भुजरूप से तो इसलिये जगत् का कर्त्ता नहीं होसक्ते कि वह रूप परिच्छिन्न है, यदि यह कहाजाय कि अव्यक्तमूर्ति से कर्त्ता हैं तो तुमको कृष्ण के कर्त्तापन को प्रतिपादन करने वाले सब श्लोकों के अर्थ छोड़ने पड़ेंगे और गौणीवृत्ति से "सिंहोमाणवकः"=यह पुरुष सिंह है, इस अर्थ के समान उपचार मानना पड़ेगा, तुम्हारे उपचाररूप अर्थ की अपेक्षा जो हम आत्मत्वोपासना के भाव से उन श्लोकों को लापन करते हैं तो क्या दोष अर्थात कुछ दोष नहीं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

पद०—यथा । आकाशस्थितः । नित्यं । वायुः । सर्वत्रगः । महान् ।

तथा। सर्वाणि। भूतानि। मत्स्थानि। इति। उपधारय॥

पदा०-(यथा) जिस प्रकार (आकाशस्थितः, वायुः) आकाश में स्थिर वायु (नित्यं, सर्वत्रगः) सदा सब स्थानों में फैलजाता है (तथा) इसी प्रकार (सर्वाणि, भूतानि) सब भूत (मत्स्थानि) मेरे में स्थिर होकर महान् होजाते हैं (इति, उपधारय) तू ऐसा निश्चय कर॥

भाष्य-इस श्लोक में कृष्णजी अपने आपको वायुस्थानीय वर्णन करते हैं कि जिसप्रकार आकाश के अवकाश को पाकर वायु फैलजाता और अल्प से महान् होजाता है, एवं मैं परमात्मा के महान् स्वरूप को पाकर महान् होगया हूं, यह सब प्राणीजात मेरे में हैं, यह भाव उपनिषदों के इन वाक्यों से लिया गया है, जैसाकि "शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढः" बृहदा० ४। ३। ३५ "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" मुण्डक० ३। २। ३ इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है कि (१) यह जीवात्मा उस प्रज्ञात्मा परमात्मा को आश्रय करके सब भुवनों को देखता है (२) यह जीव अविद्या से रहित होकर परम समता को प्राप्त होता है, अधिक क्या, परमात्मा से मिलकर ही यह जीवात्मा महान् भावों को प्राप्त होता है, इसी प्रकार परमात्मा के भावों को धारण करके कृष्णजी अपने को जगत् का कर्त्ता कथन करते हैं, जैसाकिः—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

पद०-सर्वभूतानि। कौन्तेय। प्रकृतिं। यान्ति। मामिकां। कल्पक्षये। पुनः। तानि। कल्पादौ। विसृजामि। अहं॥

पदा०-हे कौन्तेय! (कल्पक्षये) प्रलयकाल में (सर्वभूतानि) यह सब भूत (मामिकां) मेरी (प्रकृतिं) प्रकृति को (यान्ति) प्राप्त होते हैं, और (कल्पादौ) उत्पत्तिरूप कल्प के आदि में (तानि) उन सब भूतों को (अहं) मैं (पुनः) फिर (विसृजामि) रचता हूं॥

भाष्य-यहां प्रकृति के वही अर्थ हैं जो "भिन्नाप्रकृतिरष्टधा" गी० ७। ४ में वर्णन कर आये हैं परन्तु अद्वैतवादी यहां फिर अपनी अनिर्वचनीय माया के अर्थ करते हैं जो सर्वथा विरुद्ध हैं॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

पद०-प्रकृतिं । स्वां । अवष्टभ्य । विसृजामि । पुनः । पुनः । भूतग्रामं । इमं । कृत्स्नं । अवशं । प्रकृतेः । वशात् ॥

पदा०-(प्रकृतिं, स्वां, अवष्टभ्य) अपनी आठ प्रकार की प्रकृति को आश्रय करके (इमं, कृत्स्नं) इन भूतों के समुदाय=प्राणीवर्ग और (अवशं) पराधीन भूत समुदाय को मैं (पुनः, पुनः) वारंवार (प्रकृतेः वशात्) प्रकृतिरूप उपादान कारण से (विसृजामि) बनाता=रचता हूं ॥

भाष्य-यहां भी प्रकृति के वही अर्थ हैं जो पूर्व कर आये हैं, "प्रकृतेः वशात्" इस कथन से यह बात स्पष्ट होगई कि इस कार्य्यमात्र का प्रकृति उपादान कारण है, इसी अभिप्राय से उक्त शब्द कहा गया है, मायावादी लोग यहां प्रकृति के अर्थ अपनी अनिर्वचनीय माया के करते हैं पर वास्तव में इसके अर्थ यहां उपादान कारण प्रकृति के हैं यदि इसके अर्थ माया के होते तो यह न कहा जाता कि अपनी प्रकृति को आश्रय करके संसार को रचता हूं, क्योंकि मायावादियों की माया अपने आवरण और विक्षेपशक्ति से उलटा ब्रह्म को वश करलेती है फिर ब्रह्म के अधीन होने की तो कथा ही क्या, और गीता में ईश्वर की सर्वथा स्वतन्त्रता वर्णन कीगई है, जैसाकिः—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

पद०-न । च । मां । तानि । कर्माणि । निबध्नन्ति । धनंजय । उदासीनवत् । आसीनं । असक्तं । तेषु । कर्मसु ॥

पदा०-हे धनंजय ! (तानि, कर्माणि) सृष्टि की रचनारूप कर्म (मां) मुझको (न, निबध्नन्ति) नहीं बांधते, मैं कैसा हूं (उदासीनवत्) उदासीन पुरुष के समान (तेषु, कर्मसु) उन कर्मों में (असक्तं) संग रहित (आसीनं) स्थिर हूं ॥

भाष्य-इस श्लोक के "उदासीन" और "असक्त" शब्दों से स्पष्ट पायाजाता है कि ईश्वर इन मायावादियों की माया के बन्धन में

कदापि नहीं आता, यदि मायावादियों की मोहिनी माया परमात्मा के मोह का कारण होती तो इस श्लोक में उसको तटस्थ कदापि वर्णन न किया जाता, तटस्थ वर्णन करने से यह भी स्पष्ट है कि परमेश्वर को केवल निमित्तकारण कथन किया गया है, मायावादी उक्त "उदासीन" शब्द के यह अर्थ करते हैं कि यह सृष्टि स्वप्नसृष्टि के समान मिथ्याभूत है, इसलिये इस सृष्टि के कर्म उसके बन्धन का हेतु नहीं होते, और "भूतग्रामंसृजामि" तथा "उदासीनवदासीनं" इन दोनों वाक्यों का विरोध इस प्रकार मिटाया है कि मिथ्या माया को आश्रय करके ही कर्तृत्व है वास्तव में परमात्मा उदासीन है, इसी अभिप्राय से माया के वशीभूत होने से संसार को रचता है, यह व्यवस्था की है, यह अर्थ इसलिये ठीक नहीं कि आगे के श्लोक में फिर अपने आपको प्रकृति का अध्यक्ष कथन किया है जिससे परमात्मा की निमित्तकारणता पाई जाती है, इनकी माया की प्रबलता उसमें अंशमात्र भी नहीं पाई जाती, देखोः—

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥ १० ॥

पद०—मया । अध्यक्षेण । प्रकृतिः । सूयते । सचराचरं । हेतुना । अनेन । कौन्तेय । जगत् । विपरिवर्त्तते ॥

पदा०—हे कौन्तेय ! (मया, अध्यक्षेण) मेरे अध्यक्ष होने के कारण (प्रकृतिः) जगत् का उपादानकारणरूप जो प्रकृति है वह (सचराचरं, जगत्) इस चराचर जगत् को (सूयते) उत्पन्न करती है (अनेन, हेतुना) इस कारण यह जगत् (विपरिवर्तते) नाना प्रकार से उत्पन्न होता है ॥

भाष्य—यदि इस श्लोक का यह आशय होता कि माया के वशीभूत होकर ईश्वर संसार का कर्त्ता है तो मायावादियों का यह अभीष्ट सिद्ध होजाता कि वास्तव में परमात्मा उदासीन है केवल माया के वशीभूत होकर संसार में फसता है परन्तु इस श्लोक में तो यह बात स्पष्ट पाई जाती है कि परमात्मा सृष्टि का निमित्तकारण और प्रकृति उपादानकारण है, इसलिये "उदासीन" शब्द निमित्तकारणता के अभिप्राय से और

"विसृजामि" प्रकृति की विविध प्रकार की रचना करने के अभिप्राय से आया है, इसलिये कोई विरोध नहीं ॥

सं०-यहां तक अभेदोपासना से कृष्णजी ने अपने आपको परमात्मा स्थानीय कथन किया, अब अपने उस अभेदोपासनारूप परमभाव की अगाधता वर्णन करते हुए अपने विषयक अज्ञानी जनों की दृष्टि कथन करते हैं:—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

पद०-अवजानन्ति । मां । मूढाः । मानुषीं । तनुं । आश्रितं । परं । भावं । अजानन्तः । मम । भूतमहेश्वरं ।

पदा०-(मूढ.:) मूर्ख लोग (मां) मुझको (मानुषीं, तनुं, आश्रितं) मनुष्य का शरीर धारण किया हुआ समझकर(मम, परं, भावं, अजानन्तः) मेरे परमभाव को न जानते हुए (अवजानन्ति) अवज्ञा करते हैं, वह मेरा परमभाव कैसा है (भूतमहेश्वरं) जो सब प्राणियों से बड़ा है ॥

भाष्य-इस श्लोक में कृष्णजी ने अपने तद्धर्मतापत्तिरूप परमभाव को कथन किया है पर ईश्वर का जन्म मानने वाले लोग इसके यह अर्थ करते हैं कि कृष्ण को परमेश्वर न जानते हुए उस समय के लोग जो उनकी अवज्ञा करते थे उनको कृष्णजी ने यहां मूढ़ कहा है, इन टीकाकारों के यह अर्थ यदि सत्य भी माने जायं तब भी कृष्ण का ईश्वरावतार होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उस समय के लोग कृष्ण को तभी मनुष्य=शरीरधारी जानते होंगे जब उनमें भौतिक शरीर के भाव होंगे, हमारे मत में तो इसके यह अर्थ हैं कि प्रकृति के तामस भावों वाले लोग उनके परमभाव के ज्ञाता नहीं हैं, इसलिये यह कथन किया है, और:—

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

पद०-मोघाशाः । मोघकर्माणः । मोघज्ञानाः । विचेतसः । राक्षसीं । आसुरीं । च । एव । प्रकृतिं । मोहिनीं । श्रिताः ॥

पदा०—हे अर्जुन ! (मोघाशाः) वह निष्फल आशा वाले (मोघकर्माणः) निष्फल कर्मों वाले (मोघज्ञानाः) निष्फल ज्ञान वाले और (विचेतसः) विचारहीन हैं (राक्षसीं, आसुरीं) राक्षसी आसुरी (च) और (मोहिनीं, प्रकृतिं) मोहिनी प्रकृति को (श्रिताः) आश्रय किये हुए हैं ॥

भाष्य—मेरे परमभाव को न जानने वाले लोग आसुरी प्रकृति के वशीभूत हैं अर्थात् उनमें वह ज्ञानचक्षु नहीं जिनसे आत्मतत्वोपासना के भावों को जानसकें, दैवीप्रकृति के भावों से विना परमात्मा के निष्पापादि धर्मों को धारण करने वाले उत्तम पुरुषों का ज्ञान कदापि नहीं होसक्ता ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजंत्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

पद०—महात्मानः । तु । मां । पार्थ । दैवीं । प्रकृतिं । आश्रिताः । भजन्ति । अनन्यमनसः । ज्ञात्वा । भूतादिं । अव्ययं ॥

पदा०—हे पार्थ ! (तु) निश्चय करके (दैवीं, प्रकृतिं, आश्रिताः) दैवी प्रकृति को आश्रय करने वाले (महात्मानः) महात्मा लोग (मां) मुझको (भूतादिं. ज्ञात्वा) जीवों में आदिभूत=मुख्य जानकर (अनन्यमनसः) एकाग्रचित्त हुए (भजन्ति) सेवन करते हैं, मैं कैसा हूं (अव्ययं) विकार रहित हूं ॥

भाष्य—इस श्लोक से भी परमभाव जानने का तात्पर्य पाया जाता है, भूतों का आदि होना उस परमात्मा की अभेदोपासना के अभिप्राय से कथन किया है ॥

सततं कीर्तयंतो मां यतंतश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

पद०—सततं । कीर्त्तयन्तः । मां । यतन्तः । च । दृढव्रताः । नमस्यन्तः । च । मां । भक्त्या । नित्ययुक्ताः । उपासते ॥

पदा०—(सततं) सदा (कीर्तयन्तः) गान करते हुए (च) और (मां) मुझको प्राप्त होने का (यतन्तः) यत्न करते हुए (दृढ़व्रताः) दृढ़व्रतधारी (नमस्यन्तः) नमस्कार करते हुए (मां, भक्त्या, नित्ययुक्ताः, उपासते) मेरी भक्ति से योग के नियमों में लगे हुए उपासना करते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में "नित्ययुक्ताः" शब्द के अर्थ योगयुक्त के हैं और

वह योग श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप है, श्रुति वाक्यों से सुनने का नाम "श्रवण" युक्तिपूर्वक सत्यासत्य के विवेक करने का नाम "मनन" और उक्त रीति से श्रवण, मनन किये हुए पदार्थ का वारंवार चिन्तन करने का नाम "निदिध्यासन" है, यह तीनों साधन निराकार के ध्यानार्थ ही बनसक्ते हैं साकार के लिये नहीं, इससे पायाजाता है कि कृष्णजी उक्त श्लोकों में अपना ध्यान नहीं वतलाते किन्तु परमात्मा का बतलाते हैं, देखो :—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजंतो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

पद०—ज्ञानयज्ञेन । च । अपि । अन्ये । यजन्तः । मां । उपासते । एकत्वेन । पृथक्त्वेन । बहुधा । विश्वतोमुखं ॥

पदा०—(मां) मेरा (ज्ञानयज्ञेन, यजन्तः) ज्ञानयज्ञ से पूजन करते हुए (अन्ये) कई एक लोग (एकत्वेन) एकत्वरूप से (उपासते) उपासना करते हैं (अपि, च) और (पृथक्त्वेन) पृथक्रूप से (बहुधा, विश्वतोमुखं) बहुत प्रकार से, जो मैं सर्वत्र सर्वसामर्थ्य वाला हूं मेरी उपासना करते हैं ॥

भाष्य—"ज्ञानयज्ञ" के यहां वही अर्थ हैं जो चतुर्थाध्याय में निरूपण कर आये हैं, "एकत्व" से तात्पर्य्य यह है कि "अहंवैत्वमसि-भगवोदेवतेत्वंवा अहमस्मि" इस प्रकार अभेदोपासना का नाम एकत्वोपासना और "पृथक्त्व" से यह तात्पर्य्य है कि जो मुझे भिन्न समझकर उपासना करते हैं, जैसाकि "यदापश्यपश्यतेरुक्मवर्णं" मुण्डक० ३।१।३ इत्यादिकों में भिन्न समझकर उपासना कीगई है, और "सर्वात्मवाद" की उपासना यह है कि "विश्वतोचक्षुरुतविश्वतोमुखः" यजु०१७।१९ इत्यादि मन्त्रों से सर्वत्र मुखादि अवयवों का सामर्थ्य मानकर परमात्मा उपास्य समझा गया है, इस श्लोक के ज्ञानयज्ञादि शब्दों से पाया गया कि कृष्णजी यहां अपनी उपासना नहीं वतलाते किन्तु उस परमदेव को उपास्य कथन करते हैं जो सर्वशक्तिमान् है, अन्य प्रमाण यह

है कि यहां अद्वैतवादी टीकाकारों ने भी "अहंग्रह" उपासना अर्थात् आत्मत्वेन उपासना मानी है, जैसाकि आगे के श्लोक में स्पष्ट है:—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

पद०—अहं । क्रतुः । अहं । यज्ञः । स्वधा । अहं । अहं । औषधं । मन्त्रः । अहं । अहं । एव । आज्यं । अहं । अग्निः । अहं । हुतं ॥

पदा०—(अहं, क्रतुः) मैं संकल्प हूं (अहं, यज्ञः) मैं यज्ञ हूं (अहं, स्वधा) मैं स्वधा हूं, मैं औषध हूं, मैं मन्त्र हूं, मैं आज्य = घृत हूं, मैं अग्नि हूं (अहं, हुतं) मैं हवन हूं ॥

भाष्य—"क्रतु" नाम संकल्प का है, "यज्ञ" शब्द के अर्थ चतुर्थाध्याय में वर्णन किये गये हैं, स्वधा, अन्न, औषध और मन्त्रादि शब्दों के अर्थ प्रसिद्ध हैं, यहां इन सब पदार्थों का कथन आत्मत्वेन उपासना के अभिप्राय से आया है अर्थात् यज्ञादि जितने पदार्थ इस श्लोक में वर्णन किये गये हैं वह सब परमात्मा के सामर्थ्य में हैं, उस परमात्मा को अपना आप कथन करते हुए कृष्णजी यहां "अहं" शब्द का प्रयोग करते हैं, इसी का नाम शास्त्र में "अहंग्रह" उपासना है और यह उपासना इन श्लोकों में वर्णन कीगई है ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्सामयजुरेव च ॥ १७ ॥

पद०—पिता । अहं । अस्य । जगतः । माता । धाता । पितामहः । वेद्यं । पवित्रं । ओंकारः । ऋग् । साम । यजुः । एव । च ॥

पदा०—हे अर्जुन ! (अस्य, जगतः) इस जगत् का (अहं) मैं पिता हूं तथा माता, धाता=धारण करने वाला और पितामह हूं (वेद्यं, पवित्रं, ओंकारः) जानने योग्य जो पवित्र ओंकार वह मैं हूं (च) और ऋग्, साम, यजुः (एव) निश्चय करके मैं हूं ॥

भाष्य—इस जगत् के पितादि सब भाव कृष्णजी ने अपने आपको कथन करके यह बोधन किया है कि परमात्मा से भिन्न इस जगत् का

अधिकरण कोई नहीं और पवित्र ओंकार तथा ऋगादि वेद सब परमात्मा के आश्रित हैं, फिर वह परमात्मा कैसा है:—

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

पद०—गतिः । भर्ता । प्रभुः । साक्षी । निवासः । शरणं । सुहृत् । प्रभवः । प्रलयः । स्थानं । निधानं । बीजं । अव्ययं ॥

पदा०—हे अर्जुन ! मैं इस जगत् की गति, भर्ता, प्रभु और साक्षी हूं (निवासः) निवास स्थान हूं, शरण हूं, सुहृद् हूं (प्रभवः) उत्पत्ति (प्रलयः) विनाश का स्थान हूं (निधानं) निधि=कोष हूं (बीजं) उत्पत्ति का कारण हूं (अव्ययं) विनाश रहित हूं ॥

भाष्य—यहां "गति" आदि सब कुछ अपने आपको वर्णन करके यह सिद्ध किया है कि परमात्मा की सत्ता स्फुरति से विना इस संसार में गतिगमनादि भाव उत्पन्न नहीं होसक्ते ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

पद०—तपामि । अहं । अहं । वर्षं । निगृह्णामि । उत्सृजामि । च । अमृतं । च । एव । मृत्युः । च । सत् । असत् । च । अहं । अर्जुन ॥

पदा०—हे अर्जुन ! (अहं, तपामि) मैं तपाता हूं (अहं, वर्षं) मैं वर्षा हूं (निगृह्णामि) मैं ग्रहण करता (उत्सृजामि) छोड़ता हूं (च) और (एव) निश्चयकरके (अमृतं, मृत्युः) अमृत और मृत्यु (च) तथा (सत्, असत्) सत्, असत् (अहं) मैं हूं ॥

भाष्य—इस श्लोक में तपाना, वर्षना, ग्रहण करना, छोड़ना, अमृत, मृत्यु, सत्य और असत्य इन सब धर्मों को जो परमेश्वर ने अपना आप कहा है यह कथन कई एक धर्मों के प्रेरक होने के अभिप्राय से और कई एक धर्मों का स्वयं धारणकर्त्ता होने के अभिप्राय से है, और यह योग्यतावश से प्रतीत होता है, जैसाकि तप्त और वृष्टि का परमात्मा प्रेरक होने से कर्त्ता है, ग्रहण और त्याग का सृष्टिकी उत्पत्ति तथा प्रलयकर्त्ता होने से स्वयं कर्त्ता है, अमृत और मृत्यु का दाता होने से कर्त्ता है, जैसाकि

"यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः" यजु० २५ । १३=जिसका आश्रयण करना अमृत और न मानना मृत्यु है, इस प्रकार मृत्यु और अमृत का दाता होने के अभिप्राय से वह कर्त्ता है (सत्) परिणामी नित्य प्रकृति और (असत्) प्रकृति के कार्य्य, इनका धारणकर्त्ता होने से कर्त्ता और प्रकृति के कार्य्यों का उत्पत्ति विनाश का कारण होने से कर्त्ता है, इसी अभिप्राय से अमृत, मृत्यु, सत्, असत् आदि परस्पर विरुद्ध धर्मों का परिहार किया गया है, अद्वैतवादियों के मतानुसार उक्त सब सत्यासत्यादि परस्पर विरोधी धर्म परमात्मा में होसक्ते हैं, जैसाकि "एतत्सर्वमहमेव हे अर्जुन ! तस्मात् सर्वात्मानं मां विदित्वा स्वस्वाधिकारानुसारेण बहुभिः प्रकारैर्मामेवोपासत इत्युपपन्नम्" गी० मधु०सू० भा० = हे अर्जुन ! (एतत्सर्वं) यह सब सत्यासत्यादि मैं ही हूं, इसलिये सर्वात्मरूप मुझको अपने २ अधिकारों के अनुसार जानकर बहुत प्रकारों से लोग मेरी ही उपासना करते हैं, क्योंकि इनके मत में सत्यादि धर्म जैसे ब्रह्म में कल्पित हैं इसी प्रकार असत्यतादि धर्म भी ब्रह्म में कल्पित हैं, इसलिये परस्पर विरोधी कल्पित धर्मों का आश्रय होने में कोई दोष नहीं, इस यह प्रकार ब्रह्म में अनित्यधर्म मानने के लिये उद्यत हैं पर मुक्ति की अनित्यता मानने के लिये तैयार नहीं, इसलिये इनके कईएक अद्वैतवादी टीकाकारों ने यह लिखा है कि सदसदादि सब कुछ ब्रह्म है, इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि सबका आत्मारूप परमेश्वर को जानकर अपने २ अधिकार के अनुसार उक्त बहुत प्रकारों से जो चिन्तन करते हैं वह मुझ परमेश्वर का ही चिन्तन करते हैं, इस प्रकार सबको ब्रह्म समझ२ कर उपासना करना इनके मत में "अहंग्रह" उपासना और एक२ को ब्रह्म समझकर उपासना करना प्रतीकोपासना है, उक्त उपासनायें इनके मत में अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा मुक्ति के साधन हैं पर जो यज्ञों द्वारा दिव्यगति को प्राप्त होना चाहते हैं वह यज्ञ इनके मत में मुक्ति के साधक नहीं, देखोः—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयंते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नंति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ।२०।

पद०-त्रैविद्याः । मां । सोमपाः । पूतपापाः । यज्ञैः । इष्ट्वा । स्वर्गतिं । प्रार्थयन्ते । ते । पुण्यं । आसाद्य । सुरेन्द्रलोकं । अश्नन्ति । दिव्यान् । दिवि । देवभोगान् ॥

पदा०-(त्रैविद्याः) कर्म, उपासना, ज्ञान इन तीनो विद्याओं को जानने वाले और (सोमपाः) जिन्होंने यज्ञ में सोमरस को पान किया है (पूतपापाः) जिनके पाप दूर होगये हैं वह (यज्ञैः) यज्ञों से (मां, इष्ट्वा) मेरा पूजन करके (स्वर्गतिं) स्वर्ग=सुख की गति को (प्रार्थयन्ते) प्रार्थना करते हैं (ते) वह पुरुष (पुण्यं) पवित्र (सुरेन्द्रलोकं, आसाद्य) सुरेन्द्रलोक को आश्रय करके (दिव्यान्) अति उज्वल (दिवि) उस प्रकाश लोक में (देवभोगान्) देवताओं के भोगों को (अश्नन्ति) भोगते हैं ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति।
एवं हि त्रैधर्म्यमनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभंते ॥२१॥

पद०-ते । तं । भुक्त्वा । स्वर्गलोकं । विशालं । क्षीणे । पुण्ये । मर्त्यलोकं । विशन्ति । एवं । हि । त्रधर्म्यं । अनुप्रपन्नाः । गतागतं । कामकामाः । लभन्ते ॥

पदा०-हे अर्जुन ! (ते) पूर्व श्लोक में कथन किये हुए वेदानुयायी पुरुष (तं, विशालं, स्वर्गलोकं, भुक्त्वा) उस विशाल = बड़े स्वर्गलोक को भोगते हुए (पुण्ये, क्षीणे) पुण्यों के क्षय होने पर (मर्त्यलोकं, विशन्ति) फिर इस मनुष्यलोक में आजाते हैं (एवं) इस प्रकार (हि) निश्चय करके (त्रैधर्म्यं) कर्म, उपासना, ज्ञान इन तीनों वैदिकधर्मों को (अनुप्रपन्नाः) प्राप्त हुए २ (कामकामाः) भोगों की कामना वाले (गतागतं, लभन्ते) गमनागमन को प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य-उक्त दोनो श्लोकों का यह आशय है कि वैदिककर्म, उपासना, ज्ञान इन तीनो धर्मों को मानने वाले जो वैदिकधर्म को प्राप्त हैं वह उस सुख को भोगकर जिसका नाम दिव्यसुख है फिर संसार में आजाते हैं, यही सुख मुक्ति सुख है और यह वैदिकधर्म से ही मिलता है जिसका वर्णन "संकल्पादेव तु तच्छ्रुते" ब्र० सू० ४ । ४ । ८ में किया गया है, और

"यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्यसङ्कल्पादेवसमुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते" छा० ८।२।१०=
मुक्ति को प्राप्त पुरुष जहां तक कामना करता है वह कामनायें उसके सङ्कल्प से ही सिद्ध होजाती हैं, इसलिये वह सिद्धसङ्कल्प मुक्ति अवस्था में पवित्र होता है, "भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्" ब्र० सू० ४।४।११ इस सूत्र में मुक्ति अवस्था में सङ्कल्पों का वर्णन किया गया है, इससे पाया जाता है कि मुक्त पुरुष पाषाणकल्प निस्सङ्कल्प नहीं होता और नाही हतैश्वर्य्य होता है अर्थात् परमात्मा के धर्मों के धारण करने से उसमें परमैश्वर्य्य पाया जाता है, इस प्रकार मुक्त के ऐश्वर्य्य का उक्त दोनो श्लोकों में वर्णन है, वह मुक्तपुरुष उस सुखविशेष को भोगकर लौट आता है, इसलिये "क्षीणेपुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" यह कथन किया गया है, मायावादी लोग इन श्लोकों में स्वर्गविशेष की प्राप्ति मानते हैं, क्योंकि वेद इनके मत में अपराविद्या होने से स्वर्ग का है मुक्ति का नहीं, हम यह पूछते हैं कि यदि वेद केवल अपराविद्या ही था तो "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" यजु० ४०।७ इत्यादि मंत्रों में परमात्मा के एकत्व को प्रतिपादन करने वाले और उनके मत में सजातीय विजातीय, स्वगतभेदशून्यत्व को प्रतिपादन करने वाले केवल पराविद्या बोधक वाक्य कहां से आये, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि जैसे "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" यह वाक्य ब्रह्मज्ञान को मुक्ति का साधन कथन करता है एवं "त्रैधर्म्यमनुप्रपन्ना" यह वाक्य भी कर्मोपासना को ज्ञान द्वारा कथन करता है अथवा वेदत्रयी का जो धर्म उसको प्राप्त हुए लोग उक्त मुक्ति को भाव कथन करते हैं, और प्रमाण यह है कि यदि यह श्लोक साधारण कामनाओं का वर्णन करता तो आगे के श्लोक में केवल योगक्षेम वालों का वर्णन न होता किन्तु इससे किसी ऊंचे अर्थ का वर्णन होता, देखोः—

अनन्याश्चिन्तयंतो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ २२॥

पद०—अनन्याः । चिन्तयन्तः । मां । ये । जनाः । पर्युपासते । तेषां। नित्याभियुक्तानां । योगक्षेमं । वहामि । अहं ॥

पदा०—हे अर्जुन ! (ये, जनाः) जो पुरुष (अनन्याः, चिन्तयन्तः) किसी अन्य की भक्ति न करते हुए (मां) मेरी (पर्युपासते) उपासना करते हैं (तेषां) उन (नित्याभियुक्तानां) नित्य मेरे में जुड़े हुए लोगों की (योगक्षेमं) योग क्षेम को (अहं, वहामि) मैं प्राप्त करता हूं ॥

भाष्य—अद्वैतवादी इसकी सङ्गति यों लगाते हैं कि पूर्व के दो श्लोकों में सकाम पुरुष की गति कथन की, अब निष्काम पुरुष की गति कथन कीजाती है, और इस श्लोक में गति यह वर्णन की है कि जो परमात्मा को अपना आप समझलेता है उसको फिर संसार की प्राप्ति नहीं होती, यह इनका कथन ठीक नहीं, क्योंकि यहां संसार की गत्यागति के विषय में कुछ नहीं कहा, यहां तो केवल ईश्वरभक्तों के योग क्षेम के विषय में कहा है और वह योग क्षेम कोई बड़ी बात नहीं, अप्राप्त की प्राप्ति का नाम " योग " और प्राप्त की रक्षा का नाम " क्षेम " है, इस प्रकार का योग क्षेम पूर्वोक्त वैदिकधर्म को प्राप्त पुरुषों से कोई उच्चार्थ नहीं, यदि वैदिकधर्म को प्राप्त पुरुषों का दिव्य भोगरूप ऐश्वर्य्य छोटा समझा जाता तो इसके आगे के श्लोक में भी किसी बड़े अर्थ का वर्णन होता पर ऐसा नहीं, जैसाकि:—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजंत्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

पद०—ये । अपि । अन्यदेवताभक्ताः । यजन्ते । श्रद्धया । अन्विताः । ते । अपि । मां । एव । कौन्तेय । यजन्ति । अविधिपूर्वकं ॥

पदा०—हे कौन्तेय ! (ये) जो (अन्यदेवताभक्ताः, अपि) अन्य देवताओं के भक्त भी (श्रद्धया, अन्विताः, यजन्ते) श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं (ते, अपि) वह भी (मां, एव) मेरा ही (अविधिपूर्वकं) वेदविधि से अविहित (यजन्ते) पूजन करते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में अविधिपूर्वक पूजा करने वालों का कथन किया गया है अन्य किसी विशेषार्थ का प्रतिपादन नहीं,

और नाही किसी पूर्वोक्त अर्थ का खण्डन किया गया है किन्तु यह एक नया प्रकरण है जो यह सिद्ध करता है कि अविधिपूर्वक पूजा करने वाले भी यदि श्रद्धा का भाव रखते हैं तो वह उनकी श्रद्धा निष्फल नहीं ॥

सं०-ननु, यदि वेदविधि से हीन मिथ्याज्ञान से श्रद्धा कीहुई निष्फल नहीं तो तत्वज्ञान की क्या विशेषता ? उत्तरः—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्वेनातश्च्यवंति ते ॥ २४ ॥

पद०-अहं । हि । सर्वयज्ञानां । भोक्ता । च । प्रभुः । एव । च । न । तु । मां । अभिजानन्ति । तत्वेन । अतः । च्यवन्ति । ते ॥

पदा०-हे अर्जुन ! (सर्वयज्ञानां) सब यज्ञों का (भोक्ता) भोगने वाला (च) और (प्रभुः) स्वामी (अहं) मैं हूं (तत्वेन) तत्वपूर्वक (न, तु, एव, मां, अभिजानन्ति)वह मुझको नहीं जानते (अतः, च्यवन्ति, ते) इस कारण वह गिरजाते हैं ॥

भाष्य-परमात्मा ही सब पूजाओं का प्रभु है, इस प्रकार जो परमात्मा को यथार्थ नहीं जानते, इसलिये वह यथार्थपन से गिर जाते हैं, यही तत्वज्ञान की विशेषता है, और विशेषता यह वर्णन कीगई है कि:-

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोपि माम् ॥२५॥

पद०-यान्ति । देवव्रताः । देवान् । पितॄन् । यान्ति । पितृव्रताः । भूतानि । यान्ति । भूतेज्या । यान्ति । मद्याजिनः । अपि । मां ।

पदा०-(देवव्रताः) दिव्य गुणों वाले मनुष्यों के भक्त (देवान्, यान्ति) देवों को प्राप्त होते (पितृव्रताः) कर्मीजनों के भक्त (पितॄन्, यान्ति) पितरों को प्राप्त होते (भूतेज्याः) भूतों की पूजा करनेवाले (भूतानि, यान्ति) भूतों को, और (मद्याजिनः) मेरी पूजा करनेवाले (अपि) निश्चय करके (मां, यान्ति) मुझको प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य-इस श्लोक में ज्ञान की विशेषता को स्पष्ट वर्णन कर दिया कि जो जिसकी उपासना करता है वह उसको प्राप्त होता है, इसलिये तत्व

ज्ञानी ही परमात्मा को प्राप्त होते हैं, यदि इस श्लोक में देवादि शब्दों के पौराणिक अर्थ भी मानलिये जायं अर्थात् देव शब्द के अर्थ जड़ सूर्यादि, पितरों के अर्थ मरकर पितृलोक में गये हुओं के और भूत के अर्थ मरकर भूत बने हुओं के मानें तो इन अर्थों में भी हमारी कोई क्षति नहीं, क्योंकि इस श्लोक में देवादिकों की पूजा का निषेध करके परमात्मपूजन बतलाया गया है ॥

सं०–यदि अन्य देवों की पूजा न करके भी केवल परमात्मा का पूजन किया जाय तो वह महान् परमात्मा तुच्छ पूजा की सामग्री नैवेद्यादिकों से कैसे प्रसन्न होगा ? उत्तरः—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

पद०--पत्रं । पुष्पं । फलं । तोयं । यः । मे । भक्त्या । प्रयच्छति । तत् । अहं । भक्त्युपहृतं । अश्नामि । प्रयतात्मनः ॥

पदा०–(यः) जो पुरुष (पत्रं) पत्र (पुष्पं) फूल (तोयं) जल (मे) मेरे लिये (भक्त्या) भक्ति से (प्रयच्छति) देता है (प्रयतात्मनः) समाहित चित्तवालों की (भक्त्युपहृतं) भक्ति से युक्त (तत्) उस वस्तु को (अहं, अश्नामि) मैं ग्रहण करता हूं ॥

भाष्य–इस श्लोक में इस भाव को वर्णन किया है कि परमात्मा के पूजन में किसी बड़ी भेट की आवश्यकता नहीं, पत्र पुष्पादि तुच्छ से तुच्छ वस्तु भी यदि भक्तिपूर्वक समाहित चित्त वाला पुरुष परमात्मा के अर्पण करता है तो वह सर्वोपरि भेट समझी जाती है ॥

ननु–तुम्हारे मत में तो परमात्मा निराकार है फिर वह पत्र पुष्पादिक की भेट कैसे लेगा ? उत्तर—पत्र पुष्पादिक यहां सब प्रकार की भेट के उपलक्षण हैं, जैसाकि लोक में रत्नादि बहुमूल्य पदार्थ भी देकर पीछे से यह कहदिया जाता है कि यह पत्र पुष्प हैं. इसी प्रकार पत्र पुष्पादिक यहां भेटमात्र के उपलक्षण हैं, और यदि यह कहाजाय कि इस श्लोक में "अश्नामि" लिखा है जिसके अर्थ खाने के हैं तो उत्तर यह है कि साकारवादियों का ईश्वर क्या पत्ते और फूल खाता है, फिर उनके मत में भी

"अश्नामि" खाने के अर्थ अयुक्त ही रहे, हमारे मत में तो इसका समाधान यह है कि:—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनं ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ कठ० २ । २५

अर्थ-जिस परमात्मा के ब्राह्मण, क्षत्रिय ओदन = भात के समान और मृत्यु शाकादिकों के समान है उसको कौन यथार्थ जानसक्ता है, तो क्या इस वाक्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय और मृत्यु परमात्मा के दाल भात हैं, नहीं "अत्ताचराचरग्रहणात्" ब्र० सू० १ । २ । ९=चराचर का ग्रहण करने वाला होने से परमात्मा को यहां भक्षणकर्ता कथन किया गया है वास्तव में परमात्मा का भक्ष्य कोई नहीं, एवं यहां भी उपचार से ही "अश्नामि" भक्षणवाची शब्द कथन किया गया है, वास्तव में इसके अर्थ ग्रहण करने के हैं और गीता के बड़े २ टीकाकारों ने भी यही अर्थ किये हैं भक्षण के अर्थ नहीं ॥

सं०-ननु, यदि भक्षण के अर्थ न भी लिये जायं तब भी पत्र पुष्पादिकों द्वारा अर्चन करने से तो परमात्मा साकार ही पाया जाता है ? उत्तरः—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

पद०-यत् । करोषि । यत् । अश्नासि । यत् । जुहोषि । ददासि । यत् । यत् । तपस्यसि । कौन्तेय । तत् । कुरुष्व । मदर्पणं ॥

पदा०-(कौन्तेय) हे अर्जुन ! (यत्करोषि) जो तुम करते (यत्, अश्नासि) जो खाते (यत्, जुहोषि) जो यज्ञ करते (ददासि, यत्) जो देते और (यत्, तपस्यसि) जो तप करते हो (तत्, मदर्पणं, कुरुष्व) वह मेरे अर्पण करो ॥

भाष्य-इस श्लोक में यह भाव वर्णन किया है कि मनुष्य जो करता है वह परमात्मा के अर्पण करे अर्थात् निष्कामता से कर्म करे, अपना अर्थ उसमें कदापि न रखे, इस कथन ने इस भाव को स्पष्ट

कर दिया कि पत्र पुष्पादिकों का कथन किसी साकार मूर्त्ति के आगे रखने के अभिप्राय से नहीं किन्तु निष्कामकर्मता के अभिप्राय से है ॥

सं०—ननु, यहां तो निष्काम और सकामकर्मों का कोई प्रकरण ही नहीं फिर यह उत्तर क्या ? उत्तरः—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

पद०—शुभाशुभफलैः । एवं । मोक्ष्यसे । कर्मबन्धनैः । संन्यासयोगयुक्तात्मा । विमुक्तः । मां । उपैष्यसि ॥

पदा०—(शुभाशुभफलैः) तुम शुभाशुभ फल वाले (कर्मबन्धनैः) बन्धनरूप कर्मों से (एवं, मोक्ष्यसे) इस प्रकार मुक्त होगे कि (संन्यासयोगयुक्तात्मा) संन्यासरूप जो योग उससे युक्त हुए (विमुक्तः) मुक्त होकर (मां, उपैष्यसि) मुझको प्राप्त होगे ॥

भाष्य—इस श्लोक में "संन्यासयोगयुक्तात्मा" इस वाक्य से यह भाव स्पष्ट होगया कि निष्कामकर्मों के प्रतिपादन करने का यहां कृष्णजी का अभिप्राय है, इसलिये कहा है कि परमात्मा को अर्पण करके कर्म करो अर्थात् निष्कामकर्म करो, क्योंकि निष्कामकर्म करने का नाम ही संन्यास है, जैसाकि " यस्य कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते " गी० १८ । ११ इस श्लोक में कहा है कि जो कर्मों के फल को त्यागता है वही त्यागी है, और देहधारी सर्वथा कर्मों को कदापि नहीं छोड़सक्ता, इस प्रकार यहां संन्यासयोगयुक्त शब्द से निष्कामकर्म करने वाले का ग्रहण है, एवं यहां ईश्वर के अर्पण से निष्कामकर्मों का अभिप्राय है, अद्वैतवादियों ने यहां इतना भेद किया है कि " मां, उपैष्यसि "के अर्थ यह किये हैं कि तू ब्रह्म बन जायगा और कृष्णजी का अभिप्राय यह है कि ईश्वरार्पण कर्म करने वाला ईश्वर की शरण को प्राप्त होगा ॥

सं०—ननु, यह भी एक पक्षपात है कि किसी को परमात्मा अपना प्रिय समझता और किसी को द्वेष्य समझता है ? उत्तरः—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

पद०—समः । अहं । सर्वभूतेषु । न । मे । द्वेष्यः । अस्ति । न । प्रियः । ये । भजन्ति । तु । मां । भक्त्या । मयि । ते । तेषु । च । अपि । अहं ॥

पदा०—(सर्वभूतेषु) सब भूतों में (अहं) मैं (समः) समान हूं (न, मे, द्वेष्यः) न कोई मेरा शत्रु (न, प्रियः, अस्ति) न कोई प्यारा है (मां) मुझको (भक्त्या) भक्ति से (ये, भजन्ति) जो भजते हैं (मयि, ते) वे मेरे में (च) और (अहं) मैं (तेषु) उनमें (अपि) निश्चयकरके वर्त्तता हूं ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

पद०—अपि । चेत् । सुदुराचारः । भजते । मां । अनन्यभाक् । साधुः । एव । सः । मन्तव्यः । सम्यक् । व्यवसितः । हि । सः ॥

पदा०—(चेत्) यदि (सुदुराचारः) अत्यन्त दुष्टाचारी (अपि) भी (अनन्यभाक्) अन्य को भजने वाला न होकर (मां, भजते) मुझको भजता है (सः) वह (साधुः, एव, मन्तव्यः) निश्चयकरके साधु जानना चाहिये (हि) और (सः) वही (सम्यक्, व्यवसितः) ठीक २ निश्चयवाला है ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

पद०—क्षिप्रं । भवति । धर्मात्मा । शश्वत् । शान्ति । निगच्छति । कौन्तेय । प्रतिजानीहि । न । मे । भक्तः । प्रणश्यति ॥

पदा०—हे कौन्तेय ! वह पुरुष (क्षिप्रं) शीघ्र ही (धर्मात्मा, भवति) धर्मात्मा होजाता है जो (शश्वत्) निरन्तर (शान्ति) शान्ति को (निगच्छति) प्राप्त होता है (प्रतिजानीहि) तू निश्चयकरके जान (मे, भक्तः) मेरा भक्त (न, प्रणश्यति) नाश को प्राप्त नहीं होता ॥

भाष्य—उपरोक्त तीन श्लोकों में कृष्णजी ने इस भाव को स्पष्ट करा-

दिया कि दुराचारी से दुराचारी भी जब उस दुराचार को छोड़कर परमात्मा की शरण में आता है तो वह शीघ्र ही धर्मात्मा होजाता है, परमात्मा का इसमें कोई राग द्वेष नहीं जो जैसा करेगा वैसा फल पावेगा, इसी अभिप्राय से आगे इस अर्थ को यों वर्णन करते हैं कि—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथाशूद्रास्तेऽपि यांति परांगतिम् ॥३२॥

पद०—मां । हि । पार्थ । व्यपाश्रित्य । ये । अपि । स्युः । पापयोनयः । स्त्रियः । वैश्याः । तथा । शूद्राः । ते । अपि । यान्ति । परां । गतिं ॥

पदा०—हे पार्थ ! (हि) निश्चय (मां) मुझको (व्यपाश्रित्य) आश्रय करके (ये) जो (पापयोनयः) पाप से जन्म वाले (अपि) भी (स्युः) हों, स्त्री हों वा वैश्य हों तथा शूद्र हों (ते, अपि) वह भी (परां, गतिं, यान्ति) परागति को प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य—यहां कृष्णजी ने इस बात पर बल दिया है कि जो पूर्व प्रारब्ध कर्मों से निन्दित कर्म वाले भी हों, चाहे स्त्रियां हों, चाहे वैश्य हों वा शूद्र हों, वह भी परमात्मपरायण होने से शुद्ध होजाते हैं, इस श्लोक में प्रायः सब टीकाकारों ने विचारी स्त्री, वैश्य तथा शूद्र को जन्म से दुष्ट माना है, यह भाव व्यासजी का नहीं, यदि व्यासजी का यह भाव होता तो "अपशूद्राधिकरण" में सामर्थ्य से वेदाध्ययन की व्यवस्था न कीजाती और नाही अज्ञात कुल गोत्र सत्यकामजाबाल को ब्रह्मविद्या पढ़ाई जाती, अधिक क्या, यदि उपनिषदों के समय में यह पौराणिक भाव होता कि स्त्री आदिकों को ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं तो गार्गी, मैत्रेयी, कात्यायनी आदि स्त्रियें कदापि ब्रह्मवादिनी न कहलातीं, अतएव टीकाकारों का उक्त भाव ठीक नहीं ॥

सं०—ननु, यदि स्त्री आदिकों को जाति से दूषित नहीं माना तो आगे जाकर क्षत्रिय और ब्राह्मण को उत्कृष्ट क्यों वर्णन किया है ? उत्तरः—

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखंलोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

पद०—किं । पुनः । ब्राह्मणाः । पुण्याः । भक्ताः । राजर्षयः । तथा । अनित्यं । असुखं । लोकं । इमं । प्राप्य । भजस्व । मां ॥

पदा०—(ब्राह्मणाः, पुण्याः) धर्मसम्पन्न पुण्यात्मा ब्राह्मणों का (राजर्षयः, भक्ताः) क्षात्रधर्मसम्पन्न भक्त क्षत्रियों का (पुनः, किं) फिर क्या कहना है अर्थात् जब मन्द कर्मोंवाले वैश्यादि भक्ति से उत्तम गति को प्राप्त होते हैं तो पुण्यात्मा ब्राह्मण क्षत्रियों की तो कथा ही क्या, इसलिये (अनित्यं) सदा न रहने वाला (असुखं) सुख से हीन (इमं, लोकं) इस लोक को (प्राप्य) प्राप्त होकर (मां, भजस्व) मेरा भजन कर ॥

भाष्य—यहां ब्राह्मणादिकों को जाति से उत्कृष्ट नहीं माना किन्तु गुण से उत्कृष्ट माना गया है, इसलिये ब्राह्मण को पुण्यात्मा और क्षत्रिय को भक्त होने का विशेषण दिया है, इससे पाया जाता है कि वहां पापी स्त्री आदिकों का ग्रहण था और यहां पुण्यात्मा ब्राह्मणादिकों का ग्रहण है, इसलिये यहां "कैमुत्तिकन्याय"* घट सक्ता है अर्थात् तो फिर इनकी क्या कथा ॥

सं०—अब कृष्णजी आत्मत्वेन उपासना को समाप्त कर एकमात्र परमात्मा की भक्ति का उपदेश करते हुए इस प्रकरण को समाप्त करते हैं:—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

पद०—मन्मनाः । भव । मद्भक्तः । मद्याजी । मां । नमस्कुरु । मां । एव । एष्यसि । युक्त्वा । एवं । आत्मानं । मत्परायणः ॥

पदा०—(मन्मनाः, भव) मेरे में मन वाला हो (मद्भक्तः) मेरा भक्त बन (मद्याजी) मेरा यज्ञ करने वाला बन (मां, नमस्कुरु) मुझे नमस्कार कर और (मां, आत्मानं) मुझे ही आत्मा समझ (एवं, युक्त्वा) इस प्रकार युक्त होकर (मत्परायणः) मेरे परायण हुआ २ (मां, एष्यसि) मुझको प्राप्त होगा ॥

---

* "कैमुत्तिक न्याय" उसको कहते हैं, जैसे कोई कहे कि ऐसी वायु चली कि पाषाण भी उड़गये तो फिर रुई की तो कथा ही क्या ॥

भाष्य-इस श्लोक का भाव यह है कि "आत्मेतितूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" ब्र०सू०४।१।३=आत्मभाव से ऋषि लोग उसको प्राप्त होते और दूसरों को प्राप्त कराते हैं, इस सिद्धान्तानुकूल परमात्मा की आत्मत्वेन उपासना का उपदेश करते हुए कृष्णजी उसकी अनन्यभक्ति यों कथन करते हैं कि तू एकमात्र मन्मय=तद्विषयक मनवाला होकर आत्मपरायण हो, इस श्लोक के आशय ने गीता से मायावाद को सर्वथा दूर करदिया जो भक्ति द्वारा परमेश्वर प्राप्ति वर्णन की, और इससे पूर्व श्लोक में इस लोक को अनित्य कथन करके मायावादियों के मिथ्यापन को सर्वथा मिटा दिया, इनके मत में मिथ्या वह कहलाता है जो अज्ञान से कल्पित हो, जैसे रज्जु में सर्प, सीपी में चांदी आदि, इस प्रकार के मिथ्या पदार्थ जिसके अज्ञान से प्रतीत हुआ करते हैं उसी के ज्ञान से नाश होजाते हैं, अनित्य पदार्थ वह कहलाते हैं जो सदा स्थायी न रहें अपनी आयु भोग कर नाश को प्राप्त होजायं, जैसाकि यह समग्र प्रपञ्च प्रलयकाल तक अपनी आयु भोगकर नाश होजाता है, अतएव सदा न रहने वाला अनित्य कहलाता है, सो इस अनित्य को कृष्णजी ने स्पष्ट करदिया, और यह भी हमारी दृढ़ प्रतिज्ञा है कि समग्र गीता में मायावादियों के मिथ्यार्थों में मिथ्या शब्द कहीं नहीं आया, इसलिये भी इनका मायावाद मनोरथमात्र है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये, राजविद्या राजगुह्ययोगोनाम नवमोऽध्यायः

अथ दशमोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०-पूर्व ७ । ८ । ९ अध्यायों में परमात्मा की अनन्यभक्ति का वर्णन किया गया और कहीं २ "रसोऽहमप्सु कौन्तेय" गी० ७ । ८ तथा "अहंक्रतुरहंयज्ञः" गी० ९ । १६ इत्यादि श्लोकों में सामान्य रीतिसे परमात्मा की विभूति भी वर्णन कीगई, अब इस अध्याय में कृष्णजी स्वयं परमात्मा की विभूति को विशेष रीति से बोधन करने के लिये अर्जुन को सम्बोधन कर परमात्मा के विभूतिरूप ऐश्वर्य को आत्मोपासना के भाव से आत्मत्वेन कथन करते हैं कि:—

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

पद०-भूयः । एव । महाबाहो । शृणु । मे । परमं । वचः । यत् । ते । अहं । प्रीयमाणाय । वक्ष्यामि । हितकाम्यया ॥

पदा०-(महाबाहो) हे विशालबाहुवाले अर्जुन ! (भूयः, एव) फिर भी (मे) मेरा (परमं, वचः) श्रेष्ठ वचन (शृणु) सुन (यत्) जो (प्रीयमाणाय) प्रीति वाला है (ते) तेरे लिये (हितकाम्यया) हित की कामना से (वक्ष्यामि) कहता हूं ॥

०-ननु, इससे पूर्व भी अनेकधा आप मेरे हित की बातें कथन कर आये हैं और अन्य जो ब्रह्मादि देव हैं उनके ग्रन्थों द्वारा भी मैं हित की बातें जानसक्ता हूं फिर आपके हितबोधक वचन में क्या अपूर्वता है ! उत्तर:—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

पद०-न । मे । विदुः । सुरगणाः । प्रभवं । न । महर्षयः । अहं । आदिः । हि । देवानां । महर्षीणां । च । सर्वशः ॥

पदा०-(मे, प्रभवं) मेरी विभूति को (सुरगणाः) देवताओं के गण (न, विदुः) नहीं जानते (न, महर्षयः) न महर्षि लोग जानते हैं (हि) निश्चय करके (देवानां) देवों (च) और (महर्षीणां) महर्षियों का (सर्वशः) सब प्रकार से (अहं, आदिः) मैं आदि हूं ॥

भाष्य-इस श्लोक में परमात्मा के स्वरूपज्ञान की अगाधता वर्णन कीगई है कि उसको दिव्य बुद्धिवाले देव भी ठीक २ नहीं जानते और भारद्वाजादि ऋषि भी नहीं जानते, क्योंकि वह परमात्मा सब देव और ऋषि महर्षियों का आदि कारण = सब से पूर्व है, इसलिये उसकी विभूति को देवादि ठीक २ नहीं जानते, जब तक परमात्मा अपनी विभूति आप ऋषि महर्षियों के प्रति कथन न करे तब तक उसकी बड़ी विभूति को ब्रह्मादि देव नहीं जानसक्ते, इस प्रकार परमात्मा की विभूति की दुर्विज्ञेयता इस श्लोक में वर्णन कीगई है, जैसाकि "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" कठ० १।२३ इत्यादि वाक्यों में परमात्मा की कृपा ही मनुष्य के यथार्थज्ञान का हेतु मानी है. इसलिये परमात्मा ही अपनी विभूति को आप वर्णन करता है, जैसाकि "सहस्रशीर्षा पुरुषः" यजु० ३१ । १ इत्यादि मन्त्रों में परमात्मा ने अपनी विभूति का वर्णन किया है, इसी प्रकार उस वैदिक विभूति की अपूर्वता को कृष्णजी आत्मत्वेन उपासना के भाव से "अहं" शब्द द्वारा वर्णन करते हैं कि न मुझे देवताओं के गण ठीक २ जानसक्ते हैं न महर्षि लोग ठीक २ जानते हैं, क्योंकि मैं सब देव और महर्षियों का आदि हूं, इस लिये अपने ज्ञान की अपूर्वता को परमात्मा आप बोधन करता है, यही इस वचन में अपूर्वता है ॥

सं०-अब उस परमात्मज्ञान का फल कथन करते हैं:—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

पद०-यः । मां । अजं । अनादिं । च । वेत्ति । लोकमहेश्वरं । असंमूढः । सः । मर्त्येषु । सर्वपापैः । प्रमुच्यते ॥

पदा०-(यः) जो पुरुष (मां) मुझको (अजं) जन्म से रहित

(च) और (अनादिं) कारण से रहित (लोकमहेश्वरं) लोकों का महा ईश्वर (वेत्ति) जानता है (सः) वह (मर्त्येषु) सब मनुष्यों में (असंमूढः) अज्ञान से रहित हुआ २ (सर्वपापैः) सब पापों से (प्रमुच्यते) छूटजाता है ॥

भाष्य—" अनादि " शब्द के अर्थ यहां यह हैं कि " न आदि कारणं यस्य स अनादि "=जिसका कोई कारण न हो उसको यहां " अनादि " शब्द से कहा गया है, जो परमात्मा को शरीरादिकों से रहित तथा कारण रहित मानता है वह शोक नहीं करता, जैसाकि कठ० २। २२ में वर्णन किया है कि:—

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितं ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वाधीरो न शोचति ॥

जो शरीरधारियों में अशरीरी और अस्थिर पदार्थों में स्थिर है, ऐसे महान् विभु परमात्मा को जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता, यही आशय उक्त गीता के श्लोक में वर्णन किया गया है कि परमात्मा का यथार्थ ज्ञाता पुरुष सब शोक मोहादि पापों से दूर होजाता है ॥

सं०—अब उन भावों का वर्णन करते हैं जो परमात्मारूप निमित्त कारण से संसार में आते हैं:—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

पद०—बुद्धिः । ज्ञानं । असंमोहः । क्षमा । सत्यं । दमः । शमः । सुखं । दुःखं । भवः । भावः । भयं । च । अभयं । एव । च ॥

पदा०—बुद्धि से लेकर अभय तक यह सब भाव परमात्मा की कारणता से प्राणियों में आते हैं ॥

भाष्य—इन बुद्धि आदि भावों के अर्थ यह हैं कि सूक्ष्म अर्थ के विचाररूप सामर्थ्य का नाम " बुद्धि " सब पदार्थों के यथार्थ बोध का नाम " ज्ञान " उक्त पदार्थों में कार्य्य करने के लिये विचारपूर्वक जो प्रवृत्ति उसका नाम " असंमोह " स्व शरीरादिकों को दुःख पहुं-

चाने पर भी जो उस दुःखदाता पर क्रोध न करके उन भावों को मन से भुला देने का जो भाव उसका नाम "क्षमा" जिस पदार्थ विषयक जैसा ज्ञान हो उसको वैसा ही प्रकट करने का नाम "सत्य" इन्द्रियों को विषयों से रोकने का नाम "दम" मन को रोकने का नाम "शम" अनुकूल प्रतीत होने वाले का नाम "सुख" प्रतिकूल प्रतीत होने वाले का नाम "दुःख" उत्पत्ति का नाम "भव" सत्ता का नाम "भाव" त्रास का नाम "भय" और त्रास से रहित होने का नाम "अभय" है, यह सब कार्य्य परमात्मा से होते हैं, और:-

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

पद०-अहिंसा । समता । तुष्टिः । तपः । दानं । यशः । अयशः । भवन्ति । भावाः । भूतानां । मत्तः । एव । पृथग्विधाः ॥

पदा०-(भवन्ति, भावाः, भूतानां) भूतों के यह अहिंसादि भाव (मत्तः, एव, पृथग्विधाः) परमात्मा से ही नाना प्रकार के होते हैं ॥

भाष्य-सब कालों में सब प्रकार से सब प्राणियों के साथ द्रोह से रहित होकर वर्तने का नाम "अहिंसा" हानि लाभ तथा ऊंच नीच में राग द्वेष से रहित रहने का नाम "समता" थोड़े लाभ पर भी सन्तुष्ट रहने का नाम तुष्टि= "सन्तोष" ब्रह्मचर्य्यादि व्रतों से शरीर को वशीभूत रखने का नाम "तप" देश, काल, पात्र को देखकर देने का नाम "दान" धर्मानुकूल जो देश में प्रसिद्धि हो उसका नाम "यश" और अधर्माचरण से जो लोक में प्रसिद्धि है उसका नाम "अयश" है, यह सब भाव परमात्मारूप निमित्तकारण से होते हैं ॥

सं०-केवल यही भाव नहीं प्रत्युत मर्यादा पुरुषोत्तम पुरुषों के जो जन्म हैं वह भी परमात्मा की विभूति है, जैसाकि:—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

पद०—महर्षयः । सप्त । पूर्वे । चत्वारः । मनवः । तथा । मद्भावाः । मानसाः । जाताः । येषां । लोके । इमाः । प्रजाः ॥

पदा०—(महर्षयः, सप्त) भृगु आदि सप्त ऋषि (पूर्वे, चत्वारः) अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा यह पूर्व के चार ऋषी (तथा) और (मनवः) मनु (मद्भावाः) मेरे तत्व को जानने वाले (मानसाः, जाताः) अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न हुए (येषां) जिनकी (लोके) लोक में (इमाः, प्रजाः) यह ब्राह्मणादि प्रजा हैं, ये भी सब परमात्मा की विभूति है ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

पद०—एतां । विभूतिं । योगं । च । मम । यः । वेत्ति । तत्वतः । सः । अविकम्पेन । योगेन । युज्यते । न । अत्र । संशयः ॥

पदा०—(मम, एतां, विभूतिं) मेरी इस विभूति (च) और (योगं) योग को (यः) जो पुरुष (तत्वतः) यथार्थपन से (वेत्ति) जानता है (सः) वह (अविकम्पेन, योगेन) अचल योग के साथ (युज्यते) जुड़ता है (न, अत्र, संशयः) इसमें संशय नहीं ॥

सं०—अब परमात्मा के ज्ञाता योगियों के भावों को निम्नलिखित चार श्लोकों द्वारा वर्णन करते हैं:—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

पद०—अहं । सर्वस्य । प्रभवः । मत्तः । सर्वं । प्रवर्तते । इति । मत्वा । भजन्ते । मां । बुधाः । भावसमन्विताः ।

पदा०—(अहं) मैं (सर्वस्य) सब का (प्रभवः) उत्पत्ति स्थान हूं (मत्तः) मेरे से (सर्वं) सब (प्रवर्त्तते) प्रवृत्त होते हैं (इति) ऐसा (मत्वा) मानकर (भावसमन्विताः, बुधाः) मेरे भाव को समझने वाले बुद्धिमान् (मां) मेरा (भजन्ते) भजन करते हैं ॥

भाष्य–परमात्मा ही सबका उत्पत्ति स्थान है, क्योंकि उससे ही इस सब संसारवर्ग की रचना होती है, ऐसा समझकर जो परमात्मा के भावों को धारण करते हैं वह बुद्धिमान् उसके जानने वाले हैं, "सर्वस्य प्रभवः" के वही अर्थ हैं जो "वेदान्तार्य्यभाष्य" अ० सू० १।१।२ में किये गये हैं और इसी भाव से "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तमुपासीत्" छान्दो० ३।१४।४ में परमात्मा को ही सब पदार्थों का उत्पत्ति स्थान माना गया है, वह भाव यह है कि "तस्माज्जायत इति तज्जं, तस्मिन्लीयत इति तल्लं, तस्मिन् अनितिप्राणिति इति तदनं" = जो ब्रह्म से उत्पन्न हों उसी में लय हों, उसी में चेष्टा करें ऐसे पदार्थों को "तज्जलान्" कहते हैं, उपनिषदों में परमात्मा के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होने का भाव नहीं किन्तु सब के अधिकरण होने का भाव है और यह आशय गीता के ७ वें अध्याय मे स्पष्ट कर दिया है कि जगत् का उपादानकारण जो प्रकृति वह परमात्मा से भिन्न है, इसलिये यह सन्देह उत्पन्न नहीं होसक्ता कि परमात्मा अभिन्ननिमित्तोपादानकारण होने से "अहं सर्वस्य प्रभवः" कहा गया है, और युक्ति यह है कि सर्व पदार्थों का प्रभव समझकर जो परमात्मा की भक्ति कथन कीगई है इससे भी परमात्मा अभिन्ननिमित्तोपादान कारण नहीं पाया जाता, क्योंकि भक्ति भेद में ही होसक्ती है अभेद में नहीं ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयंतः परस्परम् ।
कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यंति च रमंति च ॥ ९ ॥

पद०–मच्चित्ताः । मद्गतप्राणाः । बोधयन्तः । परस्परं । कथयन्तः । च । मां । नित्यं । तुष्यन्ति । च । रमन्ति । च ॥

पदा०–(मच्चित्ताः) मेरे में है चित जिनका (मद्गतप्राणाः) मेरे निमित्त ही है प्राणजीवन जिन्हों का (परस्परं) आपस में श्रुति तथा युक्तियों से (बोधयन्तः) जो मेरा बोधन करते रहते हैं (च) और (मां) मुझको (नित्यं) प्रतिदिन (कथयन्तः) शिष्यादिकों के प्रति कथन करते हैं

वह (तुष्यन्ति) सन्तोष को प्राप्त होते और वहीं (रमन्ति) मेरी भक्ति में रमण नाम क्रीडा करते हैं अर्थात् उनके लिये कोई अन्य क्रीडादि सुख के जनक नहीं ॥

भाष्य—यह पूर्वोक्त भक्त उस संतोष को लाभ करते हैं जिसको महर्षि पतंजलि ने यो० २ । ४२ में वर्णन किया है कि " संतोषादनुत्तमः सुखलाभः "=सन्तोष से सर्वोपरि सुख का लाभ होता है ॥

सं०—ननु, उक्त भक्तों को परमात्मा क्या देता है ? उत्तरः—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते ॥ १० ॥

पद०—तेषां । सततयुक्तानां । भजतां । प्रीतिपूर्वकं । ददामि । बुद्धियोगं । तं । येन । मां । उपयान्ति । ते ॥

पदा०—(तेषां) उन भक्तों को (सततयुक्तानां) जो निरन्तर परमात्मा में रत हैं और जो (प्रीतिपूर्वकं, भजतां) प्रीतिपूर्वक परमात्मा का भजन करते हैं उनको (तं, बुद्धियोगं, ददामि) उस बुद्धियोग को देता हूं (येन) जिससे (ते) वह (मां) मुझको (उपयान्ति) प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य—"बुद्धियोग" के अर्थ ज्ञानयोग के हैं, जो "नहि ज्ञानेन-सदृशंपवित्रमिहविद्यते" गी० ४ । ३८ में वर्णन किया गया है, अद्वैतवादी टीकाकार "मामुपयान्ति" के अर्थ जीव के ब्रह्म होने के करते हैं कि जिसप्रकार घटरूप उपाधि के नाश होने से घटाकाश महाकाश बन जाता है, इसीप्रकार बुद्धियोग से जीव ब्रह्म बन जाता है, यदि यह भाव बुद्धियोग का होता तो गी० ४ । ४२ में यह कथन न किया जाता कि ज्ञानरूपा खड्ग से संशय को छेदन करके योग को ग्रहण कर उठ खड़ा हो, इस प्रकार संशयछेदन का साधन तो बुद्धियोग होसक्ता है पर ब्रह्म बनने का साधन बुद्धियोग कैसे ? हां यदि "दशमस्त्वमसि" के समान भूल होती तो अवश्य दशम पुरुष के सदृश जीव ब्रह्म बनजाता; यह कथा इसप्रकार है कि कहीं दश जुलाहे

देशान्तर को गये थे, जब मार्ग में नदी पार हुए तो दशों को गिनने लगे, जो गिनने वाला पुरुष था वह अपने आपको छोड़कर नौ को गिन जाता था, जब वह दशमे पुरुष की मृत्यु मानकर शोकसागर में निमग्न थे तब इस भूल को उपदेष्टा ने यों निवृत किया कि अपने आपको न गिनने वाले पुरुष के मुख पर एक चपत मारकर कहा कि "दशमस्त्वमसि"= दशवां तू है, इस कथा से मायावादी यह तात्पर्य्य लिया करते हैं कि इस प्रकार "तत्त्वमसि" तथा "अहंब्रह्मास्मि" इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान से जीव ब्रह्म बन जाता है, ठीक है जीव ब्रह्म बनजाता यदि दशम पुरुष के समान भूलकर ही जीव बना होता, पर जीव वास्तव में ब्रह्म से भिन्न वस्तु है, जैसाकि "विध्यनादी उभावपि" गी० १३ । १९ इस प्रकरण में जीव, ईश्वर और प्रकृति को भिन्न २ माना है ॥

तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

पद०—तेषां । एव । अनुकम्पार्थं । अहं । अज्ञानजं । तमः । नाशयामि । आत्मभावस्थः । ज्ञानदीपेन । भास्वता ॥

पदा०—(तेषां) उन भक्तों के ऊपर (अनुकम्पार्थं) अनुग्रह करके (अज्ञानजं, तमः) अज्ञान से उत्पन्न तम को (आत्मभावस्थः, अहं) परमात्मा के भाव में स्थिर मैं (भास्वता) प्रकाश वाले (ज्ञानदीपेन) ज्ञानरूपी दीपक से उस तम को (नाशयामि) नाश करता हूं ॥

भाष्य—"आत्मभावस्थः" शब्द से पाया गया कि परमात्मा के भावों में स्थिर होकर ही कृष्णजी अपने आपको ईश्वर शब्द से कथन करते हैं, स्वयं ब्रह्म बनने का दावा नहीं करते ॥

सं०—अब परमात्मा के भावों वाले कृष्ण का जो परमात्मा के साथ योग और उस परमात्मा की जो २ विभूतियें हैं उनको जानने के अभिप्राय से अर्जुन कृष्ण की इस प्रकार स्तुति करते हैं कि:—

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

पद०—परं । ब्रह्म । परं । धाम । पवित्रं । परमं । भवान् । पुरुषं । शाश्वतं । दिव्यं । आदिदेवं । अजं । विभुं ॥

पदा०—(परं, ब्रह्म) तुम परब्रह्म=प्रकृति आदिकों से परे जो ब्रह्म है वह हो (परं, धाम) सब से बड़ा धाम=आश्रय हो (भवान्, परमं, पवित्रं) आप परम पवित्र हो (पुरुषं, शाश्वतं, दिव्यं) तुम निरंतर दिव्य पुरुष हो (आदिदेवं) आदि देव हो (अजं) अजन्मा और (विभुं) सर्वव्यापक हो ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

पद०—आहुः । त्वां । ऋषयः । सर्वे । देवर्षिः । नारदः । तथा । असितः । देवलः । व्यासः । स्वयं । च । एव । ब्रवीषि । मे ॥

पदा०-(त्वां) तुमको देवर्षि नारद, असित, देवल तथा व्यासादि (सर्वे, ऋषयः) सब ऋषि लोग पूर्व श्लोक में कथन किये हुए भावों वाला (आहुः) कहते हैं (च) और (स्वयं, एव, ब्रवीषि, मे) तुम स्वयं भी परमात्मा के भावों वाला अपने आपको कहते हो ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

पद०—सर्वं । एतत् । ऋतं । मन्ये । यत् । मां । वदसि । केशव । न । हि । ते । भगवन् । व्यक्तिं । विदुः । देवाः । न । दानवाः ॥

पदा०—हे केशव ! (यत्, मां, वदसि) जो तुम मुझसे कहते हो (सर्वं, एतत्, ऋतं, मन्ये) यह सब बातें मैं सत्य मानता हूं, हे भगवन् ! (ते) तुम्हारे (व्यक्तिं) स्वरूप को (देवाः) देव (हि) निश्चयकरके (न, विदुः) नहीं जानते, और (न, दानवाः) न दानव जानते हैं ॥

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

पद०—स्वयं । एव । आत्मना । आत्मानं । वेत्थ । त्वं । पुरुषोत्तम । भूतभावन । भूतेश । देवदेव । जगत्पते ॥

पदा०— (भूतभावन) हे भूतों की उत्पत्ति करने वाले ! (भूतेश) प्राणियों के ईश्वर (देवदेव) हे देवों के देव ! (पुरुषोत्तम) पुरुषों में उत्तम (जगत्पते) हे जगत् के स्वामिन् ! (स्वयं, एव, त्वं) तुम अपने आप ही (आत्मना) अपने आपसे (आत्मानं) अपने आपको (वेत्थ) जानते हो ॥

भाष्य—इन चार श्लोकों में कृष्णजी की स्तुति कीगई है देहधारी कृष्ण को ईश्वर वर्णन नहीं किया गया, यदि ईश्वर वर्णन किया गया होता तो "सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्" गी० १३ । १५ और:—

"समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
गी० १३ । २७

इत्यादि श्लोकों में परमात्मा को निराकार वर्णन न किया जाता और इस प्रकार निराकार केवल गीता ही वर्णन नहीं करती किन्तु "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" यजु० ४० । ५ "दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायां" ईश० २ । ४ "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" केन० १ । ४ इत्यादि, वेदोपनिषदों के अनेक वाक्य उसको निराकार प्रतिपादन करते हैं, फिर व्यासजी परस्पर विरुद्ध और वेद शास्त्र विरुद्ध यहां कृष्ण को ईश्वर क्यों प्रतिपादन करते ? हमारे विचार में उक्त चारो श्लोकों में तद्धर्मतापत्ति के अभिप्राय से कृष्ण को ईश्वरीय भावों से कथन किया गया है, जैसाकि कृष्ण स्वयं भी अपने आपको तद्धर्मतापत्ति के भावों से ईश्वरत्वेन निरूपण

करते आये हैं उसी भाव को पूछने के लिये अर्जुन ने ऐसा कथन किया और आगे भी कहते हैं कि:—

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

पद०—वक्तुं । अर्हसि । अशेषेण । दिव्याः । हि । आत्मविभूतयः । याभिः । विभूतिभिः । लोकान् । इमान् । त्वं । व्याप्य । तिष्ठसि ॥

पदा०—(याभिः, विभूतिभिः) जिन विभूतियों से (इमान्, लोकान्) इन लोकों को (त्वं) तुम (व्याप्य) व्याप्त करके (तिष्ठसि) स्थिर होरहे हो (हि) निश्चय करके (आत्मविभूतयः, दिव्याः) जो तुम्हारी दिव्य विभूति हैं उनको (अशेषेण) सम्पूर्ण रीति से (वक्तुं, अर्हसि) कहने योग्य हो ॥

भाष्य—"विभूति" शब्द के अर्थ यहां ऐश्वर्य्य के हैं, जैसाकि **"ततोऽणिमादि प्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च"** यो० ३ । ४४ इस सूत्र में अणिमादि योगी के ऐश्वर्य्य कथन किये गये हैं, अणिमा नाम सूक्ष्म होजाने का है, इसी प्रकार योगेश्वर कृष्ण से विभूतिरूप परमात्मा के ऐश्वर्य्य अर्जुन ने पूछे हैं ॥

सं०—ननु, तुम वारवार कृष्ण को योगी कहते चले आते हो, गीता में कृष्ण को योगी कहीं वर्णन नहीं किया गया ? उत्तरः—

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिंतयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

पद०—कथं । विद्यां । अहं । योगिन् । त्वां । सदा । परिचिन्तयन् । केषु । केषु । च । भावेषु । चिन्त्यः । असि । भगवन् । मया ॥

पदा०—(योगिन्) हे योगी कृष्ण ! (अहं) मैं (त्वां, सदा) तुमको सदा (परिचिन्तयन्) चिन्तन करता हुआ (कथं, विद्यां) कैसे जानूं (च) और हे भगवन् ! (केषु, केषु) किन२ (भावेषु) भावों में (मया, चिंत्यः,असि) तुम मेरे चिन्तन करने योग्य हो ॥

भाष्य—इस श्लोक में कृष्णजी को योगी शब्द से स्पष्ट वर्णन किया है और इस योग द्वारा तद्धर्मतापत्तिरूप से परमात्मा के साथ युक्त हुए कृष्ण

से परमात्मा के ऐश्वर्य्यरूप भाव पूछे हैं जिन भावों द्वारा परमात्मा का ऐश्वर्य्य बड़े से बड़े नास्तिक को आस्तिक बना देता है, जिन भावों द्वारा परमात्मा का ऐश्वर्य्य बड़े से बड़े बली को क्षणभर में निर्बल करके परमात्मा का अनुयायी करदेता है, वह ऐश्वर्य्य इस विभूतियोग द्वारा वर्णन किये गये हैं ॥

अद्वैतवादी इन विभूतियों को परमात्मा का रूप मानते हैं, क्योंकि उनके मत में परमात्मा इस संसार का उपादान कारण है, विशिष्टाद्वैतवादी जड़ चेतन सब वस्तुजात ब्रह्म का शरीर होने के अभिप्राय से शरीरगत विभूतियों को भी ब्रह्म की विभूतियां वर्णन करते हैं और मूर्त्तिपूजक इन विभूतियों को प्रतिमा स्थानी मानकर प्रतिमापूजन का एक दृढ़ प्रमाण देते हैं, एवं अपने २ मत में इस विभूति अध्याय की विभूतियों को सब लोग खेंचते हैं, वैदिकमत में यह विभूतियें परमात्मा का ऐश्वर्य्य बोधन करने के लिये हैं और परमात्मरूप उपचार से कथन कीगई हैं, जैसाकि "चन्द्रमा मनसोजातः चक्षोसूर्य्योऽजायत" यजु० ३१ । १२ "नाभ्यासीदन्तरिक्षम्" यजु० ३१ । १३ इत्यादि मन्त्रों में परमात्मा के मन चक्षु आदिकों द्वारा सूर्य्यादिकों की उत्पत्ति कथन कीगई है, वास्तव में परमात्मा के न मन, न चक्षु हैं किन्तु वह एकरस चिद्घन है, इस प्रकार "परमात्मा" अक्षराधिकरण में वर्णन किये गये वाक्यों द्वारा स्थूलतादि धर्मों से सर्वथा रहित कूटस्थ नित्य है, और "विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्" गी० १३ । १९ में विकार और रूपादि सब गुण प्रकृति के कथन किये गये हैं ब्रह्म के नहीं, इसी प्रकार इस विभूति अध्याय में भी जो रूप कथन किये हैं, वह सब प्राकृत=प्रकृति के हैं, जैसाकि "रूप्यते अनेनेति रूपम्" इस व्युत्पत्ति द्वारा परमात्मनिरूपण के साधन होने से इनको परमात्मा का रूप कथन किया गया है ॥

सं०—अब इन रूपों और कृष्ण का परमात्मा के साथ आत्मोपासनरूप योग को अर्जुन विस्तारपूर्वक पूछते हैं:—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

पद०-विस्तरेण । आत्मनः । योगं । विभूतिं । च । जनार्दन । भूयः । कथय । तृप्तिः । हि । शृण्वतः । न । अस्ति । मे । अमृतं ।

पदा०-हे जनार्दन ! (आत्मनः, योगं) अपने योग (च) और (विभूतिं) विभूति को (विस्तरेण) विस्तारपूर्वक (भूयः, कथय) फिर कथन करो (हि) क्योंकि आपके (अमृतं, शृण्वतः) अमृतरूपी वचनों को सुनते हुए (मे) मेरा (तृप्तिः) सन्तोष (न, अस्ति) नहीं हुआ ॥

सं०-अब कृष्णजी अपने योग का महत्व और परमात्मा के गुण रूप विभूति का कथन करते हैं:—

श्रीभगवानुवाच

हंत ते कथयिष्यामि दिव्याह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यंतो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

पद०-हन्त । ते । कथयिष्यामि । दिव्याः । हि । आत्मविभूतयः । प्राधान्यतः । कुरुश्रेष्ठ । न । अस्ति । अन्तः । विस्तरस्य । मे ॥

पदा०-हे कुरुश्रेष्ठ ! (प्राधान्यतः) प्रधानता से (हन्त) अब (ते) तुम्हारे प्रति (हि) निश्चय करके (दिव्याः, आत्मविभूतयः) अपनी दिव्य विभूतियें (कथयिष्यामि) कथन करता हूं (मे, विस्तरस्य) मेरी विभूतियों के विस्तार का (न, अन्तः, अस्ति) अन्त नहीं है ॥

सं०-अब कृष्णजी अपने आत्मत्वेन उपासनारूप योग अर्थात् परमात्मा के साथ अभेदबुद्धि करके अपने आत्मभाव से परमात्मा की विभूतियों का कथन करते हैं:—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च ॥ २० ॥

पद०-अहं । आत्मा । गुडाकेश । सर्वभूताशयस्थितः । अहं । आदिः । च । मध्यं । च । भूतानां । अन्तः । एव । च ॥

पदा०-(गुडाकेश) हे अर्जुन ! (अहं) मैं (आत्मा) सब आत्मा (च) और (सर्वभूताशयस्थितः) सब प्राणियों के हृदय में स्थित (अहं, आदिः, च, मध्यं, च) मैं ही आदि, मध्य और मैं ही (एव) निश्चय (भूतानां, अन्तः) सब प्राणियों का अन्त हूं ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह कथन किया है कि इस सम्पूर्ण संसार की सत्ता परमात्मा ही है और उसी से इस संसार का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है, जैसाकिः—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् जिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" तैत्ति० ३।१

अर्थ—जिससे यह सब प्राणी उत्पन्न होते, उत्पन्न हुए २ जिसकी सत्ता से अपने प्राण धारण करते और जिसमें अन्तकाल में लय होजाते हैं उसके जानने की इच्छा कर वह ब्रह्म है, इस विषयवाक्य का आशय लेकर यह श्लोक ग्रन्थन किया गया है कि परमात्मा ही सब प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त है ॥

सं०—अब सूर्य्य चन्द्रमादिकों को परमात्मा की विभूति कथन करते हैंः—

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषांरविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

पद०—आदित्यानां । अहं । विष्णुः । ज्योतिषां । रविः । अंशुमान् । मरीचिः । मरुतां । अस्मि । नक्षत्राणां । अहं । शशी ॥

पदा०—(आदित्यानां) अखण्डनीय पदार्थों में (अहं, विष्णुः) मैं विष्णु हूं (ज्योतिषां) ज्योति वाले पदार्थों में (रविः) सूर्य्य हूं (मरुतां) वायुओं में (मरीचिः) मरीचि नामा वायु हूं (नक्षत्राणां) नक्षत्रों में (अहं, शशी) मैं चन्द्रमा हूं ॥

भाष्य—यद्यपि इस संसाररूप विभूति का स्वामी होने से यह सब विभूति परमात्मा की हैं तथापि मुख्य २ विभूतियें परमात्मा की इसलिये वर्णन कीगई हैं ताकि परमात्मा का ऐश्वर्य्य मुख्य २ रूपों में जिज्ञासुओं को अनुभव करने के लिये सहायक हो, इस अभिप्राय से अखण्डनीय वस्तुओं में व्यापकरूप विष्णु, ज्योति वाली वस्तुओं में सूर्य्यरूप, वायुओं में मरीचि नामा प्रकाशरूप वायु और नक्षत्रों में से चन्द्रमा परमात्मा का रूप वर्णन किया गया है, इस विभूति अध्याय में इन रूपों का वर्णन किये जाना निर्विशेषवादी वैदिक लोगों के लिये अनिष्टकारक नहीं, क्योंकि

वैदिकों के मत में तादात्म्यरूप से परमात्मा के यह रूप नहीं, परन्तु उसके निरूपक होने से परमात्मा के अनन्तरूप हैं, जैसाकि "सहस्रशीर्षाः पुरुषः" यजु० ३१ । १ इत्यादि मंत्रों में परमात्मा के निरूपक होने से सब प्राणियों के शिरादि अवयव उसी परमात्मा के कथन किये गये हैं, और "सायणभाष्य" में भी लिखा है कि "अत्रसर्वप्राणिना शिरांसि तद्देहान्तः पातित्वात्तदीयान्येवेत्ति सहस्रशीर्षत्वं"=सब प्राणियों के शिरादि अवयव उसकी विभूति में होने से उसके कथन किये गये हैं वास्तव में वह निराकार है, अनिष्टापत्ति तो यहां अवतारवादियों को है कि जिनके मत में परमात्मा के २४ अवतारों को छोड़कर सूर्य्य चन्द्रमादि अनन्त अवतार वर्णन करदिये हैं, हमारे वैदिकमत में तो इन रूपों के वर्णन किये जाने से इसलिये भी अनिष्टापत्ति नहीं कि "अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" मुण्डक० १।४ "द्यां मूर्द्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्य्यौच नेत्रे दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौक्षितिञ्चसोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता"=अग्नि जिसका मुख स्थानी, चन्द्रमा और सूर्य्य नेत्र स्थानी, पूर्वोत्तरादि दिशायें श्रोत्र स्थानी, वेद मुख स्थानी, वायु प्राण स्थानी, यह सब विश्व उसका हृदय स्थानी, पृथिवी पाद स्थानी और वह सब भूतों का अन्तरात्मा परमात्मा है, इसी भाव को उक्त स्मृति में भी कथन किया है कि द्यौलोक को जिसका मूर्द्धा स्थानीय विप्र लोग वर्णन करते और आकाश को नाभि स्थानीय वर्णन करते हैं, इत्यादि, वह परमात्मा सब भूतों का प्रेरक है, इसको रूपकालंकार कहते हैं, इसीलिये "रूपोपन्यासाच्च" ब्र०सू० १ । १। २३ में इसको रूपक कथन किया गया है कि रूपकालंकार के अभिप्राय से सूर्य्य चन्द्रमादिकों को नेत्र स्थानीय कहा है वास्तव में नहीं, इसी प्रकार यहां भी सूर्य्य चन्द्रमादि विभूतियें परमात्मा के निरूपक होने से उसका रूप कथन कीगई हैं वास्तव में नहीं ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

पद०-वेदानां । सामवेदः । अस्मि । देवानां । अस्मि । वासवः । इन्द्रियाणां । मनः । च । अस्मि । भूतानां । अस्मि । चेतना ॥

पदा०-(वेदानां, सामवेदः, अस्मि) वेदों में मैं सामवेद हूं (देवानां, वासवः, अस्मि) देवों में परमैश्वर्य्य वाला देव हूं, और (भूतानां, चेतना, अस्मि) सब प्राणियों में सत्यासत्य का विवेचन करने वाली चेतनशक्ति-रूप बुद्धि मैं हूं (च) और (इन्द्रियाणां, मनः, अस्मि) इन्द्रियों में मन मैं हूं ॥

भाष्य-सामवेद को विभूति इसलिये कथन किया गया है कि गान की मधुरता के कारण वह सब वेदों में मुख्य है, अन्य सब विभूतियों की प्रधानता स्पष्ट है ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

पद०-रुद्राणां । शंकरः । च । अस्मि । वित्तेशः । यक्षरक्षसां । वसूनां । पावकः । च । अस्मि । मेरुः । शिखरिणां । अहं ॥

पदा०-(रुद्राणां, शंकरः, च, अस्मि) रुद्ररूपधारियों में शान्ति करने वाला शंकररूप मैं हूं (वित्तेशः, यक्षरक्षसां) यक्ष, राक्षसों में धन का स्वामी मैं हूं (वसूनां, पावकः) आठ वसुओं में अग्नि मैं हूं (च) और (मेरुः, शिखरिणां, अहं) रत्नों वाले पर्वतों में से मेरु मैं हूं ॥

भाष्य-यक्ष और राक्षस से तात्पर्य्य मनुष्यों की दोनों श्रेणियों का है, यक्ष = पूज्य देव और राक्षस = जिनसे रक्षा की जाती है अर्थात् असुर, ऐसे दोनों प्रकार के मनुष्यों में जो धन का स्वामी है वह परमेश्वर की विभूतियों में से एक प्रधान विभूति है, इस अभिप्राय से "यक्षरक्षसांवित्तेशः" कहा है, और सब विभूतियें स्पष्ट हैं ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

पद०-पुरोधसां । च । मुख्यं । मां । विद्धि । पार्थ । बृहस्पतिं । सेनानीनां । अहं । स्कन्दः । सरसां । अस्मि । सागरः ॥

पदा०—हे पार्थ ! (पुरोधसां, च, मुख्यं, मां, बृहस्पतिं, विद्धि) पुरोहितों में मुख्य मुझे बृहस्पति जान (सेनानीनां) सेनापतियों में (अहं) मैं (स्कन्दः) स्कन्द हूं, और (सरसां) जलाशयों में से (सागरः, अस्मि) समुद्र मैं हूं ॥

भाष्य—पुरोहितों में " बृहस्पति " इसलिये श्रेष्ठ कहा गया है कि वाणी के पति का नाम "बृहस्पति" है अर्थात् वेदवित् पुरुष पुरोहितों में से श्रेष्ठ होता है "स्कन्दते इति स्कन्दः" = जो अत्यन्त गति वाला हो उसको "स्कन्द" कहते हैं अर्थात् जिसकी शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक गति सबसे मुख्य हो वह "स्कन्द" कहाता है और वह सेनापति परमात्मा की विभूतियों में से है, अन्य सब स्पष्ट हैं ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

पद०—महर्षीणां । भृगुः । अहं । गिरां । अस्मि । एकं । अक्षरं । यज्ञानां । जपयज्ञः । अस्मि । स्थावराणां । हिमालयः ।

पदा०—हे अर्जुन ! (महर्षीणां, भृगुः, अहं) महर्षियों में भृगु मैं हूं (गिरां) वाणियों में एकं, अक्षरं, अस्मि) एक अक्षर ओंकार मैं हूं (यज्ञानां) यज्ञों में (जपयज्ञः, अस्मि) जपयज्ञ मैं हूं (स्थावराणां, हिमालयः) स्थिति वालों में से हिमालय मैं हूं ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

पद०—अश्वत्थः । सर्ववृक्षाणां । देवर्षीणां । च । नारदः । गन्धर्वाणां । चित्ररथः । सिद्धानां । कपिलः । मुनिः ॥

पदा०— (सर्ववृक्षाणां) सब वृक्षों में (अश्वत्थः) पीपल मैं हूं (देवर्षीणां) देवों में जो ऋषि उनमें (नारदः) नारद मैं हूं (गन्धर्वाणां) गान करने वालों में (चित्ररथः) चित्ररथ गन्धर्व मैं हूं (च) और (सिद्धानां) सिद्धों में जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य्यतादि गुणों को प्राप्त हुए हैं उनमें (कपिलः, मुनिः) कपिल मुनि मैं हूं ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

पद०-उच्चैःश्रवसं । अश्वानां । विद्धि । मां । अमृतोद्भवं । ऐरावतं । गजेन्द्राणां । नराणां । च । नराधिपं ॥

पदा०-(अश्वानां) घोड़ों में (उच्चैःश्रवसं) उच्चश्रवस नाम वाला घोड़ा (मां, विद्धि) मुझे जान, वह कैसा है (अमृतोद्भवं) अमृत से है उत्पत्ति जिसकी (गजेन्द्राणां) हाथियों में (ऐरावतं) ऐरावत (च) और (नराणां) नरों में (नराधिपं) मुझको राजा जान ॥

भाष्य-"उच्चैःश्रवस" उस घोड़े का नाम है जिसके कान ऊंचे हों, सम्भव है कि उस समय के घोड़ों में सबसे ऊंचे कानों वाले घोड़े का नाम "उच्चैःश्रवस" रखा गया हो "अमृतोद्भव" विशेषण उसको इसलिये दिया गया है कि अमृत नाम घृत का है अर्थात् अतिबलिष्ट होने के कारण उपचार से उसको घृत से उत्पन्न हुआ कहा गया है, पौराणिक टीकाकार इसके यह अर्थ करते हैं कि समुद्र मथन करके जो चौदह रत्न लाभ किये गये थे उनमें एक यह घोड़ा भी था, यह अर्थ "अमृतोद्भव" शब्द से लाभ नहीं होते. क्योंकि इसके अर्थ तो यही होते हैं कि अमृत से जिसकी उत्पत्ति हो, सो अमृत से उत्पत्ति इनके मत में घोड़े की नहीं और यदि समुद्र से उत्पन्न हुए घोड़े का तात्पर्य्य व्यासजी का होता तो "अमृतोद्भव" यह अप्रयुक्त शब्द क्यों देते प्रत्युत "सागरोद्भव" ही देते इसमें क्या हानि थी, वस्तुतः बात यह है कि जहां कहीं पौराणिक अर्थ का अवकाश मिलता है वहां गीता को असंभव अर्थों का भाण्डार बना देने में यह पौराणिक टीकाकार न्यूनता नहीं करते, आगे हाथियों में "ऐरावत" हूं, इसके भी यही अर्थ किये हैं कि ऐरावत उस हाथी का नाम है जो समुद्र मथन से उत्पन्न हुआ था, यह अर्थ इस प्रकार लाभ किया जाता है कि इरा नाम जल का है, वह जल जिसके हों उस का नाम इरावान् और इरावान् में होने वाले का नाम "ऐरावत" है, क्या यह अर्थ समुद्र मथन की असम्भव कहानी से ही निकलता है अन्यथा नहीं निकलसक्ता ? जैसे कदली वन वा दण्डिकारण्य यह नाम थोड़े से

कदलीस्तम्भ वा सीधे दण्डाकार वृक्षों के होने से उस वन का नाम ऐसा पड़गया, इसी प्रकार इरावान्=जल के स्थान वाले वन में उत्पन्न होने से उस हाथी का नाम ऐरावत हो, पर हम कहां तक इनके पौराणिक भावों को मिटायें इनके मत में तो "दण्डिकारण्य" भी दण्डक नाम वाले राजा का देश ही शुक्र के शाप से वन वनगया, इसी प्रकार ऐसी २ असम्भव कथाओं से यह गीता की विभूतियों की व्याख्या करते हैं जो सर्वथा असम्भव है ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

पद०—आयुधानां । अहं । वज्रं । धेनूनां । अस्मि । कामधुक् । प्रजनः । च । अस्मि । कन्दर्पः । सर्पाणां । अस्मि । वासुकिः ॥

पदा०-हे अर्जुन ! (आयुधानां, अहं, वज्रं) शस्त्रों में मैं वज्र हूं (धेनूनां, अस्मि, कामधुक्) धेनुओं में कामधुक् नाम वाला धेनु (च) और (प्रजनः) सन्तति उत्पन्न करने वाला (कन्दर्पः, अस्मि) काम मैं हूं (सर्पाणां) सांपों की श्रेणी में (वासुकिः, अस्मि) वासुकि नाम वाला सर्प मैं हूं ॥

भाष्य-"वज्र" शब्द के अर्थ यहां "लोहसार" और "धेनु" शब्द के अर्थ "नवीन प्रसूता गौ" के हैं, "वासुकि" उस सांप का नाम है जो वसु नाम रत्नों के देश में रहता हो अर्थात् निधि पर रहने वाला ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

पद०—अनन्तः । च । अस्मि नागानां । वरुणः । यादसां । अहं । पितॄणां । अर्यमा । च । अस्मि । यमः । संयमतां । अहं ॥

पदा०—(अनन्तः, च, अस्मि, नागानां) हिमालय के वृक्षों में अनन्त नामा वृक्ष मैं हूं (वरुणः, यादसां, अहं) जलचरों में वरुण नाम जलचर मैं हूं (पितॄणां) रक्षा करने वालों में (अर्यमा) न्यायकारी मैं हूं (च) और (संयमतां) संयम करने वालों में से (अहं, यमः) पांच प्रकार का यम * मैं हूं ॥

* अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह, यह पांच "यम" कहाते हैं ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

पद०—प्रह्लादः । च । अस्मि । दैत्यानां । कालः । कलयतां । अहं । मृगाणां । च । मृगेन्द्रः । अहं । वैनतेयः । च । पक्षिणां ॥

पदा०—(दैत्यानां, प्रह्लादः अस्मि) दैत्यों में प्रह्लाद मैं हूं (च) और (कलयतां) गणना करने वालों में (अहं, कालः) "कालो विद्यते यस्य स कालः" = काल का जानने वाला ज्योतिर्वित् मैं हूं (च) और (मृगाणां) मृगादि पशुओं में (मृगेन्द्रः) सिंह (अहं) मैं हूं (च) और (पक्षिणां) पक्षियों में से (वैनतेयः) गरुड़ मैं हूं ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जान्हवी ॥ ३१ ॥

पद०—पवनः । पवतां । अस्मि । रामः । शस्त्रभृतां । अहं । झषाणां । मकरः । च । अस्मि । स्रोतसां । अस्मि । जान्हवी ॥

पदा०—(पवतां) वेग से चलने वालों में (पवनः, अस्मि) वायु मैं हूं (शस्त्रभृतां) शस्त्रधारियों में (रामः, अस्मि, अहं) राम मैं हूं (झषाणां) मत्स्य जाति में (मकरः) मगर मच्छ मैं हूं (च) और (स्रोतसां) स्रोत से वहने वाली नदियों में (जान्हवी अस्मि) गंगा मैं हूं ॥

सर्गाणामादिरंतश्च मध्यंचैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

पद०—सर्गाणां । आदिः । अन्तः । च । मध्यं । च । एव । अहं । अर्जुन । अध्यात्मविद्या । विद्यानां । वादः । प्रवदतां । अहं ॥

पदा०—हे अर्जुन ! (सर्गाणां) सब रचनाओं का (आदिः, अन्तः, च, मध्यं) आदि अन्त और मध्य मैं हूं (विद्यानां) सब विद्याओं में (अध्यात्मविद्या) ब्रह्मविद्या (अहं) मैं हूं (च) और (प्रवदतां, अहं, वादः) शास्त्रार्थ करने वालों की तीन कथाओं में से वाद मैं हूं ॥

भाष्य—" अहमादिश्चमध्यञ्चभूतानामन्तएव च " इस २० वें श्लोक में जो आदि, मध्य और अन्त कथन किया गया है वहां

भूतों का कथन है और यहां रचनाओं का कथन किया गया है, इसलिये पुन-रुक्ति दोष नहीं, " वाद " उसको कहते हैं जिसको राग से रहित पुरुष तत्वनिर्णय के लिये करते हैं, "जल्प" उस कथा का नाम है जिसमें दोनों अपने २ पत्त का स्थापन कर दूसरे के पत्त को उचितानुचित तर्कों द्वारा येनकेन प्रकार से दूषित करने का यत्न करते हैं, "वितण्डा" में उक्त दोनों से यह भेद है कि एक अपने पत्त का स्थापन करता और दूसरा उसका खण्डन ही करता है स्वपत्त मण्डन नहीं करता, इन तीन कथाओं में से " वाद " कथा रूप विभूति ईश्वर की है ॥

अत्तराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवात्तयः कालोधाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

पद०—अत्तराणां । अकारः, । अस्मि । द्वन्द्वः । सामासिकस्य । च । अहं । एव । अत्तयः । कालः । धाता । अहं । विश्वतोमुखः ॥

पदा०—(अत्तराणां) अत्तरों में (अकारः, अस्मि) अकार मैं हूं (च) और (सामासिकस्य, द्वन्द्वः) समासों में द्वन्द्व समास (अहं) मैं हूं (अत्तयः, कालः) त्तय से रहित काल (अहं) मैं हूं (धाता) सबका धारण कर्त्ता मैं हूं ॥

भाष्य—सब समासों में द्वन्द्व समास को विभूति इसलिये कहा है कि उसमें दोनों पदों का अर्थ प्रधान रहता है अर्थात् दोनों की समता रहती है, अन्य समासों में यह समता का भाव नहीं, और सब स्पष्ट है ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिमेधा धृतिः त्तमा ॥३४॥

पद०—मृत्युः । सर्वहरः । च । अहं । उद्भवः । च । भविष्यतां । कीर्त्तिः । श्रीः । वाक् । च । नारीणां । स्मृतिः । मेधा । धृतिः । त्तमा ॥

पदा०—(मृत्युः, सर्वहरः, च, अहं) सबके हरने वाली मृत्यु मैं हूं (च) और (भविष्यतां) होने वालों में (उद्भवः) उत्कर्ष मैं हूं (नारीणां) स्त्रियों में (कीर्त्तिः) यश (श्रीः) शोभा (वाक्) वाणी (स्मृतिः) स्मरणशक्ति (मेधा) सत्यासत्य को विचार करने की शक्ति (धृतिः) धारण शक्ति (त्तमा) शान्ति, यह सब मैं हूं ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहम् ऋतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

पद०-बृहत्साम । तथा । साम्नां । गायत्री । छन्दसां । अहं । मासानां । मार्गशीर्षः । अहं । ऋतूनां । कुसुमाकरः ॥

पदा०-(साम्नां) सामवेद के गान में (बृहत्साम) बृहत्साम मैं हूं (छन्दसां) वेदों में (गायत्री) गायत्री मैं हूं (मासानां) महीनों में (मार्गशीर्षः) माघ का महीना (अहं) मैं हूं (ऋतूनां) ऋतुओं में (कुसुमाकरः, अहं) फलों को खान वसंत मैं हूं ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्वं सत्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

पद०-द्यूतं । छलयतां । अस्मि । तेजः । तेजस्विनां । अहं । जयः । अस्मि । व्यवसायः । अस्मि । सत्वं । सत्ववतां । अहं ॥

पदा०-(छलयतां) छल करने वालों में (द्यूतं) देवनं द्यूतः=दिव्य नीति (अस्मि) मैं हूं अर्थात् राजधर्म में पालिसी मैं हूं (तेजस्विनां) तेजस्वियों में (तेजः, अहं)तेज मैं हूं, विजयी लोगों में (जयः) जीत मैं हूं, परिश्रमी लोगों में (व्यवसायः) उद्यम (अस्मि) मैं हूं (सत्ववतां) सत्वगुण की अधिकता वाले पुरुषों में धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य्य-रूप (सत्वं, अहं) सत्व मैं हूं ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशनाकविः ॥ ३७ ॥

पद०-वृष्णीनां । वासुदेवः । अस्मि । पाण्डवानां । धनंजयः । मुनीनां । अपि, अहं । व्यासः । कवीनां । उशनाकविः ॥

पदा०-(वृष्णीनां) यादवों में (वासुदेवः, अस्मि) वसुदेव का पुत्र वासुदेव=कृष्ण मैं हूं (पाण्डवानां) पाण्डवों में (धनंजयः) अर्जुन मैं हूं (मुनीनां, अपि, अहं, व्यासः) मननशीलों में व्यास मैं हूं (कवीनां) कवियों में (उशनाकविः) शुक्रकवि मैं हूं ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

पद०–दण्डः । दमयतां । अस्मि । नीतिः । अस्मि । जिगीषतां । मौनं । च । एव । अस्मि । गुह्यानां । ज्ञानं । ज्ञानवतां । अहं ॥

पदा०–(दमयतां) दुष्टों को दमन करने वालों का (दण्डः) दण्ड (अस्मि) मैं हूं (जिगीषतां) जय की इच्छा करने वालों में (नीतिः) नीति मैं हूं (गुह्यानां) गुप्त पदार्थों में (मौनं) वाणी को वशीभूत करने वाला मैं हूं (ज्ञानवतां) ज्ञानियों में (ज्ञानं) ज्ञान मैं हूं ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

पद०–यत् । च । अपि । सर्वभूतानां । बीजं । तत् । अहं । अर्जुन । न । तत् । अस्ति । विना । यत् । स्यात् । मया । भूतं । चराचरं ॥

पदा०–हे अर्जुन ! (यत्, च, अपि, सर्वभूतानां) जो कुछ भी सब भूतों का (बीजं) बीज (चराचरं) स्थावर हो अथवा जंगम हो (तत्, अहं) वह मैं हूं (न, तत्, अस्ति, भूतं) वह कोई वस्तु नहीं (यत्) जो (मया, विना) मेरे से विना (स्यात्) हो ॥

नांतोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एषतूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

पद०–न । अंतः । अस्ति । मम । दिव्यानां । विभूतीनां । परंतप । एषः । तु । उद्देशतः । प्रोक्तः । विभूतेः । विस्तरः । मया ॥

पदा०–हे परंतप ! (मम, दिव्यानां) मेरी प्रकाशवाली दिव्य (विभूतीनां) विभूतियों का (न, अंतः, अस्ति) अंत नहीं, और (एषः, विभूतेः, विस्तरः) यह विभूति का विस्तार जो तुमको कहा है (तु) यह तो (उद्देशतः) नाममात्र से (मया, प्रोक्तः) मैंने कथन किया है ॥

सं०–अब उपसंहार में सब विभूतियों का उपलक्षणरूप से नीचे लिखे दो श्लोकों में ग्रन्थन करते हैं:—

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

पद०–यत् । यत् । विभूतिमत् । सत्वं । श्रीमत् । ऊर्जितं । एव । वा । तत् । तत् । एव । अवगच्छ । त्वं । मम । तेजोंशसंभवं ॥

पदा०-(यत्, यत्) जो २ (विभूतिमत्) विभूति वाला (सत्वं) प्राणी (श्रीमत्) लक्ष्मी, शोभा, कान्ति वाला (वा) अथवा (ऊर्जितं) बलवाला पुरुष है (एव) निश्चयकरके (तत्, तत्, एव) उस २ को ही (त्वं) तुम (मम, तेजोंऽशसंभवं) मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुआ (अवगच्छ) जानो ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

पद०-अथवा । बहुना । एतेन । किं । ज्ञानेन । तव । अर्जुन । विष्टभ्य । अहं । इदं । कृत्स्नं । एकांशेन । स्थितः । जगत् ॥

पदा०-हे अर्जुन ! अथवा (एतेन, बहुना, ज्ञानेन, तव, किं) इस बहुत ज्ञान से तुमको क्या (इदं, कृत्स्नं, जगत्) इस सम्पूर्ण जगत् को (एकांशेन) एक अशरूप=एकदेशमात्र से (विष्टभ्य) धारण करके (अहं, स्थितः) मैं स्थित हूं ॥

भाष्य-इस विभूति योग का वर्णन यजु० ३१ । ३ में इस प्रकार किया गया है कि "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि"= यह सम्पूर्ण संसार उस परमेश्वर की महिमा अर्थात् उसके महत्व को बोधन करने वाला है और जिस पुरुष का यह महत्व है वह इससे बहुत बड़ा है, सम्पूर्ण संसार के भूत उस पुरुष के एक अंशरूप और वह अमृत अनन्त है, इत्यादि वेद मन्त्रों में उस परमात्मा के महत्व को सर्वोपरि कथन करके इस संसार की विभूतियों को उसका बोधक वर्णन किया है, इसी आशय को लेकर इस विभूति अध्याय के अन्तिम श्लोक में यह कहा है कि हे अर्जुन ! तुमको बहुत कहने से क्या प्रयोजन, मैं एक अंश से इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को थांम रहा हूं, यहां यह सन्देह उत्पन्न होता है कि इस सारे ब्रह्माण्ड के थमने की कृष्ण में ही कोई अपूर्व शक्ति होगी जो उन्होंने ऐसा कहा है, इसका उत्तर यह है कि यहां कृष्ण को सब का आश्रय होना कथन नहीं किया गया, यदि कृष्ण ही पूर्वोक्त विभूतियों को अपना आत्मा वर्णन करते तो इसी अध्याय के श्लो० ३७ में यह क्यों कहते कि " यादवों में वसुदेव का पुत्र कृष्ण मैं हूं " जब कृष्ण

अपने आप सब पदार्थों को अपनी विभूति वर्णन करते हैं तो उस विभूति में अपने आपको क्यों डालते, क्योंकि इस विभूति को तो उक्त मन्त्र में मरणधर्म वाली कथन किया है फिर कृष्ण साक्षात् ईश्वर होकर उस मरणधर्मा विभूति में अपने आपको क्यों गिनते, इससे पाया जाता है कि कृष्ण से भिन्न इन विभूतियों का कोई अन्य स्वामी है जो कान्तिवाली संसार की वस्तुओं को अपनी विभूति कथन करता है और वह अक्षर परमात्मा है, जैसाकि उक्त वेदमन्त्र से सिद्ध कियागया है, यदि यह कहाजाय कि वह परमात्मा कृष्णजी का अपना आप है, इसलिये कृष्णजी की ही उक्त सब विभूतियें हैं तो विवेचना करने योग्य यह है कि क्या वह परमात्मा कृष्णजी का कोई एक अंश है अथवा कृष्णजी उसका एक अंश हैं ? परमात्मा को कृष्णजी का अंश इसलिये नहीं कहसक्ते कि ऐसा कथन वेद तथा युक्ति और कृष्णजी के वाक्य से विरुद्ध है. वेदविरुद्ध इसलिये है कि वेद इस सम्पूर्ण संसार को परमात्मा का अंशमात्र कथन करता है अर्थात् एकदेशी बतलाता है, युक्ति से इसलिये विरुद्ध है कि वह असीम परमात्मा जिसके कृष्ण जैसे अनन्त आगमापायि उत्पन्न होकर उसकी विभूति में लय होजाते हैं उसको कृष्ण का अंश कैसे कहसक्ते हैं और कृष्णजी के वचन विरुद्ध इसलिये है कि "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" गी० १५।७ इस श्लोक में कृष्णजी जीव को अपना अंश कहते हैं ब्रह्म को नहीं, यदि दूसरे पक्ष में कृष्ण को ब्रह्म का अंश मानलिया जाय तब भी अवतारवादियों का कृष्णावतार निस्सार होजाता है, और "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं:" भागवत० १।३।२८ इत्यादि कृष्णावतारवादियों के वचन विरुद्ध पड़जाते हैं, क्योंकि इन वाक्यों में अन्य अवतारों को परमेश्वर का अंश और कृष्ण को साक्षात् ईश्वर माना है, इस प्रकार विचार करने से इन विभूतियों का स्वामी कृष्ण प्रतीत नहीं होता किन्तु कोई अन्य है जिसकी कृष्ण भी एक विभूति हैं, इसलिये स्वामी रामानुज ने इस अध्याय के अन्तिम श्लोक का यह भाष्य किया है कि "बहुनैतेनोच्यमानेन ज्ञानेन किं प्रयोजनमिदं चिदचिदात्मकं कृत्स्नं जगत्कार्या-

वस्थं कारणावस्थं स्थूल सूक्ष्म च स्वरूपसद्भावे स्थितो प्रवृत्ति भेदे च यथा मत्संकल्पं नातिवर्त्तेत तथा मम महिम्नः अयुतायुतांशेन विष्टभ्याहमवस्थितः" श्री० भा० = बहुत कथन किये गये इस ज्ञान से क्या प्रयोजन, यह सब जड़ चेतनरूप जगत् कार्य्यावस्था तथा कारणावस्था को प्राप्त हुआ स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपों में उस परमात्मा की इच्छा को उल्लङ्घन नहीं करसक्ता इसलिये "विष्टभ्याहमवस्थितः" कहा है कि इस सबको थामकर मैं ही स्थिर होरहा हूं और यही अर्थ बृहदारण्यक के अन्तर्यामी ब्राह्मण में उपपादन कियागया है, इससे पायागया कि कृष्ण ने परमात्मा के साथ अभेदोपासनारूप योग को उपलब्ध करके ऐसा कहा है, जैसाकि गी० १०।१७।१८ में कृष्ण को योगी और उनकी विभूतियोग का प्रश्न करके अर्जुन ने इन विभूतियों को श्रवण किया है॥

ननु-माना कि कृष्ण ने योगजसामर्थ्य से ही इन विभूतियों को अपनी कहा पर मुख्य यह परमात्मा ही की विभूतियें हैं, ऐसा मानने पर भी परमात्मा को यह क्या शोभा देता है कि कहीं वृक्षों में पीपल मैं हूं, कहीं दमन करने वालों में दण्ड मैं हूं, कहीं छलों में पालिसी मैं हूं, इत्यादि यह क्या विभूतियें हैं? उत्तर—इस विभूति अध्याय को यदि कोई चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा वैदिक मति से पढ़े तो हमारे विचार में यह सन्देह उत्पन्न नहीं होता कि यह विभूतियें तुच्छ हैं, क्योंकि महर्षिव्यास ने इस चराचर संसार की चमत्कार वाली वस्तुओं को परमात्मा की विभूतिरूप से वर्णन किया है, उक्त विभूतियों से विभूषित परमात्मा के इस कार्य्य जगत् को जब तक कोई इस दिव्यदृष्टि से अवलोकन नहीं करता तबतक उसके लिये कल्याण की आशा दुराशा है, जिसके विचार में चक्रवर्त्तियों का दण्ड परमात्मा की विभूति नहीं, जिसके विचार में कृष्णजी जैसे नीतिनिपुण परमात्मा की विभूति नहीं, जिसके विचार में द्वन्द्व समास के समान समता का भाव परमात्मा की विभूति नहीं, जिसके विचार में कपिलादि मुनियों की मननरूप सिद्धि ईश्वर की विभूति नहीं, वह इन अनन्त विभूतियों से विभूषित संसार में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस फलचतुष्टय के सार को नहीं जानसकता, इस विभूति अध्याय में व्यासजी ने दिक्प्रदर्शन किया है अर्थात् नाममात्र से परमात्मा की सामर्थ्यों को वर्णन किया है, पर जिन

लोगों ने वेद भगवान् के रुद्राध्याय का पाठ किया है उनको ज्ञात होगा कि रुद्ररूपधारी वीरों की कैसी२ विभूतिये परमात्मा ने वर्णन की हैं, अधिक क्या, जिन लोगों ने कभी सन्ध्या को सार्थक पढ़ा है वह इस विभूति अध्याय के मर्म को जानसक्ते हैं कि उक्त विभूतिये परमात्मा के निरूपण में कहां तक अलङ्कार का काम देती हैं ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीता-योगप्रदीपार्य्यभाष्ये, विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः

अथ एकादशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सङ्गति—पूर्वाध्याय में ईश्वर की कतिपय विभूतियों को कृष्णजी ने अपने योगद्वारा वर्णन किया, अब इस अध्याय में अर्जुन कृष्ण की परम अनुग्रह की प्रशंसा करता हुआ विश्वरूप दर्शन की इच्छा करता है, विश्वरूप से यहां तात्पर्य्य यह है कि जिस विश्व में से कतिपय विभूतिये कृष्णजी ने अर्जुन के प्रति कथन की हैं उस विश्वरूप के दर्शन को अर्जुन योगजसामर्थ्य से देखने की इच्छा करते हैं, और वह योगजसामर्थ्य यह है कि "परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्" यो० ३ । १६ = धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों का जो संयम उससे भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान् का ज्ञान होजाता है इस योगजसामर्थ्य से विश्वरूप दर्शन के लिये कृष्णजी से अर्जुन ने कहा कि:—

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

पद०—मदनुग्रहाय । परमं । गुह्यं । अध्यात्मसज्ञितं । यत् । त्वया ।

उक्तं । वचः । तेन । मोहः । अयं । विगतः । मम ॥

पदा०–(मदनुग्रहाय) मेरे अनुग्रह के लिये (यत्, वचः) जो वचन (त्वया) तुमने (उक्तं) कहा (तेन) उस वचन से (मोहः, अयं, विगतः, मम) मेरा मोह निवृत्त होगया, वह आपका वचन (गुह्यं) गुप्त (अध्यात्मसंज्ञितं) ब्रह्मविद्या विषयक (परमं) सर्वोत्तम है ॥

भाष्य–वह वचन यह है कि जिसने " अशोच्यानन्वशोचस्त्वं " गी० २ । ११ से लेकर " नैनंछिन्दन्तिशस्त्राणि " गी० २ । २३ इत्यादि श्लोकों द्वारा आत्मा की नित्यता वर्णन करके सम्बन्धियों की मृत्युविषय अर्जुन का मोह निवृत्त कर उसको अभय दान दिया ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

पद०–भवाप्ययौ । हि । भूतानां । श्रुतौ । विस्तरशः । मया । त्वत्तः । कमलपत्राक्ष । माहात्म्यं । अपि । च । अव्ययं ।

पदा०–(कमलपत्राक्ष) हे कमलपत्र के सदृश नेत्रों वाले अर्थात् विशाल नेत्रों वाले कृष्ण ! (त्वत्तः) तुम्हारे से (भूतानां, भवाप्ययौ) प्राणियों का भव = उत्पत्ति, अप्यय = नाश यह दोनों (विस्तरशः) विस्तारपूर्वक (मया) मैंने (श्रुतौ) सुने (च) और (अव्ययं) विनाशरहित (माहात्म्यं) परमात्मा का महत्व (अपि) भी सुना ॥

भाष्य–सातवें अध्याय में जो भूतों की उत्पत्ति और प्रलय का कथन किया गया है वह आपसे सुना, तथा "यः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति" गी०८। २० इत्यादि श्लोकों में अव्यय परमात्मा का महत्व भी सुना, और " एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः " गी० १० । ७ "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" गी० १० । ८ इत्यादि श्लोकों में जो आपने अपनी विभूतियोगद्वारा परमात्मभाव से अपने आपको कथन किया है वह महत्व भी सुना ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

पद०-एवं । एतत् । यथा । आत्थ । त्वं । आत्मानं । परमेश्वर । द्रष्टुं । इच्छामि । ते । रूपं । ऐश्वरं । पुरुषोत्तम ॥

पदा०-हे परमेश्वर ! (एवं) उक्त प्रकार (यथा) जैसे (आत्मान, त्वं, आत्थ) तुम अपने आपको कहते हो (ऐश्वरं) ईश्वर में होने वाला (ते, एतत्, रूपं) वह तुम्हारा रूप हे पुरुषोत्तम ! (द्रष्टुं, इच्छामि) मैं देखने की इच्छा करता हूं ॥

भाष्य-इस श्लोक में अर्जुन ने उस रूप के देखने की इच्छा प्रकट की है जिसको योगेश्वर कृष्ण ने आत्मतत्त्वोपासना के अभिप्राय से विभूति-योग में कथन किया है, कृष्ण का वह रूप अपना नहीं किन्तु "ऐश्वर" इस कथन से स्पष्ट पाया जाता है कि वह रूप ईश्वर में होने वाला विश्वरूप = विराट्रूप है, परमेश्वर और पुरुषोत्तम यह दो सम्बोधन इस अभिप्राय से दिये गये हैं कि परमेश्वर कहने से कृष्ण के परमात्मा होने का अज्ञानियों को सन्देह उत्पन्न होता था इसलिये पुरुषोत्तम कहा जो सब पुरुषों में उत्तम हो उसको "पुरुषोत्तम" कहते हैं ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

पद०-मन्यसे । यदि । तत् । शक्यं । मया । द्रष्टुं । इति । प्रभो । योगेश्वर । ततः । मे । त्वं । दर्शय । आत्मानं । अव्ययं ॥

पदा०-(योगेश्वर) योगियों में बड़े योगी हे कृष्ण ! (यदि) यदि (तत्, मया, द्रष्टुं, शक्यं) वह रूप मेरे से देखा जासक्ता है (इति, मन्यसे, ततः) ऐसा मानते हो तो (प्रभो) हे स्वामिन् ! (मे) मुझको (त्वं) तुम (अव्ययं, आत्मानं) उस अव्यय आत्मा को (दर्शय) दिखलाओ ॥

भाष्य-इस श्लोक का आशय यह है कि यदि मैं उस रूप को देख सकता हूं तो हे योगेश्वर कृष्ण ! मुझे भी उस आत्मा अव्यय का साक्षात्कार कराओ और वह साक्षात्कार धारणा, ध्यान, समाधि के संयम = योगजसामर्थ्य से होता है, इसलिये अर्जुन ने अपने में वह सामर्थ्य न पाते हुए डरते २ ही उस रूप के दर्शन की इच्छा की है ॥

सं०—अब कृष्णजी अपने योगजसामर्थ्य से देखे हुए उस विश्वरूप को अर्जुन के प्रति दिखलाते हुए कथन करते हैं :—

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानिदिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

पद०—पश्य । मे । पार्थ । रूपाणि । शतशः । अथ । सहस्रशः । नानाविधानि । दिव्यानि । नानावर्णाकृतीनि । च ॥

पदा०—हे पार्थ ! (पश्य, मे, रूपाणि) मेरे रूपों को देख (शतशः) जो सैकड़ों (अथ, सहस्रशः) अथवा हज़ारों हैं (नानाविधानि) जो नानाविध (दिव्यानि) दिव्य = प्रकाशरूप (च) और (नानावर्णाकृतीनि) जिनके नाना प्रकार के रंग तथा आकृतियें हैं ॥

पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

पद०—पश्य । आदित्यान् । वसून् । रुद्रान् । अश्विनौ । मरुतः । तथा । बहूनि । अदृष्टपूर्वाणि । पश्य । आश्चर्याणि । भारत ॥

पदा०—हे भारत ! (पश्य, आदित्यान्) सूर्यों को देख (वसून्) वसुओं को (रुद्रान्) रुद्रों को (अश्विनौ) नक्षत्रों को (मरुतः) वायुओं को तथा (बहूनि, आश्चर्याणि) बहुत से आश्चर्यों को (अदृष्टपूर्वाणि) जो आगे कभी नहीं देखे उन सब को (पश्य) देख ॥

सं०—अब कृष्ण अपने परमात्मरूप देह में इस जगत् को दिखलाते हैं:—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

पद०—इह । एकस्थं । जगत् । कृत्स्नं । पश्य । अद्य । सचराचरं । मम । देहे । गुडाकेश । यत् । च । अन्यत् । द्रष्टुं । इच्छसि ॥

पदा०— (इह) इस परमात्मरूप (मम, देहे) मेरे देह के (एकस्थं) एकदेश में स्थित (कृत्स्नं) सम्पूर्ण जगत् को (अद्य, पश्य) आज देख (गुडाकेश) हे निद्रा को जीतने वाले अर्जुन ! वह जगत् कैसा है जो

(सचराचरं) चराचर सहित है (यत्, च, अन्यत्, द्रष्टुं, इच्छसि) जो और देखना चाहता है वह भी देख ॥

भाष्य—"जो और देखना चाहता है वह भी देख" इसका तात्पर्य्य यह है कि जब तुमको योगजसामर्थ्य प्राप्त होजायगा तब उस धारणा, ध्यान, समाधि के एकत्रसंयम से अतीत और अनागत पदार्थों का भी ज्ञान होगा, फिर तुम केवल इस वर्त्तमान के चराचर जगत् को ही नहीं किन्तु भूत, भविष्यत् जगत् को भी मेरे में देखोगे ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

पद०-न । तु । मां । शक्यसे । द्रष्टुं । अनेन । एव । स्वचक्षुषा । दिव्यं । ददामि । ते । चक्षुः । पश्य । मे । योगं । ऐश्वरं ॥

पदा०-(मां) मुझको (अनेन) इस (स्वचक्षुषा) अपने चक्षु से (एव) निश्चयकरके (न, द्रष्टुं, शक्यसे) तुम नहीं देख सक्ते (दिव्यं, ददामि, ते, चक्षुः) मैं तुमको दिव्य चक्षु देता हूं जिनसे (मे) मेरे (ऐश्वरं, योगं) ईश्वरविषयक योग को (पश्य) देख ॥

भाष्य-इस श्लोक में यह स्पष्ट करदिया कि तुम्हारे प्राकृत नेत्र = चर्मचक्षु उस दिव्यरूप को नहीं देखसक्ते, उस दिव्यरूप को दिव्यचक्षु ही देखसक्ते हैं, इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस योग की सामर्थ्य से कृष्णजी ने उस विश्वरूप को देखा था उसी योग की सामर्थ्य से वह विश्वरूप अर्जुन को दिखलाया अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि के संयम से कृष्ण ने इस रूप को देखा था और इसी सामर्थ्य से अर्जुन को दिखलाया, इस धारणा, ध्यान, समाधि के एकत्रसंयम का नाम ही दिव्यचक्षु है ॥

सं०—जो रूप कृष्ण ने अर्जुन को दिखलाया, अब संजय निम्नलिखित छ श्लोकों द्वारा उस रूप को धृतराष्ट्र के प्रति कथन करते हैं:—

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

पद०—एवं । उक्त्वा । ततः । राजन् । महायोगेश्वरः । हरिः । दर्शयामास । पार्थाय । परमं । रूपं । ऐश्वरं ॥

पदा०—हे राजन् ! (एवं, उक्त्वा) यह कहकर (ततः) इसके अनन्तर (महायोगेश्वरः, हरिः) महायोगेश्वर कृष्ण ने (परमं, ऐश्वरं, रूपं) परम ईश्वर विषयक रूप (पार्थाय) अर्जुन को (दर्शयामास) दिखलाया ॥

सं०—अब संजय उस रूप का वर्णन करते हैं:—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

पद०—अनेकवक्त्रनयनं । अनेकाद्भुतदर्शनं । अनेकदिव्याभरणं । दिव्यानेकोद्यतायुधं ॥

पदा०—(अनेकवक्त्रनयनं) जिसमें अनेक मुख तथा नेत्र (अनेकाद्भुतदर्शनं) अनेक अद्भुतदर्शन (अनेकदिव्याभरणं) अनेक सुन्दर आभूषण, और (दिव्यानेकोद्यतायुधं) जिसमें प्रकाश वाले अनेक शस्त्र उठाये हुए हैं, फिर वह रूप कैसा है:—

दिव्यमाल्यांवरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

पद०—दिव्यमाल्यांवरधरं । दिव्यगन्धानुलेपनं । सर्वाश्चर्य्यमयं । देवं । अनन्तं । विश्वतोमुखं ॥

पदा०—(दिव्यमाल्यांवरधरं) जिस रूप में दिव्य मालायें, दिव्य वस्त्रों का धारण (दिव्यगन्धानुलेपनं) दिव्य गन्धवाली वस्तुओं का लेपन (सर्वाश्चर्यमयं) जो सर्व प्रकार से आश्चर्यमय है (देवं) प्रकाश वाला (अनन्तं) अनन्त और (विश्वतोमुखं) सर्वत्र मुखादि अवयवों का सामर्थ्य है जिसमें, ऐसा रूप कृष्णजी ने अर्जुन को दिखलाया ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

पद०—दिवि । सूर्य्यसहस्रस्य । भवेत् । युगपत् । उत्थिता । यदि । भाः । सदृशी । सा । स्यात् । भासः । तस्य । महात्मनः ॥

पदा०-(सूर्य्यसहस्रस्य) हज़ार सूर्य्यों की (भाः) प्रभा (यदि, युगपत्, उत्थिता, भवेत्) यदि एक ही समय में उदय हो तो (सा) वह प्रभा (तस्य, महात्मनः, भासः, सदृशी) उस महात्मा के प्रकाश सदृश = बराबर (स्यात्) हो ॥

भाष्य-संजय उस स्वरूप की महिमा इस प्रकार कथन करते हैं कि जिस प्रकार असंख्यात सूर्य्यों के उदय होने से प्रभा होती है इस प्रकार उसकी प्रभा थी, ठीक है लौकिक मनुष्यों को इस ब्रह्माण्ड में एक ही सूर्य्य दृष्टिगत होता है पर जिनका परिणाम त्रय के संयम द्वारा उस परमात्मा से योग है उनकी दृष्टि में सहस्रों सूर्य्यों की प्रभा इस विश्वरूप = विराट्रूप में उदय होरही हैं ॥

सं०-अर्जुन ने जिस प्रकार उस महात्मा के शरीर में इस रूप को देखा वह प्रकार अब संजय वर्णन करते हैं:—

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

पद०-तत्र । एकस्थं । जगत् । कृत्स्नं । प्रविभक्तं । अनेकधा । अपश्यत् । देवदेवस्य । शरीरे । पाण्डवः । तदा ॥

पदा०-(तत्र) उस परमात्मस्वरूप के (एकस्थं, कृत्स्नं, जगत्) एक देश में स्थित सम्पूर्ण जगत् को जो (अनेकधा, प्रविभक्तं) अनेक प्रकार से भिन्न २ है (पाण्डवः) अर्जुन ने (तदा) उस समय (देवदेवस्य, शरीरे) देवों को देव जो परमात्मा है उसके पृथिवी आदि शरीरों में (अपश्यत्) देखा ॥

भाष्य-ननु, सातवें श्लोक में कृष्ण के परमात्मरूप देह में इस विश्वरूप का कथन किया गया है और यहां प्रकृतिरूप देह में विश्वरूप का कथन किया गया है, यह परस्पर विरोध क्यों ? उत्तर-"मम" शब्द के अर्थ यहां परमात्मा की अभेदोपासना के अभिप्राय से परमात्मा के हैं और सातवें श्लोक में सर्वव्यापकता के भाव से सबको ढांप लेने वाला होने से परमात्मा को देह कथन किया गया है, और यहां देवों के देव परमात्मा को कृष्णजी ने तद्गुणप्राप्ति द्वारा आत्मा मानकर उस अपने आत्मभूत परमात्मा के प्रकृतिरूप शरीर में विश्वरूप का कथन किया

है, इसलिये कहीं २ अधिकरण के भाव से परमात्मा में और कहीं तादात्म्यभाव से परमात्मा के प्रकृतिरूप शरीर में विश्वरूप वर्णन किया गया है, पर वास्तव में यह रूप प्रकृति का ही है, अतएव कोई दोष नहीं ॥

यह वही वैदिकरूप है जिसको "सहस्रशीर्षादि" मन्त्रों में वर्णन कियागया है, यह वही वैदिकरूप है जिसको "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि" यजु० ३१।३ मन्त्र में वर्णन किया है, यह वही वैदिक रूप है जिसको "विश्वतश्चक्षुरुतविश्वतो मुखः" यजु० १०।१९ में वर्णन किया है, यह वही वैदिकरूप है जिसका वर्णन "तद्विष्णो परमं पदं सदापश्यन्ति सूरयः" अथर्व० ७ । ३ । ६ मंत्र में किया है, कहां तक कहें इस रूप को वेद के सहस्रों मन्त्रों ने वर्णन किया है, तब भी कृष्ण को ईश्वर बनाने वाले लोग उक्त मन्त्रार्थ को भुलाकर इस विश्वरूप को कृष्ण का ही रूप वर्णन करते हैं, यदि यहां कृष्ण के रूप से ही तात्पर्य्य होता तो उक्त श्लोक में "पादोऽस्यविश्वाभूतानि" इस वेद मन्त्र से यह अर्थ क्यों लिया जाता कि उसके एकदेश में यह सम्पूर्ण जगत् स्थिर है, और यदि इन श्लोकों में कृष्ण ही अपने आपको ईश्वर मानकर अपना रूप दर्शाते तो कृष्ण को इस अध्याय में योगेश्वर क्यों कहाजाता, हमारे विचार में यह विराट्रूप है जिसका वर्णन यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय में है, यह वही विराट्रूप है जिसका वर्णन सामवेद के छन्दार्चिक अध्याय ६ में है, कृष्णजी ने अपने योगजसामर्थ्य से उसी रूप को अर्जुन को दिखलाया है और अर्जुन ने उस रूप को देखकर अर्थवाद से योगेश्वर कृष्ण की स्तुति की है जिससे लोग भूल में पड़जाते हैं, या यों कहो कि योगी कृष्ण की अणिमादि सिद्धियों में से महिमा सिद्धि को व्यासजी ने अर्थवाद से बढ़ा दिया है, और इस प्रकार वर्णन करने का यह भी तात्पर्य्य है कि उस योगेश्वर कृष्ण ने अपने योगज महत्व को दिखलाकर अर्जुन को अपना अनुयायी किया था, उस महत्व को अर्थवाद से वर्णन करना यहां इसलिये परम प्रयोजन था कि इस प्रकार विराट्रूप द्वारा ईश्वरीय भावों का वर्णन अलङ्काररूप से अन्य किसी ग्रन्थ

में नहीं पायाजाता जिसको देखकर नास्तिक से नास्तिक के हृदय में भी अत्यन्त भय उत्पन्न हो ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥ १४ ॥

पद०—ततः । सः । विस्मयाविष्टः । हृष्टरोमा । धनंजयः । प्रणम्य । शिरसा । देवं । कृतांजलिः । अभाषत ॥

पदा०—(ततः) उस विश्वरूप को देखने के अनन्तर (सः, धनंजयः) वह अर्जुन (विस्मयाविष्टः) आश्चर्यमय हुआ २ (हृष्टरोमा) हर्ष की प्राप्ति से खड़े होगये हैं रोमांच जिसके, ऐसा अर्जुन (शिरसा) शिर से (देवं) उस देव कृष्ण को (प्रणम्य) प्रणाम करके (कृतांजलिः) हाथ जोड़कर (अभाषत) बोला किः—

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

पद०—पश्यामि । देवान् । तव । देव । देहे । सर्वान् । तथा । भूतविशेषसंघान् । ब्रह्माणं । ईशं । कमलासनस्थं । ऋषीन् । च । सर्वान् । उरगान् । च । दिव्यान् ॥

पदा०-(देव) हे दिव्यगुणसम्पन्न ! (तव, देहे) तुम्हारी इस विराट्रूप देह में (देवान्) सूर्य्यादि देव (भूतविशेषसंघान्) पृथिवी आदि भूतविशेषों के समुदाय नक्षत्र (ऋषीन्) ऋषि (तथा) और (उरगान्, च, दिव्यान्) पेट के बल चलने वाले सांप (सर्वान्) इन सब और (ब्रह्माणं, ईशं, कमलासनस्थं, पश्यामि) ईश्वर ब्रह्म को कमला नाम प्रकृतिरूप आसन पर स्थित देखता हूं ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपं ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥१६॥

पद०—अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं । पश्यामि । त्वां । सर्वतः । अनन्तरूपं । न । अंतं । न । मध्यं । न । पुनः । तव । आदिं । पश्यामि । विश्वेश्वर । विश्वरूप ॥

पदा०-हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! (अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं) अनेक हैं बाहु, उदर, मुख तथा नेत्र जिसमें, और (पश्यामि, त्वां, सर्वतः, अनन्तरूपं) सब ओर से अनन्तरूप जो तुम हो तुम्हें मैं देखता हूं (न, अंतं, न, मध्यं) न तुम्हारा अंत है न मध्य है (न, पुनः, तव, आदिं) और न तुम्हारा आदि है ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

पद०-किरीटिनं । गदिनं । चक्रिणं । च । तेजोराशिं । सर्वतः । दीप्तिमंतं । पश्यामि । त्वां । दुर्निरीक्ष्यं । समंतात् । दीप्तानलार्कद्युतिं । अप्रमेयं ॥

पदा०-(सर्वतः, दीप्तिमंतं, त्वां, पश्यामि) सब ओर से प्रकाश वाले तुमको मैं देखता हूं, तुम कैसे हो ? जो तेज के प्रभाव से (समंतात्, दुर्निरीक्ष्यं) सब ओर कठिनता से देखे जासक्ते हो, फिर कैसे हो (दीप्तानलार्कद्युतिं) जलती हुई अग्नि और सूर्य्य के समान है प्रकाश जिसका, फिर कैसे हो (अप्रमेयं) योगेश्वर होने से प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं (तेजोराशिं) तुम तेज का समूह (चक्रिणं) चक्रवाले (गदिनं) गदावाले, और (किरीटिनं) किरीटि वाले हो ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

पद०-त्वं । अक्षरं । परमं । वेदितव्यं । त्वं । अस्य । विश्वस्य । परं । निधानं । त्वं । अव्ययः । शाश्वतधर्मगोप्ता । सनातनः । त्वं । पुरुषः । मतः । मे ॥

पदा०-(परमं, वेदितव्यं, त्वं, अक्षरं) जानने योग्य परम अक्षर तुम हो (अस्य, विश्वस्य) इस संसार का (परं, निधानं) परम आश्रय (त्वं) तुम हो (त्वं, अव्ययः) तुम अव्यय हो (शाश्वतधर्मगोप्ता) तुम अनादि काल से प्रवृत्त धर्म के गोप्ता नाम रक्षक हो (सनातनः, त्वं, पुरुषं) तुम सनातन पुरुष (मे, मतः) मुझको सम्मत हो ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्य्यनेत्रम् ।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपंतम्॥१६॥

पद०—अनादिमध्यान्तं । अनन्तवीर्यं । अनन्तबाहुं । शशिसूर्य्यनेत्रं । पश्यामि । त्वां । दीप्तहुताशवक्त्रं । स्वतेजसा । विश्वं । इदं । तपन्तं ॥

पदा०—(अनादिमध्यान्तं) तुम आदि, मध्य तथा अन्त से रहित (अनन्तवीर्यं) अनन्तवीर्य = महाबल वाले हो (अनन्तबाहुं) अनंत भुजा वाले (शशिसूर्य्यनेत्रं) चन्द्र और सूर्य्यरूप नेत्रों वाले हो, फिर तुम कैसे हो (दीप्तहुताशवक्त्रं) जलती हुई अग्नि के समान मुख वाले, और (स्वतेजसा) अपने तेज से (इदं, विश्वं) इस विश्व को (तपंतं) तपा रहे हो (त्वां) तुमको (पश्यामि) मैं देखता हूं ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

पद०—द्यावापृथिव्योः । इदं । अन्तरं । हि । व्याप्तं । त्वया । एकेन । दिशः । च । सर्वाः । दृष्ट्वा । अद्भुतं । रूपं । उग्रं । तव । इदं । लोकत्रयं । प्रव्यथितं । महात्मन् ॥

पदा०—हे महात्मन् ! (द्यावापृथिव्योः) द्यौ और पृथिवी का (इदं, अन्तरं) यह जो मध्य है (हि) निश्चय करके (एकेन, त्वया, व्याप्तं) एक तुम से ही व्याप्त होरहा है (च) और (दिशः, च, सर्वाः) पूर्वोत्तरादि सब दिशायें एक तुम्हीं से भर रही हैं (तव, इदं, अद्भुतं, रूपं) तुम्हारे इस अद्भुत और उग्ररूप को (दृष्ट्वा) देखकर (लोकत्रयं,प्रव्यथितं) तीनों लोक व्यथा को प्राप्त होरहे हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में उस विश्वरूप का वर्णन है जिससे प्रकाश लोक और पृथिवी लोक के बीच का भाग सब पूर्ण होरहा है और जिससे पूर्वोत्तरादि सब दिशायें भर रही हैं, अधिक क्या, उस तेजस्वीरूप से तीनों लोक डर रहे हैं, यह रूप कृष्ण का कदापि नहीं होसकता, यदि यह रूप कृष्ण का होता तो ऐसे भयानक रूप से जब तीनों लोक डरते थे तो दुर्योधनादिकों ने डरकर क्षमा क्यों न मांगी, यदि यह कहो कि तीनो लोकों का डरना उपचार से कहा गया है जिसका मुख्य तात्पर्य्य यह है कि उस समय कृष्ण का भयानक रूप था तो जब

"लोकत्रयंप्रव्यथितं" यह उपचार है तो पृथिवी से लेकर प्रकाश लोक तक सब स्थानों में कृष्ण ही फैल गया था यह उपचार क्यों नहीं ? इस प्रकार जब यह उपचार है अर्थात् परमेश्वर का भयानक रूप वर्णन करने के लिये एक अलंकार है तो फिर "महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्तेभवन्ति" कठ० ६ । २ और "भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य्यः" कठ० ६ । ३ = उठाये हुए वज्र के समान परमात्मा भय का कारण है, उसी के भय से अग्नि तपती और उसी के भय से सूर्य्य तपता है, इत्यादि उपनिषदों में वर्णन किये हुए परमात्मा का ही यह भयानकरूप क्यों न लिया जाय, क्योंकि गीता उपनिषदों का सार है और अवतारवादियों के मत में भी यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं, फिर हम पूछते हैं कि यह भयानक रूप गीता के कर्ता ने कहां से लिया, यदि उपनिषदों से लिया तो पूर्वोक्त मन्त्रों में वर्णन किया हुआ यह परमात्मा का रूप है ॥

ननु-उपनिषदों में इस विश्वरूप का विशेष वर्णन नहीं, इसका विशेष वर्णन श्रीमद्भागवत में है जिसमें मिट्टी खाते समय यशोदा को मुख दिखलाते हुए कृष्ण ने अपने मुख में ही त्रिलोकी दिखला दी थी, फिर कैसे कहा जाता है कि यह कृष्ण का रूप नहीं ? ।

उत्तर-मिट्टी खाते हुए त्रिलोकी को मुख में दिखला देना कृष्ण की सामर्थ्य में कहां तक सम्भव था इसका विवेचन तो हम पीछे करेंगे, अब इस बात का विवेचन करते हैं कि भागवत का वर्णन किया हुआ विश्वरूप उलटा गीता में कैसे चला गया ? और यह स्पष्ट है कि गीता भागवत से प्रथम है, जिस समय गीता का निर्माण हुआ है उस समय भागवत पुराण का जन्म न था, यदि होता तो जिसप्रकार "ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" गी० १३ । ४ में व्यास रचित ब्रह्मसूत्रों का नाम है इसी प्रकार व्यास रचित भागवत का नाम क्यों न लिखा ? यह बात तो सर्वसम्मत है कि भागवत व्याससूत्रों से बहुत पीछे बना है और व्यास सूत्रों के भाष्य में स्वामी शं० चा० और रामानुज आदि आचार्य्य गीता के विषयवाक्य रखते हैं, इस रीति से उनके मन्तव्यानुकूल गीता व्यास

सूत्रों से भी प्रथम पाई जाती है फिर इस आधुनिक पुराण के विश्वरूप की कथा गीता में कैसे ? यह वही परमात्मा का विश्वरूप है जिसके भय से सूर्य्य चन्द्रमादिकों का तपना कथन किया है, अद्वैतवादी इस रूप से यह लाभ उठाते हैं कि जब सूर्य्य चन्द्रमादि नेत्रों वाला सब परमेश्वर ही वर्णन किया गया है तो "ब्रह्मैवेदंसर्वं" मुण्डक० २।२।११ "आत्मैवेदंसर्वं" छा० ७।२५।२ "इदंसर्वंयदयमात्मा" बृहदा० २।४।६ "नान्यतोस्ति द्रष्टाः" बृहदा० ३।७।२३ "नान्यदतोऽस्तिद्रष्टृ" बृहदा०३।८।१२ "सदेवसोम्येदमग्रआसीत एकमेवाद्वितीयम्" छा० ६।२।१ इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में वर्णित सब जड़ चेतन वस्तुजात ब्रह्म क्यों नहीं ? इन सब का अर्थ हम "वेदान्तार्य्यभाष्य" ब्र० सू० १।४।२२ में कर आये हैं जो देखना चाहें वहां देखलें, उक्त उपनिषद्वाक्यों के मिथ्यार्थों से मायावादियों का मनोरथ यहां कदापि सिद्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि यह रूप यहां कृष्ण ने युद्ध के भावी परिणाम दिखलाने के लिये दिखलाया है न कि जीव ब्रह्म की एकता के लिये ॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वामहर्षिसिद्धसंघाःस्तुवन्तित्वांस्तुतिभिःपुष्कलाभिः।

पद०—अमी। हि। त्वां। सुरसंघाः। विशन्ति। केचित्। भीताः। प्रांजलयः। गृणन्ति। स्वस्ति। इति। उक्त्वा। महर्षिसिद्धसंघाः। स्तुवन्ति। त्वां। स्तुतिभिः। पुष्कलाभिः॥

पदा०—(हि) निश्चयकरके (अमी) यह (सुरसंघाः) देवताओं के समुदाय (त्वां, विशन्ति) तुम में प्रवेश करते हैं और (केचित्) कई एक (भीताः) डरे हुए पुरुष (प्रांजलयः) हाथ जोड़कर (गृणन्ति) स्तुति करते हैं (महर्षिसिद्धसंघाः) महर्षि सिद्ध लोगों के समुदाय (स्वस्ति, इति, उक्त्वा) इस संसार का कल्याण हो यह कहकर (पुष्कलाभिः, स्तुतिभिः) बहुत स्तुतियों से (त्वां, स्तुवन्ति) तुम्हारी स्तुति करते हैं ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।

गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षंते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

पद०-रुद्रादित्याः । वसवः । ये । च । साध्याः । विश्वे । अश्विनौ । मरुतः । च । ऊष्मपाः । च । गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः । वीक्षन्ते । त्वां । विस्मिताः । च । एव । सर्वे ॥

पदा०-रुद्र, आदित्य, वसु, सांध्य, विश्वदेव, अश्विनौ, मरुत और ऊष्मपा इत्यादि गुणसम्पन्न उक्त नामों वाले मनुष्य (च ' और (गंधर्वयक्षासुरसिद्धसघाः) गंधर्व=गानेवाले, यक्ष=अद्भुत सामर्थ्य से पूज्य, असुर = असंस्कारी, सिद्धसंघाः = सिद्धों के समूह (सर्वे, एव) यह सब (विस्मिताः) आश्चर्य्य होकर (त्वां, वीक्षन्ते) तुमको देखते हैं ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥२३॥

पद०-रूप । महत् . ते । बहुवक्त्रनेत्रं । महाबाहो बहुबाहूरुपादं । बहूदरं । बहुदंष्ट्राकरालं । दृष्ट्वा । लोकाः । प्रव्यथिताः । तथा । अहं ।

पदा०-हे महाबाहो ! (ते, महत्, रूपं) तुम्हारा जो बड़ा रूप (बहुवक्त्र-नेत्रं) जिसमें बहुत मुख, नेत्र (बहुबाहूरुपादं) बहुत बाहु, उरु और पाद हैं (बहूदरं) बहुत बड़े उदर वाले रूप को (बहुदंष्ट्राकरालं) जो बहुत दाढ़ों से क्रूर है (लोकाः, दृष्ट्वा, प्रव्यथिताः) लोक देखकर व्यथा को प्राप्त होरहे हैं (तथा, अहं) और मैं भी ॥

भाष्य-इस क्रूर रूप के कथन करने की भूमिका ग्रन्थकर्त्ता ने इसलिये बांधी है कि आगे जाकर इस रूप को कालरूप अर्थात् सबके भक्षणकर्त्तारूप से वर्णन करना है ॥

नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो ॥२४॥

पद०-नभः । स्पृशं । दीप्तं । अनेकवर्णं । व्यात्ताननं । दीप्तविशाल-नेत्रं । दृष्ट्वा । हि । त्वां । प्रव्यथितान्तरात्मा । धृतिं । न । विंदामि । शमं । च । विष्णो ॥

पदा०-फिर वह तुम्हारा रूप कैसा है जो (नभः, स्पृशं) आकाश को लगा हुआ अर्थात् द्यौलोक तक फैला हुआ है (दीप्तं) प्रकाशवाला

(अनेकवर्णं) अनेक रंगों वाला (व्यात्ताननं) फैलाये हुए मुख वाला और (दीप्तविशालनेत्रं) दीप्ति वाले विशाल नेत्रों वाला है (हि) निश्चयकरके (त्वां, दृष्ट्वा) तुमको देखकर (प्रव्यथितान्तरात्मा) डरे हुए मनवाला मैं हे विष्णो ! (धृतिं) धैर्य्य को (न, विन्दामि) नहीं लाभ करता (च) और (न) न (शमं) शान्ति को ॥

भाष्य-यहां व्यापक अर्थ का वाची "विष्णु" शब्द परमात्मयोग के कारण कृष्ण को कहा गया है ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

पद०-दंष्ट्राकरालानि । च । ते । मुखानि । दृष्ट्वा । एव । कालानलसन्निभानि । दिशः । न । जाने । न । लभे । च । शर्म । प्रसीद । देवेश । जगन्निवास ॥

पदा०-हे कृष्ण ! (कालानलसन्निभानि) कालाग्नि के समान (च) और (दंष्ट्राकरालानि) दाढ़ों से विकराल (ते, मुखानि, दृष्ट्वा, एव) तुम्हारे मुखों को देखकर ही (दिशः, न, जाने) मैं पूर्वोत्तरादि दिशाओं को भी नहीं जानता अर्थात् भयभीत हुआ भूल गया हूं (च) और (न, लभे, शर्म) न मुझे शान्ति है, इसलिये (प्रसीद) तुम मेरे पर प्रसन्न होओ, तुम कैसे हो (देवेश) ईश्वर और (जगन्निवास) संसार का निवास स्थान हो ॥

सं०-इसी अध्याय के सातवें श्लोक में अर्जुन से यह कहा था कि जो तू और देखना चाहता है वह भी हम दिखलावेंगे, वह द्रष्टव्य अर्जुन को यह अभीष्ट था कि इस युद्ध में कौन जीतेगा, वह द्रष्टव्य योगजसामर्थ्य से कृष्णजी ने अर्जुन को दिखलाया, जिसको अर्जुन नीचे के पांच श्लोकों द्वारा कथन करते हैं:—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मोद्रोणःसूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

पद०-अमी । च । त्वां । धृतराष्ट्रस्य । पुत्राः । सर्वे । सह । एव ।

अवनिपालसंघैः । भीष्मः । द्रोणः । सूतपुत्रः । तथा । असौ । सह । अस्मदीयैः । अपि । योधमुख्यैः ॥

पदा०-(धृतराष्ट्रस्य) धृतराष्ट्र के (अमी. सर्वे. पुत्राः) दुर्योधनादिक सब पुत्र (अवनिपालसंघैः) राजाओं के समुदाय (सह, एव) साथ ही भीष्म, द्रोण तथा (असौ, सूतपुत्रः) तैसे ही यह करण (अस्मदीयैः) हमारे (योधमुख्यः) मुख्ये योद्धाओं के (सह, अपि) साथ ही:—

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥२७॥

पद०-वक्त्राणि । ते । त्वरमाणाः । विशन्ति । दंष्ट्राकरालानि । भयानकानि । केचित् । विलग्नाः । दशनान्तरेषु । संदृश्यन्ते । चूर्णितैः । उत्तमांगैः ॥

पदा०-(ते, वक्त्राणि) तुम्हारे मुखों में (त्वरमाणाः) शीघ्रता से (विशन्ति) प्रवेश कर रहे हैं, वह तुम्हारे मुख कैसे हैं (दंष्ट्राकरालानि) जो दांतों से बड़े विकराल और (भयानकानि) भयानक हैं, ऐसे तुम्हारे भयानक मुखों में (केचित्) कई एक योद्धा (दशनान्तरेषु) दांतों के भीतर (चूर्णितैः, उत्तमांगैः) चकनाचूर शिरों से (विलग्नाः, संदृश्यन्ते) लगे हुए देखे जाते हैं ॥

सं०-अब अर्जुन कथन करता है कि यह सब योद्धा जान बूझकर उस विश्वरूप के मुख में प्रवेश नहीं कर रहे किन्तु अपने कर्मरूप द्रवत्व गुण से नदियों के समान सागररूप मुख की ओर बहे जारहे हैं:—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितोज्वलन्ति॥२८॥

पद०-यथा । नदीनां । बहवः । अंबुवेगाः । समुद्रं । एव । अभिमुखाः । द्रवन्ति । तथा । तव । अमी । नरलोकवीराः । विशन्ति । वक्त्राणि । अभितः । ज्वलन्ति ॥

पदा०-(यथा, नदीनां, बहवः, अंबुवेगाः) जैसे नदियों के बहुत जलों के प्रवाह (समुद्रं, अभिमुखाः,एव) समुद्र के सन्मुख ही (द्रवन्ति) बह रहे हैं अर्थात् समुद्र की ओर जारहे हैं (तथा) इसी प्रकार (अमी) यह (नरलोकवीराः) मनुष्यलोक के वीर (ज्वलन्ति,

तव, वक्त्राणि) प्रकाश वाले तुम्हारे मुखों को (अभितः, विशन्ति) सब ओर से प्रवेश कररहे हैं ॥

सं०-अब इसी भाव को अन्य दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं:—

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥२९॥

पद०-यथा । प्रदीप्तं । ज्वलनं । पतंगाः । विशन्ति । नाशाय । समृद्धवेगाः । तथा । एव । नाशाय । विशन्ति । लोकाः । तव । अपि । वक्त्राणि । समृद्धवेगाः ॥

पदा०-(यथा) जिस प्रकार (प्रदीप्तं, ज्वलनं) जलती हुई लाट को (पतंगाः, विशन्ति) पतंग प्रवेश करते हैं, वह कैसे पतंग हैं (नाशाय, समृद्धवेगाः) अपने नाश के लिये बढ़ा हुआ है वेग जिनका (तथा, एव) तैसे ही (नाशाय) नाश के लिये (समृद्धवेगाः, लोकाः) बढ़े हुए वेगवाले लोक अर्थात् दुर्योधनादिक (अपि) भी (तव, वक्त्राणि, विशन्ति) तुम्हारे मुखों में प्रवेश कर रहे हैं ॥

सं०-ननु, तुम्हारा विश्वरूप इसमें क्या करता है ? उत्तरः—

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

पद०-लेलिह्यसे । ग्रसमानः । समंतात् । लोकान् । समग्रान् । वदनैः । ज्वलद्भिः । तेजोभिः । आपूर्य । जगत् । समग्रं । भासः । तव । उग्राः । प्रतपन्ति । विष्णो ॥

पदा०-हे विष्णो ! तू (ज्वलद्भिः, वदनैः) अपने प्रज्वलित मुखों द्वारा (समंतात्) सब ओर से (समग्रान्, लोकान्) सब लोकों को (ग्रसमानः) ग्रास करता हुआ (लेलिह्यसे) आस्वादन कर रहा है अर्थात् पुनः २ खा रहा है, और फिर तू कैसा है (समग्रं, जगत्) इस सम्पूर्ण जगत् को (तेजोभिः, आपूर्य) अपने प्रकाश से पूर्ण करके (तव, उग्राः, भासः) तुम्हारी उग्र दीप्तियें (प्रतपन्ति) तपा रही हैं ॥

भाष्य-इन पूर्वोक्त श्लोकों में जो यह कथन किया गया है कि उस विश्वरूप के दांतों के नीचे आकर दुर्योधनादि योद्धाओं के शिर टूट रहे

थे, नदियों के प्रवाह के समान सब योद्धा उसके सागररूपी मुख में प्रवेश कर रहे थे, जलती हुई ज्वाला में पतंगों के समान उसके मुखप्रदीप में सब योद्धा जल रहे थे और वह विश्वरूप उन सब को अपने अनन्त मुखों से खारहा था, इसका मुख्य तात्पर्य्य यह नहीं, क्योंकि "अत्ता चराचर ग्रहणात्" ब्र० सू० १ । २ । ६ इस सूत्र के विषय वाक्य से हम यह सिद्ध कर आये हैं कि परमात्मा किसी पदार्थ का भक्षणकर्त्ता नहीं किन्तु उपचार से उसमें भक्षण करना कथन किया गया है, इसी प्रकार यहां भी कृष्णजी ने काल को विश्वरूप से वर्णन किया है, इसलिये उस काल भगवान् के मुख में सब योद्धाओं के शिर टूट रहे हैं यह तात्पर्य्य है ॥

सं०—अब अर्जुन निम्नलिखित श्लोक में यह प्रश्न करता है कि आप कौन हैं:—

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

पद०—आख्याहि । मे । कः । भवान् । उग्ररूपः । नमः । अस्तु । ते । देववर । प्रसीद । विज्ञातुं । इच्छामि । भवन्तं । आद्यं । न । हि । प्रजानामि । तव । प्रवृत्तिम् ॥

पदा०—(मे) मुझको (आख्याहि) कथन करो कि (उग्ररूपः, भवान्, कः) तुम उग्ररूप वाले कौन हो (ते) तुमको (नमः, अस्तु) नमस्कार हो (देववर) हे देवों में श्रेष्ठ ! तुम (प्रसीद) प्रसन्न होओ (भवन्तं, आद्यं) तुम्हारे आदि को (विज्ञातुं, इच्छामि) मैं जानने की इच्छा करता हूं (हि) निश्चयकरके (तव, प्रवृत्तिं, न, जानामि) तुम्हारी प्रवृत्ति को मैं नहीं जानता ॥

भाष्य—इस श्लोक में अर्जुन ने यह पूछा है कि तुम्हारा जो यह क्रूर रूप है इसका क्या प्रयोजन है जिसको मैं नहीं जानता, इसका उत्तर कृष्णजी देते हैं कि:—

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।३२।

पद०–कालः । अस्मि । लोकक्षयकृत् । प्रवृद्धः । लोकान् । समाहर्तुं । इह । प्रवृत्तः । ऋते । अपि । त्वां । न । भविष्यन्ति । सर्वे । ये । अवस्थिताः । प्रत्यनीकेषु । योधाः ॥

पदा०–(कालः, अस्मि) मैं काल हूं (लोकक्षयकृत्) लोक के नाश करने के लिये (प्रवृद्धः) बढ़ रहा हूं (लोकान्, समाहर्तुं, इह, प्रवृत्तः) दुर्योधनादि लोगों के नाश करने के लिये यहां प्रवृत्त हुआ हूं (ये) जो (योधाः) योद्धा लोग (प्रत्यनीकेषु) प्रतिपक्षियों की सेना में (अवस्थिताः) स्थिर हैं (ऋते, अपि, त्वां, न, भविष्यन्ति, सर्वे) तुम्हारे युद्धरूपी व्यापार से विना भी यह सब योद्धा नहीं रहेंगे ॥

भाष्य– इस श्लोक में " कालोऽस्मि " इस कथन से कृष्णजी ने इस विश्वरूप का पूरा विवरण कर दिया कि इस विश्वरूप का उपन्यास काल की महिमा दिखलाने के लिये किया गया था और " ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे " इस कथन से इस बात को भी स्पष्ट करदिया कि अर्जुन और कृष्ण इस युद्ध को यदि न करते तब भी काल का महत्व ऐसा था कि यह दुर्योधनादि कदापि नहीं बचसक्ते थे, क्योंकि उनके दुराचार उनके मारने के लिये स्वयं काल भगवान् का रूप धारण कर रहे थे, इस भाव को कृष्णजी ने काल के अलङ्कार से वर्णन करके अर्जुन को उस समय के आततायी कुलघातकों के मारने के लिये उद्यत किया है ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

पद०–तस्मात् । त्वं । उत्तिष्ठ । यशः । लभस्व । जित्वा । शत्रून् । भुंक्ष्व । राज्यं । समृद्धं । मया । एव । एते । निहताः । पूर्वं । एव । निमित्तमात्रं । भव । सव्यसाचिन् ॥

पदा०–(तस्मात्) इसलिये "जब कि वह समय के प्रभाव से ही धर्म और देश के द्वेषी होने के कारण स्वयं मरे हुए हैं " (त्वं) तू (उत्तिष्ठ) उठ खड़ा हो और (शत्रून्, जित्वा) शत्रुओं को जीतकर (यशः,

लभस्व) यश लाभ कर (समृद्धं, राज्यं) इस बड़े राज्य को (भुंक्ष्व) भोग (पूर्वं, एव) पहले ही (मया, एव) मैंने ही (एते) यह (निहताः) मार छोड़े हैं, इसलिये (सव्यसाचिन्) हे बायें हाथ से भी शस्त्र चलाने वाले ! तू (निमित्तमात्रं, भव) इनके मारने में नाममात्र बन ॥

भाष्य—अर्जुन को उनके मारने में निमित्तमात्र इसलिये कहा है कि उस समय की घटनायें इस बात को सिद्ध करती थीं कि दुर्योधन का दल जीता नहीं रहेगा, क्योंकि दुर्योधन अपने दुष्ट कर्मों के कारण देश और धर्म का विरोधी था, इसलिये काल भगवान् नहीं चाहते थे कि वह जीता रहे, सत्य है अदूरदर्शी लोग कृष्ण और अर्जुन को मिथ्या दोष लगाया करते हैं कि इन्होंने ही कुल का नाश किया और वास्तव में कुल का नाश उस समय के दुष्टकर्मियों ने किया, क्या यादवों का नाश कृष्ण और अर्जुन ने किया ? जिनके विचार में ५६ कोटि यादव अपने दुष्ट कर्मों से नाश होगये तो क्या यहां दुर्योधनादिकों का आपस में लड़कर नाश होना असंभव था, इस श्लोक ने काल के अलङ्कार को स्पष्ट करदिया कि काल के मारे हुए दुर्योधनादिकों को अर्जुन ने निमित्तमात्र से मारा है ॥

सं०—यद्यपि कालरूप आपने इन दुर्योधनादिकों को मार छोड़ा है तथापि द्रोणादि महावलिष्ठ योद्धाओं को मैं कैसे मारूंगा ? उत्तरः—

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेताऽसि रणे सपत्नान्॥३४॥

पद०—द्रोणं । च । भीष्मं । च । जयद्रथं । च । कर्णं । तथा । अन्यान् । अपि । योधवीरान् । मया । हतान् । त्वं । जहि । मा । व्यथिष्ठा । युध्यस्व । जेतासि । रणे । सपत्नान् ॥

पदा०—द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण (तथा) इसी प्रकार (अन्यान्, अपि, योधवीरान्) और भी जो योद्धा लोग वीर हैं (मया, हतान्) मेरे मारे हुओं को ही (त्वं) तू (जहि) मार (मा, व्यथिष्ठा) डर मत (युध्यस्व) युद्धकर (रणे) इस रण में (सपत्नान्) प्रतिपक्षियों को (जेतासि) अवश्य जीतेगा, यह वृत्तान्त संजय ने धृतराष्ट्र को सुनाया ॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

पद०—एतत् । श्रुत्वा । वचनं । केशवस्य । कृतांजलिः । वेपमानः । किरीटी । नमस्कृत्वा । भूयः । एव । आह । कृष्णं । सगद्गदं । भीत-भीतः । प्रणम्य ॥

पदा०—(केशवस्य) कृष्ण का (एतत्, वचनं) यह वचन (श्रुत्वा) सुनकर (कृतांजलिः) दोनों हाथ जोड़कर (वेपमानः) कांपता हुआ (किरीटी) मुकुटवाला अर्जुन (नमस्कृत्वा) नमस्कार कर (भूयः, एव) फिर भी (भीतभीतः, प्रणम्य) डरता२ प्रणाम करके अर्थात् पहले नमस्कार कर फिर डरते २ प्रणाम करने से अतिनम्रता बोधन की, ऐसी नम्रता पूर्वक (सगद्गदं) हर्ष से निरुद्ध कण्ठ वाला हुआ २ (कृष्णं, आह) कृष्ण को बोला किः—

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवंति सर्वे नमस्यंति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

पद०—स्थाने । हृषीकेश । तव । प्रकीर्त्या । जगत् । प्रहृष्यति । अनुरज्यते । च । रक्षांसि । भीतानि । दिशः । द्रवन्ति । सर्वे । नमस्यन्ति । च । सिद्धसंघाः ॥

पदा०—(हृषीकेश) हे वशीकृतेन्द्रिय कृष्ण ! (तव, प्रकीर्त्या) तुम्हारे यश से यह जगत् (प्रहृष्यति) प्रसन्न होता (अनुरज्यते, च) और प्रेम को प्राप्त होता है (भीतानि, रक्षांसि) तुम से डरे हुए राक्षस लोग (दिशः, द्रवन्ति) सब दिशाओं को भागे जारहे हैं (च) और (सर्वे, सिद्धसंघाः) सब सिद्धों के समुदाय (स्थाने) यह युक्त है कि (नमस्यन्ति) तुमको नमस्कार करते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में अर्जुन ने उस काल रूप कृष्ण की स्तुति की है जिस योगेश्वर कृष्ण ने अपने योगजसामर्थ्य से युद्ध का भावी परिणाम अर्जुन को बतलाया, और उस वैदिक विश्वरूप के वर्णन द्वारा उस परमात्मा का अद्भुत वर्णन करके उस कालरूप भगवान् के दांतों में चबाये हुए दुर्योधनादिकों को दिखलाया, इसी प्रकार उस योगेश्वर कृष्ण की स्तुति में यह अग्रिम श्लोक हैः—

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनंत देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

पद०—कस्मात् । च । ते । न । नमेरन् । महात्मन् । गरीयसे । ब्रह्मणः । अपि । आदिकर्त्रे । अनंत । देवेश । जगन्निवास । त्वं । अक्षरं । सत् । असत् । तत्परं । यत् ॥

पदा०—हे महात्मन् ! (कस्मात्, च) और किसलिये (ते) वह लोक (न, नमेरन्) तुमको नमस्कार नहीं करेंगे अर्थात् अवश्य करेंगे (गरीयसे, ब्रह्मणः, अपि, आदिकर्त्रे) तुम बड़े हो और ब्रह्मा के भी आदिकर्त्ता हो (अनन्त) हे अनन्त (देवेश) हे देवों के ईश्वर ! (जगन्निवास) हे जगत् के निवास स्थान (त्वं, अक्षरं) तुम अक्षर (सत्) प्रकृतिरूप और (असत्) कार्य्यरूप हो (तत्परं) उस कार्य्य कारण से परे (यत्) जो परमात्मा वह तुम्हीं हो ॥

भाष्य—यह श्लोक कृष्ण की स्तुति विधायक है, यदि यह स्तुति परक न होते तो अर्जुन को यह सन्देह क्यों होता कि तुमको सब लोक नमस्कार क्यों न करेंगे, इससे पाया जाता है कि जो महत्व कृष्ण के योगज-सामर्थ्य को देखकर अर्जुन के हृदय में था वह महत्व उस समय के अन्य लोगों के हृदय में न था ॥

ननु—यदि कृष्ण वास्तव में ईश्वर न थे, यह केवल उनकी स्तुतिमात्र कीगई है तो फिर इस श्लोक में ब्रह्मा का भी आदिकर्त्ता कृष्ण को क्यों कहा गया ? और अनन्त, देवेश, जगन्निवास इत्यादि पदों से उसको सम्पूर्ण सृष्टि का निवासस्थान क्यों माना गया ? उत्तर—यदि इस श्लोक के पदों से ही कृष्ण को ईश्वर सिद्ध करना है और पदों का तात्पर्य्य नहीं देखना तो इस श्लोक के पदों में तो कृष्ण को सत् और असत् भी कहा है, क्या कृष्ण झूठ भी है, भला मायावादी तो येन केन प्रकार से रज्जु सर्प के समान इस सब (सदसद्रूप) अनिर्वचनीय जगत् रूपी विवर्त्त का अधिष्ठान मानकर इस दोष से दूर होजावेंगे पर विचारे अवतारवादियों की क्या गति ? हमारे विचार में तो इन पदों का तात्पर्य्य यह है कि अर्जुन के जब सब मनोरथ उस योगेश्वर कृष्ण से पूर्ण होगये तो उनको (सत्) प्रकृतिरूप (असत्) कार्य्यरूप (तत्परं) ब्रह्मरूप, इत्यादि सब गुणों से

कथन कर दिया, जैसे कि एक अर्थी स्व अर्थ पूर्ण करने वाले को राजा, महाराजा, राजराजेश्वर, आदि शब्दों से कथन करदेता है, ऐसा ही यहां अर्जुन ने किया, इसका नाम शास्त्र में अर्थवाद है ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

पद०—त्वं । आदिदेवः । पुरुषः । पुराणः । त्वं । अस्य । विश्वस्य । परं । निधानं । वेत्ता । असि । वेद्यं । च । परं । च । धाम । त्वया । ततं । विश्वं । अनन्तरूप ॥

पदा०—हे कृष्ण ! (त्वं, आदिदेवः) तुम आदिदेव (पुरुषः) पुरुष (पुराणः) सबसे प्राचीन (त्वं, अस्य, विश्वस्य, परं, निधानं) तुम इस विश्व का परं निधान नाम धारण करने वाले (वेत्ता, असि) तुम सबके जानने वाले (वेद्यं, च) और जानने योग्य हो (च) और (परं, धाम) परम धाम हो, हे अनन्तरूप ! (त्वया, ततं, विश्वं) तुमने यह सब विश्व रचा है॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

पद०—वायुः । यमः । अग्निः । वरुणः । शशांकः । प्रजापतिः । त्वं । प्रपितामहः । च । नमः । नमः । ते । अस्तु । सहस्रकृत्वः । पुनः । च । भूयः । अपि । नमः । नमः । ते ॥

पदा०—हे कृष्ण ! तुम (वायुः) वायु (यमः) सबको नियम में रखने वाले (वरुणः) जल (शशांकः) चन्द्रमा (प्रजापतिः) सूर्य्य (प्रपितामहः) कारणरूप प्रकृति जो सब कार्य्यसमह का पिता है उसके भी पिता नाम पालक होने से तुम प्रपितामह हो (नमः, नमः, ते, अस्तु) तुमको वारम्वार नमस्ते हो (पुनः, सहस्रकृत्वः) फिर हजार वार नमस्ते हो (च) और (भूयः, अपि) फिर भी (ते) तुम्हारे लिये (नमः, नमः) वारम्वार नमस्ते हो ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

पद०—नमः । पुरस्तात् । अथ । पृष्ठतः । ते । नमः । अस्तु । ते । सर्वतः । एव । सर्व । अनन्तवीर्य्यामितविक्रमः । त्वं । सर्वं । समाप्नोषि । ततः । असि । सर्वः ॥

पदा०—(नमः, पुरस्तात्) तुमको आगे से नमस्कार हो (अथ) और (पृष्ठतः ते) पीछे से तुम्हें नमस्कार हो, हे सर्व ! तुम (अनन्तवीर्य्यामितविक्रमः) अनन्त वीर्य्य और अनन्त विक्रम वाले हो (त्वं, सर्वं, समाप्नोषि) तुम सबको व्याप्त कर रहे हो (ततः) अतएव (सर्वः, असि) आप सब कुछ हैं (नमः, अस्तु, ते, सर्वतः, एव) इसलिये तुमको सब ओर से नमस्कार हो ॥

भाष्य—इस श्लोक में जो कृष्ण को सब कुछ कहा गया है यह अर्थवाद है, स्वामी रामानुज इसकी यह व्यवस्था करते हैं कि "अतः सर्वस्यचिदचिद्वस्तुजातस्य त्वच्छरीरतया त्वत्प्रकारत्वात्सर्वप्रकारस्त्वमेव सर्वशब्दवाच्योसीत्यर्थः" = यह सब जो जड़ चेतन पदार्थों का समूह है यह परमात्मा का शरीर है, इस प्रकार शरीरशरीरीभाव से सब जड़ चेतन वस्तु परमात्मा का रूप है, इसलिये कहा है कि तू सब है, ऐसे सर्वात्मवाद को विशिष्टाद्वैत कहते हैं और वैदिक मतानुकूल तो योगेश्वर कृष्ण को सर्वान्तरात्मा परमात्मा से योग होने के कारण "सर्व" कहा गया है, इसलिये कोई दोष नहीं ॥

सं०—अब इसी भाव को अर्जुन आगे वर्णन करता है कि:—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

पद०—सखा । इति । मत्वा । प्रसभं । यत् । उक्तं । हे कृष्ण । हे यादव । हे सखा । इति । अजानता । महिमानं । तव । इदं । मया । प्रमादात् । प्रणयेन । वा । अपि ॥

पदा०—(सखा, इति, मत्वा) मित्र मानकर (प्रसभं) अवज्ञा करने वाला वचन हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखा ! (इति, यत्, उक्तं) जो मैंने कहा है वह (तव, महिमानं, अजानता) तुम्हारे महत्व को न जानते हुए (प्रमादात्) प्रमाद से (वा) अथवा (प्रणयेन) प्रेम से (इदं, उक्तं) ऐसा कहा है ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

पद०–यत् । च । अवहासार्थं । असत्कृतः । असि । विहारशय्यासनभोजनेषु । एकः । अथवा । अपि । अच्युत । तत्समक्षं । तत् । क्षामये । त्वां । अहं । अप्रमेयं ॥

पदा०–(यत्, च) और जो तुम (अवहासार्थं)हंसी से (असत्कृतः, असि) निरादर किये गये हो (विहारशय्यासनभोजनेषु) निज के कामों में, सोने में, बैठने में, भोजन समय में (एकः) अकेले निरादर किये गये हो, अथवा हे अच्युत ! (तत्समक्षं) अपने मित्रों के सन्मुख निरादर किये गये हो (तत्, त्वां, अहं, क्षामये) उसकी मैं तुमसे क्षमा कराता हूं, तुम कैसे हो (अप्रमेयं) अपरमित उदारता वाले हो ॥

भाष्य–इस कथन से अर्जुन ने यह सूचित किया है कि आपके योगेश्वर होने का प्रभाव मैंने नहीं जाना था, इसलिये आपकी मुझसे अवज्ञा हुई वह आप क्षमा करें ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

पद०–पिता । असि । लोकस्य । चराचरस्य । त्वं । अस्य । पूज्यः । च । गुरुः । गरीयान् । न । त्वत्समः । अस्ति । अभ्यधिकः । कुतः । अन्यः । लोकत्रये । अपि । अप्रतिमप्रभाव ॥

पदा०–(अप्रतिमप्रभाव) हे अनुपम प्रभाव वाले (चराचरस्य, लोकस्य, पिता, असि) तुम चराचर लोक के पिता=पालक हो (त्वं, अस्य) तुम इस लोक के (पूज्यः) पूज्य हो (च) और (गुरुः, गरीयान्) बड़े गुरु हो (लोकत्रये, अपि) तीनो लोकों में भी (न, त्वत्समः, अन्यः, अस्ति) तुम्हारे समान अन्य कोई नहीं (अभ्यधिकः, कुतः) अधिक तो क्या होना है ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

पद०—तस्मात् । प्रणम्य । प्रणिधाय । कार्यं । प्रसादये । त्वां । अहं । ईशं । ईड्यं । पिता । इव । पुत्रस्य । सखा । इव । सख्युः । प्रियः । प्रियायाः । अर्हसि । देव । सोढुं ॥

पदा०—(तस्मात्, प्रणम्य) इसलिये प्रणाम करके (प्रणिधाय, कायं) पृथिवी पर माथा टेककर (अहं, त्वां, प्रसादये) मैं तुमको प्रसन्न करना चाहता हूं, तुम कैसे हो (ईशं) ईश्वर (ईड्यं) पूज्य हो (पुत्रस्य, पिता, इव) पुत्र के अपराधों को पिता के समान (सख्युः, सखा, इव) मित्र के अपराधों को मित्र के समान (प्रियायाः, प्रियः) स्त्री के अपराधों को पति के समान, हे देव ! (त्वं, सोढुं, अर्हसि) तुम सहारने योग्य हो अर्थात् पितादि के समान आप मेरे अपराधों को क्षमा करें ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

पद०—अदृष्टपूर्वं । हृषितः । अस्मि । दृष्ट्वा । भयेन । च । प्रव्यथितं । मनः । मे । तत् । एव । मे । दर्शय । देवरूपं । प्रसीद । देवेश । जगन्निवास ॥

पदा०—(अदृष्टपूर्वं) जो प्रथम कभी नहीं देखा (दृष्ट्वा) ऐसे रूप को देखकर (हृषितः, अस्मि) मैं प्रसन्न हुआ (च) और (भयेन) भय से (मे, मनः) मेरा मन (प्रव्यथितं) व्यथा को प्राप्त होरहा है (मे) मुझको (तत्, एव) वही (देवरूपं)देवरूप (दर्शय) दिखलाओ (देवेश) हे देवों के देव ! (जगन्निवास) हे जगत् के निवास स्थान ! (प्रसीद) आप मेरे पर प्रसन्न हों ॥

भाष्य—इस श्लोक में अर्जुन ने प्रथम रूप देखने की जिज्ञासा प्रकट की अर्थात् उस दिव्यदृष्टिरूप दीर्घनिद्रा से जागकर इस संसार में आने की इच्छा की है, इसीलिये कहा है कि मुझे प्रथम रूप दिखलाओ, इसको अवतारवादी बड़े बलपूर्वक अवतारवाद में लगाते हैं और कहते हैं कि प्रथम रूप में सूर्य्य लोक तक फैला हुआ जो कृष्ण था उससे डरकर अर्जुन ने प्रथम रूप देखने की इच्छा प्रकट की है, इनका यह कथन इस लिये संगत नहीं कि इससे आगे के श्लोक में "रूपं परं दर्शितमात्म-

योगात्" यह वाक्य है, जिसके अर्थ यह हैं कि यह विश्वरूप मैंने "आत्मयोगात्" = अपने योगप्रभाव से दिखलाया है, जैसाकि हम योग का प्रभाव धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों के संयम से दिखला आये हैं, वही योग यहां आत्मयोग से अभिप्रेत है, इस योग की स्वामी रामानुज ने यह व्याख्या की है कि "आत्मनःसत्यसंकल्पत्वयोग-युक्तत्वात्" = आत्मा का जो सत्यसंकल्प धर्म वाले ईश्वर के साथ योग है उससे युक्त होने के कारण कृष्ण ने ऐसा रूप दिखलाया, यह बात सर्व-सम्मत है कि सत्यसंकल्पत्वादि धर्म परमात्मा के हैं पर यहां जीव के धारण करने से उक्त धर्मों का कथन किया गया है, जैसाकि "एष आ-त्मा अपहतपाप्माविजरोविमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्प इति" छान्दो० ८ । १ । २ इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में वर्णन किया है, इससे पाया गया कि कृष्ण ने अपने योगज-सामर्थ्य से भावीकाल का प्रभाव और विश्वरूपदर्शन अर्जुन को दिखलाया है, अतएव कृष्ण का ईश्वर होना किसी प्रकार भी नहीं पाया जाता ॥

ननु-किरीटिनंगदिनंचक्रहस्तमिच्छामित्वांद्रष्टुमहंतथैव ।
तेनैवरूपेणचतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते ॥

गी० ११ । ४६

पद०—किरीटिनं । गदिनं । चक्रहस्तं । इच्छामि । त्वां । द्रष्टुं । अहं । तथा । एव । तेन । एव । रूपेण । चतुर्भुजेन । सहस्रबाहो । भव । विश्वमूर्त्ते ॥

पदा०—(किरीटिनं) मुकुटवाले (गदिनं) गदावाले (चक्रहस्तं) हाथ में चक्रवाले (त्वां) तुमको (अहं, तथा, एव, द्रष्टुं, इच्छामि) मैं वैसा ही देखना चाहता हूं, इसलिये हे सहस्रबाहो, हे विश्वमूर्त्ते ! (तेन, एव, चतुर्भुजेन, रूपेण, भव) उसी चार बाहों वाले रूप से हो, इस श्लोक में अर्जुन ने यह कहा है कि मुझको वह चतुर्भुजरूप दिखलाओ, फिर कैसे कहा जाता है कि कृष्ण अवतार न थे और उन्होंने सूर्य लोक

तक लंबा और सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त विश्वरूप धारण नहीं किया ? उत्तर-यह श्लोक प्रक्षिप्त है, इसका प्रमाण यह है कि इस श्लोक में चतुर्भुजरूप लिखा हुआ है, इस रूप का वर्णन आर्ष ग्रन्थों में कहीं नहीं, महाभारत जो वस्तुतः २४ हज़ार है उसमें भी चतुर्भुज रूप का कहीं वर्णन नहीं, प्रायः आधुनिक पुराणों में इसका वर्णन है, जैसाकि देवी भाग० १ । ७ । ५ में "चतुर्भुजमहावीर्यम्" इत्यादि लिखा है, और फिर भाग० २२ । ६ । ४७ में देवी को "चतुर्भुजा" लिखा है, चतुर्भुज के अर्थ यह हैं कि जिसके चार भुजा हों और चतुर्भुज रूप का होना लोक से विरुद्ध भी है अर्थात् प्रकृति में चार भुजाओं वाली मनुष्याकृति नहीं होसक्ती ॥

ननु-जब सहस्रबाहु और विश्वरूप उस कृष्ण को कहा है तो चतुर्भुज होने में क्या सन्देह ? उत्तर-"सहस्रशीर्षापुरुषः" और "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुख" इत्यादि मन्त्रों में विराट्रूप वाले परमात्मा को सहस्रबाहु और विश्वमूर्त्ति वर्णन किया गया है, उस परमात्मा के साथ योग होने से कृष्ण को भी सहस्रबाहु और विश्वमूर्त्ति कहा है, वास्तव में सहस्र बाहों वाला पुरुष आज तक कोई नहीं हुआ ॥

सं०-अब उस योगेश्वर कृष्ण के योग को यह अग्रिम श्लोक विधान करता है:—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४६॥

पद०-मया । प्रसन्नेन । तव । अर्जुन । इदं । रूपं । परं । दर्शितं । आत्मयोगात् । तेजोमयं । विश्वं । अनन्तं । आद्यं । यत् । मे । त्वदन्येन । न । दृष्टपूर्वं ॥

पदा०-हे अर्जुन ! (मया, प्रसन्नेन) मैंने प्रसन्न होकर (आत्मयोगात्) अपनी योगरूप सामर्थ्य से (इदं, परं, रूपं, दर्शितं, तव) यह परमरूप तुमको दिखलाया है जो (तेजोमयं) तेजरूप (विश्वं) विश्वरूप (अनन्तं) अनन्त और (यत्, आद्यं) जो मेरा पहला ही है (त्वदन्येन, न, दृष्टपूर्वं) तुमसे प्रथम इस रूप को किसी ने नहीं देखा ॥

सं०-नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" इत्यादि उपनिषद्वाक्यों द्वारा केवल परमात्मा की कृपा से उस रूप की प्राप्ति वर्णन कीगई है, इस आशय से आगे कहते हैं कि तुम पर परमात्मा की परम कृपा है जो तुमने इस रूप को देखाः—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४७ ॥

पद०-न । वेदयज्ञाध्ययनैः । न । दानैः । न । च । क्रियाभिः । न । तपोभिः । उग्रैः । एवं । रूपः । शक्यः । अहं । नृलोके । दृष्टुं । त्वदन्येन । कुरुप्रवीर ॥

पदा०-(कुरुप्रवीर) हे कुरुवंश में वीर अर्जुन ! (एवं, रूपः) इस रूप वाला (अहं) मैं योगेश्वर कृष्ण (नृलोके) इस लोक में (त्वदन्येन) तुम्हारे से विना (न, द्रष्टुं, शक्यः) नहीं देखा जासक्ता (वेदयज्ञाध्ययनैः, न) न वेद तथा वेद के यज्ञादि प्रकरणों के अध्ययन से (न, दानैः) न दान से (न, क्रियाभिः) न कर्मों से (च) और (न, उग्रैः, तपोभिः) न उग्र तपों से देखा जाता हूं ॥

भाष्य-इस श्लोक का आशय यह है कि ईश्वर की प्रणिधान रूप भक्ति से विना वेदों के अध्ययन, यज्ञ, दान और तप से वह विश्वरूप नहीं जाना जासक्ता अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि के संयम से विना इस रूप को कोई नहीं देखसक्ता, इस कथन से वेदादिकों की निन्दा नहीं, तात्पर्य्य यह है कि वह केवल वेद यज्ञादिकों से नहीं जाना जासक्ता, इस लिये स्वामी रामानुज लिखते हैं कि "केवलैर्वेदयज्ञादिभिर्द्रष्टुं न शक्यः" = केवल वेद यज्ञादिकों से नहीं देखा जासक्ता किन्तु भक्तिसहित वेद यज्ञादिकों से देखा जासक्ता है ॥

सं०-अब कृष्ण उस योगज कालरूप का उपसंहार करके अपना सौम्यरूप अर्जुन को दिखलाते हैंः—

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४८॥

पद०—मा । ते । व्यथा । मा । च । विमूढभावः । दृष्ट्वा । रूपं । घोरं । ईदृक् । मम । इदं । व्यपेतभीः । प्रीतमनाः । पुनः । त्वं । तत् । एव । मे । रूपं । इदं । प्रपश्य ॥

पदा०—(मम, इदं) मेरे इस (ईदृक्) ऐसे (घोरं, रूपं) घोर रूप को (दृष्ट्वा) देखकर (मा, ते, व्यथा) तुमको कष्ट मत हो (मा, च, विमूढभावः) तुमको मोह मत हो (व्यपेतभीः) भय से रहित हुआ (प्रीतमनाः) प्रसन्न मन वाला होकर (पुनः) फिर (त्वं) तू (तत्, एव) वही (मे, इदं, रूपं) मेरा यह रूप (प्रपश्य) देख ॥

सं०—अब संजय धृतराष्ट्र के प्रति इस वृत्तान्त का कथन करते हैं:—

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनःसौम्य वपुर्महात्मा॥४९॥

पद०—इति । अर्जुनं । वासुदेवः । तथा । उक्त्वा । स्वकं । रूपं । दर्शयामास । भूयः । आश्वासयामास । च । भीतं । एनं । भूत्वा । पुनः । सौम्यवपुः । महात्मा ॥

पदा०—(इति, तथा) इस प्रकार (वासुदेवः) कृष्ण ने (अर्जुनं) अर्जुन को (उक्त्वा) कहकर (स्वकं, रूपं, दर्शयामास) अपने रूप को दिखलाया (च) और (एनं, भीतं) डरे हुए अर्जुन को (भूयः, पुनः, सौम्यवपुः, भूत्वा) फिर सौम्य आकार वाला होकर महात्मा कृष्ण ने (आश्वासयामास) आश्वासन=शान्ति दी ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५० ॥

पद०—दृष्ट्वा । इदं । मानुषं । रूपं । तव । सौम्यं । जनार्दन । इदानीं । अस्मि । संवृत्तः । सचेताः । प्रकृतिं । गतः ॥

पदा०—हे जनार्दन ! (तव, इदं, मानुषं, रूपं, सौम्यं, दृष्ट्वा) तुम्हारे इस सौम्य मनुष्य रूप को देखकर (इदानीं) अब मैं (सचेताः)

अव्याकुल चित्तवाला (प्रकृतिं, गतः) स्वस्थता को प्राप्त (संवृत्तः, अस्मि) हुआ हूं अर्थात् अब मेरा चित्त शान्त है ॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५१ ॥

पद०—सुदुर्दर्शं । इदं । रूपं । दृष्टवानसि । यत् । मम । देवाः । अपि । अस्य । रूपस्य । नित्यं । दर्शनकांक्षिणः ॥

पदा०—(यत्, इदं, रूपं, दृष्टवानसि) मेरे इस रूप को जिसको तुमने देखा है वह (सुदुर्दर्शं) बड़ी कठिनता से देखा जासक्ता है (अस्य, रूपस्य) इस रूप के (देवाः, अपि) देव भी (नित्यं) सदा (दर्शनकांक्षिणः) दर्शनाभिलाषी हैं ॥

भाष्य—देव=दिव्य सामर्थ्य वाले पुरुष भी योगजसामर्थ्य से विना इन विश्वरूप=अतीतानागत पदार्थों के ज्ञान को नहीं जानसक्ते, इसलिये कहा है कि देव भी इस रूप के देखने की सदैव अभिलाषा करते हैं ॥

सं०—ननु, देव तो उन्हीं को कहते हैं जो शमदमादि सम्पन्न तपस्वी हों, फिर वह इस रूप को कैसे नहीं जानसक्ते ? उत्तरः—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५२ ॥

पद०—न । अहं । वेदैः । न । तपसा । न । दानेन । न । च । इज्यया । शक्यः । एवंविधः । द्रष्टुं । दृष्टवानसि । मां । यथा ॥

पदा०—(मां) मुझको (यथा) जिसप्रकार (दृष्टवानसि) तुमने देखा है (एवंविधः, द्रष्टुं, इज्यया, न, शक्यः) इस प्रकार का मैं यज्ञों से नहीं जाना जासक्ता (न, वेदैः) न वेदों से (न, तपसा) न तप से (च) और (न, दानेन) न दान से जाना जासकता हूं ॥

भाष्य—इस श्लोक के भी रामानुज यह अर्थ करते हैं कि "मद्भक्तिः रहितैर्केवलैर्यथावदवस्थितोऽहं द्रष्टुं न शक्यः" = मेरी भक्ति से रहित जो केवल वेदादिक हैं उनसे मैं यथार्थ नहीं जाना जासक्ता, जैसाकि "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" इत्यादि स्मृतियों में वर्णन किया है कि

आचारहीन पुरुष को वेद पवित्र नहीं करसकते ॥

सं०—ननु, कृष्ण का आत्मभूत परमात्मतत्व जब केवल वेदादिकों से नहीं जाना जासक्ता तो फिर किससे जाना जासक्ता है ? उत्तरः—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५३ ॥

पद०—भक्त्या । तु । अनन्यया । शक्यः । अहं । एवंविधः । अर्जुन । ज्ञातुं । द्रष्टुं । च । तत्त्वेन । प्रवेष्टुं । च । परंतप ॥

पदा०—हे अर्जुन ! (अहं) मैं (भक्त्या, तु, अनन्यया) परमात्मा की एकमात्र भक्ति से (एवंविधः) इस प्रकार (द्रष्टुं, शक्यः) देखा जासक्ता (च) और (ज्ञातुं, शक्यः) जाना जासक्ता हूं, हे परंतप ! (तत्त्वेन, च, प्रवेष्टुं, शक्यः) तत्व से जानने योग्य मैं भक्ति से ही होता हूं ॥

भाष्य—अद्वैतवादी टीकाकार " तत्त्वेन प्रवेष्टुं " के अर्थ जीव ब्रह्म की एकता के करते हैं, पर यह आशय यहां कदापि नहीं, यदि यहां यह आशय होता तो निम्नलिखित श्लोक में यह भाव कदापि वर्णन न किया जाता कि:—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५४ ॥

पद०—मत्कर्मकृत् । मत्परमः । मद्भक्तः । सङ्गवर्जितः । निर्वैरः । सर्वभूतेषु । यः । सः । मां । एति । पाण्डव ॥

पदा०—(पाण्डव) हे अर्जुन ! (मत्कर्मकृत्) जो मेरे कर्म करता (मत्परमः) मैं ही हूं परमप्रिय जिसका और (यः) जो (मद्भक्तः) मेरा भक्त (सङ्गवर्जितः) कुसंग से वर्जित (सर्वभूतेषु, निर्वैरः) सब भूतों में राग द्वेष से रहित है (सः) वह (मां, एति) मुझको प्राप्त होता है ॥

भाष्य—पूर्व श्लोक में यदि "प्रवेष्टुं" के अर्थ ब्रह्म बन जाने के होते तो इस श्लोक में "मत्कर्मकृत्" इत्यादि वाक्यों से कर्म का विधान कदापि न पाया जाता, क्योंकि ब्रह्म बन जाने वाले मायावादियों के मत में जीव कर्म करके ब्रह्म नहीं बनता किन्तु ज्ञान से बनता है, और यहां

उस विश्वरूप की प्राप्ति कर्मों से वर्णन कीगई है, और बात यह है कि विश्वरूप में प्रवेश होने के क्या अर्थ ? विश्वरूप तो इनके मत में उपाधि वाला अर्थात् स्वयं मिथ्या है, फिर उस मिथ्याभूत विश्वरूप में प्रवेश होने से इनको क्या लाभ ॥

ननु–"स मामेति पाँगडव" इस वाक्य ने तो यह भाव बोधन करदिया कि परमात्मा को प्राप्त होता है अर्थात् परमात्मा के साथ उसका अभेद होजाता है फिर कैसे कहा जाता है कि जीव ब्रह्म का अभेद नहीं होता ? उत्तर—"मामेति" के अर्थ अभेद होने के नहीं, जैसाकि "देवदत्तो ग्राममेति" क्या इसके अर्थ देवदत्त के ग्राम बनजाने के हैं, नहीं इसके अर्थ यह होते हैं कि देवदत्त ग्राम को प्राप्त होता है, और वह प्राप्ति यहां स्वामी रामानुज ने इस प्रकार वर्णन की है कि "य एवं भूतः स मामेति मां यथावदवस्थितंप्राप्नोति निरस्ताविद्याद्यशेषदोषगन्धोमदेकानुभवरूपोभवतीत्यर्थः"=जो पूर्वोक्त रीति से मेरे कथन किये हुए कर्मों को करता है वह मेरे यथार्थ स्वरूप को प्राप्त होता है अर्थात् अविद्यादि सम्पूर्ण दोषों के निवृत्त होने से एकमात्र मेरा ही अनुभव करता है, यह "मामेति" के अर्थ हैं ॥

इस ११ वें अध्याय के उपसंहार में अनन्यभक्ति से परमात्मा की प्राप्ति कथन किये जाने और उसकी आज्ञा किये हुए कर्मों द्वारा ईश्वर प्राप्ति का विधान होने से यह स्पष्ट होगया कि मायावादियों की अभेदरूप प्राप्ति गीताशास्त्र का तात्पर्य नहीं, और "संगवर्जितः, निर्वैरः" इत्यादि कथन से यह भी स्पष्ट होगया कि यम नियमादिकों के द्वारा ही अर्जुन को कृष्ण ने वैदिक विश्वरूप दिखलाया है अन्य कोई कल्पित या असम्भव रूप नहीं ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीता
योगप्रदीपार्य्यभाष्ये, विश्वरूपदर्शनयोगो नाम
एकादशोऽध्यायः

अथ द्वादशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सङ्गति—"कविंपुराणमनुशासितारमणोरणीयांसं" गी० ८।९ तथा "यदक्षरं वेदविदो वदन्ति" गी० ८।११ इत्यादि श्लोकों में आपने निर्गुण ब्रह्म का ध्यान कथन किया, औरः—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ गी० ११।५५

इस श्लोक में आकर सगुण ब्रह्म का कथन किया, एवं निर्गुण और सगुण ब्रह्म की उपासनाविषयक सन्देहनिवृत्ति के लिये अर्जुन यह प्रश्न करते हैं किः—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

पद०—एवं । सततयुक्ताः । ये । भक्ताः । त्वां । पर्युपासते । ये । च । अपि । अक्षरं । अव्यक्तं । तेषां । के । योगवित्तमाः ॥

पदा०—(एवं) इस प्रकार (सततयुक्ताः) चित्तवृत्तिनिरोध से निरन्तर परमात्मा में जुड़े हुए (ये, भक्ताः) जो भक्त (त्वां, पर्युपासते) तुम्हारी उपासना करते (च) और (ये, अपि, अक्षरं, अव्यक्तं) जो अक्षर परमात्मा की उपासना करते हैं (तेषां) उनमें (के) कौन (योगवित्तमाः) विशेषकर योग को जानते हैं ॥

भाष्य-इस प्रश्न को अर्जुन ने निर्गुण सगुण के भाव से उठाया है, गीता में अस्मच्छब्द वाच्य सगुण, निर्गुण दोनों प्रकार का ब्रह्म है अर्थात् "मैं" वा "मेरा" इन शब्दों से कृष्णजी किसी स्थान में निर्गुण और किसी स्थान में सगुण ब्रह्म का कथन करते हैं ॥

ननु—तुम्हारे वैदिकमत में तो ब्रह्म सर्वथा निर्विशेष है फिर तुमने परस्पर विरुद्ध सगुण निर्गुण यह दोनों धर्म ब्रह्म में कैसे मान लिये ?

उत्तर—हमारे मत में ब्रह्म सविशेष और निर्विशेष दोनो धर्मों वाला है

और यह धर्म परस्परविरुद्ध इसलिये नहीं कि विशेषण युक्त होने से सविशेष और विशेषण रहित होने से निर्विशेष कहलाता है, जैसाकि "अपाणिपादः" श्वे० ३। १६ इत्यादि वाक्य सविशेष को और "सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म" इत्यादि वाक्य निर्विशेष को वर्णन करते हैं और वह एक ही वस्तु प्राकृत धर्मों से रहित होने के कारण निर्विशेष और अपने धर्मों के सहित होने से सविशेष है, इसलिये परस्पर विरोध नहीं, परस्पर विरोध तो उनके मत में है जो ईश्वर को प्राकृत धर्मों वाला मानकर निर्गुण और सगुण मानते हैं, जैसाकि आधुनिक समय के सनातन-भाष्यकार ईश्वर को विरुद्धधर्माश्रय मानते हैं, निर्विशेषवादी स्वामी शं० चा० इसका बलपूर्वक खण्डन करते हैं कि कूटस्थ ब्रह्म स्थिति और गति के समान विरुद्ध धर्मों का आश्रय नहीं होसक्ता, इस भाव को हम "वेदान्तार्य्यभाष्य" और "आर्य्यमन्तव्यप्रकाश" के कई स्थलों में वर्णन कर आये हैं कि निराकार ब्रह्म में निर्गुण और सगुण परस्पर विरोधि धर्म नहीं रहसक्ते, अस्तु-ईश्वर में परस्पर विरोधि धर्म नहीं पर यहां तो कृष्णजी ने तुम्हारे निर्विशेष अक्षर ब्रह्म से बढ़कर मूर्त्तिमान् को ही उपास्य बतलाया है फिर निर्विशेष ब्रह्म की उपासना श्रेष्ठ कैसे? उत्तर—कृष्णजी ने यहां मूर्त्तिमान् को श्रेष्ठ नहीं बतलाया किन्तु यह बतलाया है कि जो लोग संप्रज्ञात समाधिद्वारा उस परमात्मा का चिन्तन करते हैं उनके लिये अधिक कठिनता नहीं और जो असंप्रज्ञात योग द्वारा केवल निर्विशेष का अनुभव करते हैं उनके मार्ग में अधिक कठिनाई है, क्योंकि संप्रज्ञात योग में परमात्मा को सच्चिदानन्दादि गुणाकार वृत्तियें बनी रहती हैं और असंप्रज्ञात योग में उन सब वृत्तियों का निरोध होजाता है, इस आशय से यहां अक्षर=ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग को क्लिष्ट कहा है और वस्तुतः यह अनुभवसिद्ध भी है कि जबतक परमात्मा के सच्चिदानन्दादि विशेषणों से उसकी उपासना करते हैं तबतक कुछ कठिनाई प्रतीत नहीं होता पर जब इन सब गुणों को भुलाकर उसके अक्षर स्वरूप में चित्तवृत्तिनिरोध कियाजाता है उसमें अत्यन्त कठिनाई पड़ती है, जैसाकि "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" यो० १। ३ में

वर्णन किया है कि उस समय परमात्मा के स्वरूप में चित्तवृत्तिनिरोध कियाजाता है, उसी अभिप्राय से कृष्णजी कहते हैं कि:—

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

पद०—मयि। आवेश्य। मनः। ये। मां। नित्ययुक्ताः। उपासते। श्रद्धया। परया। उपेताः। ते। मे। युक्ततमाः। मताः ॥

पदा०-(ये) जो (मयि, आवेश्य, मनः) मेरे में मन लगाकर (मां) मेरी (नित्ययुक्ताः, उपासते) नित्य योग से युक्त होकर उपासना करते हैं (ते) वह (श्रद्धया, परया, उपेताः) परम श्रद्धा से युक्त (मे) मुझको (युक्ततमाः, मताः) युक्ततम अभिमत हैं ॥

भाष्य-" मां " शब्द के अर्थ यहां परमात्मा के हैं, इस भाव को सविशेषवाद और निर्विशेषवाद दोनों सम्प्रदायों के टीकाकार मानते हैं कि " अस्मच्छब्द " से यहां कृष्ण ने सगुण ब्रह्म का निरूपण किया है, उस सगुण ब्रह्म की उपासना करने वाले योगियों को "युक्ततम" इसलिये कहा गया है कि वह परमात्मा के सत्य सङ्कल्पादि धर्मों को धारण करके उसके साथ शीघ्र जुड़ जाते हैं और अक्षर के उपासक = निर्बीज समाधि वालों को चित्त की सब वृत्तियों के निरोध करने में कठिनाई पड़ती है, यहां साकार की उपासना के अभिप्राय से कृष्णजी ने यह कथन नहीं किया कि जो मेरी उपासना करते हैं वह युक्ततम हैं, यदि इस अभिप्राय से यह कथन होता तो गीता के अन्य स्थलों में अक्षर की उपासना कथन न कीजाती और नाही " **सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितं** " गी० १३। १४ इत्यादि श्लोकों में उस ज्ञेय ब्रह्म को सर्व धर्मों से रहित वर्णन किया जाता, अधिक क्या यदि कृष्णजी को अपनी उपासना से साकारमूर्त्ति आदिकों की उपासना अभिमत होती तो किसी साकार पदार्थ को यहां उपास्य अवश्य वर्णन करते और अभ्यास से ज्ञान, ज्ञान से ध्यान और ध्यान से कर्म के फल का त्याग, यह उत्तरोत्तर श्रेष्ठ की प्रणाली न कथन कीजाती, फिर तो जो मूर्त्ति की अधिक

पूजा करता वही श्रेष्ठ कथन किया जाता, हमारे विचार में तो यहां संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात योग का कथन है, इसी अभिप्राय से निम्नलिखित दो श्लोकों द्वारा निर्गुण ब्रह्मवेत्ताओं का वर्णन करते हैं:—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

पद०—ये । तु । अक्षरं । अनिर्देश्यं । अव्यक्तं । पर्युपासते । सर्वत्रगं । अचिन्त्यं । च । कूटस्थं । अचलं । ध्रुवं ॥

पदा०—(अक्षरं, अनिर्देश्यं) जो अक्षर निर्देश्य से रहित (अव्यक्तं) सूक्ष्म (सर्वत्रगं) सर्वत्र व्यापक (अचिन्त्यं) जो चिन्तन में नहीं आसक्ता (कूटस्थं) निर्विकार (अचलं) एक स्थान से दूसरे स्थान में न जाने वाला (च) और (ध्रुवं) स्थिर है (ये) जो (पर्युपासते) ऐसे अक्षर की उपासना करते हैं:—

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवंति मामेव सर्वभूतहितेरताः ॥ ४ ॥

पद०—सन्नियम्य । इन्द्रियग्रामं । सर्वत्र । समबुद्धयः । ते । प्राप्नुवंति । मां । एव । सर्वभूतहितेरताः ॥

पदा०—(ते) वह (प्राप्नुवन्ति, मां, एव) मुझको ही प्राप्त होते हैं जो (सर्वभूतहितेरताः) सब भूतों के हित में लगे हुए हैं, वह कैसे हैं (इन्द्रियग्रामं) इन्द्रियों के समुदाय को (सन्नियम्य) निरोध करके (सर्वत्र, समबुद्धयः) सब स्थानों में सम बुद्धि वाले हैं ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

पद०—क्लेशः । अधिकतरः । तेषां । अव्यक्तासक्तचेतसां । अव्यक्ता । हि । गतिः । दुःखं । देहवद्भिः । अवाप्यते ॥

पदा०—(तेषां, अव्यक्तासक्तचेतसां) उन अव्यक्त में लगे हुए चित्त वाले पुरुषों को (अधिकतरः) अधिक (क्लेशः) कष्ट होता है (हि) निश्चय करके (अव्यक्ता, गतिः) अव्यक्तविषयक गति (देहवद्भिः) देह वालों को (दुःखं, अवाप्यते) दुःख से प्राप्त होती है ॥

भाष्य—अव्यक्तविषयक गति की प्राप्ति को दुःख वाली इस अभिप्राय से कहा है कि वह संप्रज्ञात समाधि की अपेक्षा से कठिन है, संप्रज्ञात समाधि में विशेषणाकार वृत्तियों के बने रहने से सर्ववृत्तिनिरोधरूप कठिनाई नहीं पड़ती, इसलिये यहां सुकर होने से जिज्ञासु को उसी का उपदेश किया है, जैसाकिः—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

पद०—ये । तु । सर्वाणि । कर्माणि । मयि । संन्यस्य । मत्पराः । अनन्येन । एव । योगेन । मां । ध्यायन्तः । उपासते ॥

पदा०—(ये) जो पुरुष (सर्वाणि, कर्माणि, मयि, संन्यस्य) सब कर्मों को मुझ में अर्पण करके अर्थात् निष्काम कर्म करते हुए (अनन्येन, एव, योगेन) ईश्वर की अनन्यभक्ति से (मां, ध्यायन्तः, उपासते) ध्यान द्वारा मेरी उपासना करते हैं, फिर वह कैसे हैं (मत्पराः) मेरे परायण हैं, औरः—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

पद०—तेषां । अहं । समुद्धर्त्ता । मृत्युसंसारसागरात् । भवामि । न । चिरात् । पार्थ । मयि । आवेशितचेतसां ॥

पदा०—हे पार्थ ! (मयि, आवेशितचेतसां) मेरे में लगाया हुआ है चित्त जिन्होंने (तेषां) उनको (अहं) मैं (मृत्युसंसारसागरात्) मृत्युरूप संसार सागर से (समुद्धर्त्ता) उद्धार करने वाला हूं (न, चिरात्, भवामि) विलम्ब से नहीं अर्थात् शीघ्र ही प्राप्त करता हूं ॥

भाष्य—जो पुरुष मेरे परायण हैं उनके उद्धार करने में मैं विलम्ब नहीं करता, यहां कृष्णजी का यह आशय नहीं कि जो मेरे नाम की माला फेरते हैं उनके उद्धार करने में मैं विलम्ब नहीं करता किन्तु यह तात्पर्य्य है कि जो ईश्वरपरायण होते हैं उनके उद्धार करने में ईश्वर विलम्ब नहीं करता, जैसाकिः— **"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन"** कठ० १ । २३ इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट है

कि परमात्मपरायणपात्र को ही परमात्मा की प्राप्ति होती है, यदि व्यासजी का तात्पर्य्य वसुदेव के पुत्र कृष्ण के भक्तों के उद्धार में होता तो आगे जाकर ध्यान और अनुष्ठान का उपदेश न किया जाता, जैसाकिः—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

पद०—मयि । एव । मनः । आधत्स्व । मयि । बुद्धिं । निवेशय । निवसिष्यसि । मयि । एव । अतः । ऊर्ध्वं । न । संशयः ॥

पदा०—(मयि, एव) मेरे में ही (मनः) मन को (आधत्स्व) धारण कर (मयि, बुद्धिं, निवेशय) मेरे में ही बुद्धि को स्थिर कर (निवसिष्यसि, मयि, एव) मेरे में ही निवास कर (अतः, ऊर्ध्वं) ऐसा करने के अनन्तर मुझको प्राप्त होगा (न, संशयः) इसमें सन्देह नहीं ॥

भाष्य-इस श्लोक को मायावादी टीकाकारों ने साकार की उपासना में लगाया है, पर उनके मत में "अत ऊर्ध्वं मय्येव निवसिष्यसि" यहपाठ नहीं घटसक्ता, क्योंकि साकारोपासना से उनके मत में ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती, ब्रह्मप्राप्ति का साक्षात् साधन उनके मत में तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्य ज्ञान है अर्थात् "तू ब्रह्म है" इत्यादि उपदेश के अनन्तर वह लोग ज्यों का त्यों ब्रह्म बन जाते हैं और यही उनके मत में ब्रह्म में निवास और यही ब्रह्मप्राप्ति है, अस्तु-यहां विचार योग्य बात यह है कि अस्मच्छब्द का वाच्य कृष्णजी के अभिप्राय में कोई साकार वस्तु नहीं किन्तु वही संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात योग है जिसका वर्णन हम पीछे कर आये हैं और उसी को "मत्कर्मपरमो भव" इत्यादि वाक्यों से आगे कथन करते हैंः—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

पद०—अथ । चित्तं । समाधातुं । न । शक्नोषि । मयि । स्थिरं । अभ्यासयोगेन । ततः । मां । इच्छ । आप्तुं । धनंजय ॥

पदा०-हे धनंजय ! (अथ) यदि (चित्तं) चित्त को (मयि) मेरे विषयक (स्थिरं, समाधातुं) स्थिर स्थापन करने को (न, शक्नोषि) समर्थ नहीं (ततः) तो (अभ्यासयोगेन) अभ्यासयोग से (मां, आप्तुं इच्छ) मुझको प्राप्त होने की इच्छा कर ॥

भाष्य-मधुसूदन आदि टीकाकारों ने इस श्लोक को प्रतिमापूजन में लगाया है जिसका गन्धमात्र भी इस श्लोक में प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यदि यह श्लोक प्रतिमापूजन का विधान करता तो इस अग्रिम श्लोक में यह कथन न किया जाता किः—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

पद०-अभ्यासे । अपि । असमर्थः । असि । मत्कर्मपरमः । भव । मदर्थं । अपि । कर्माणि । कुर्वन् । सिद्धिं । अवाप्स्यसि ॥

पदा०-(अभ्यासे, अपि, असमर्थः, असि) यदि तू अभ्यास में भी असमर्थ है तो (मत्कर्मपरमः, भव) मेरे आश्रित होकर कर्म कर (मदर्थं, अपि, कर्माणि, कुर्वन्) मेरे अर्थ भी कर्मों को करता हुआ (सिद्धिं, अवाप्स्यसि) सिद्धि को प्राप्त होगा ॥

भाष्य-अभ्यास के अर्थ यहां समाधि के हैं अर्थात् तू संप्रज्ञात समाधि नहीं करसक्ता तो ईश्वर परायण होकर निष्काम कर्म हो कर, पौराणिक मत में यहां अभ्यास और मत्कर्मादि शब्दों के अर्थ भी मूर्त्तिपूजा के ही हैं, जैसाकिः—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं ।
अर्चनंवन्दनंदास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

अर्थ-राम कृष्णादि नामों का श्रवण करना, उनका कीर्त्तन=गान करना, स्मरण करना, पादसेवनं=साकार मूर्त्तियों का चरण सेवन करना, अर्चनं = पूजन करना, वन्दनं = नमस्कार करना, दास्यं=दासभाव करना, सख्यं = मैत्रीभाव करना और आत्मनिवेदनं = अपने आत्मा को उनके अर्पण करदेना, इत्यादि सब बातें मधुसूदन आदि टीकाकारों ने मत्कर्मादि वाक्यों से निकाली हैं, यदि यह भाव इस श्लोक का होता तो योगाभ्यास

की असमर्थता वर्णन करके फिर ऐसी पूजा कथन न कीजाती, यदि पूर्वपत्ती यह कहे कि जो योगाभ्यास में असमर्थ हैं उन्हीं के लिये प्रतिमा-पूजन है ? इसका उत्तर यह है कि आठवें श्लोक में जो यह कह आये हैं कि मेरे में मन को लगा और नवम में यह कथन किया है कि यदि मेरे में मन को नहीं लगासक्ता तो अभ्यासयोग कर, इस प्रकार उनके मत में साकार पूजा के अनन्तर अभ्यासयोग का विधान न किया जाता, हमारे विचार में तो उत्तरोत्तर निष्कामादि कर्मों को सुकर प्रतिपादन किया है और वह प्रतिपादन किसी पूजा विशेष के अभिप्राय से नहीं किन्तु शमविधि के अभिप्राय से है अर्थात् राग द्वेष के अभाव बोधन करने में तात्पर्य्य है, जैसाकि " तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी " गी० १२ । १६ में कथन किया है, इसी अभिप्राय से परमात्मपरायण आदि एक से एक सुकर कर्मों का विधान आगे वर्णन करते हैं:—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

पद०—अथ । एतत् । अपि । अशक्तः । असि । कर्तुं । मद्योगं । आश्रितः । सर्वकर्मफलत्यागं । ततः । कुरु । यतात्मवान् ॥

पदा०—(अथ) यदि (एतत्) यह काम (अपि) भी (कर्तुं) करने को (अशक्तः, असि) असमर्थ है तो (मद्योगं, आश्रितः) मेरे योग को आश्रय करके (ततः) फिर (यतात्मवान्) यत्न वाला होकर (सर्वकर्मफलत्यागं, कुरु) सब कर्मों के फल का त्याग कर ॥

भाष्य—"मद्योगं" के अर्थ यहां परमात्मपरायण होने के हैं कि तू एकमात्र परमात्मा को आश्रित करके सब कर्मों के फल का त्याग कर ॥

सं०—अब उस सर्वकर्मत्याग का फल कथन करते हैं:—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनंतरम् ॥ २१ ॥

पद०—श्रेयः । हि । ज्ञानं । अभ्यासात् । ज्ञानात् । ध्यानं । विशिष्यते । ध्यानात् । कर्मफलत्यागः । त्यागात् । शान्तिः । अनन्तरं ॥

पदा०—हे अर्जुन ! (हि) निश्चयकरके (अभ्यासात्, ज्ञानं, श्रेयः)

अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ (ज्ञानात्) ज्ञान से (ध्यानं) ध्यान (विशिष्यते) विशेष है (ध्यानात्, कर्मफलत्यागः) ध्यान से कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है, त्याग के (अनन्तरं) पश्चात् पुरुष (शान्तिः) शान्ति को प्राप्त होता है ॥

भाष्य–उक्त श्लोक में इस औपनिषदभाव को कथन किया गया है कि:–

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ कठ०६ । १४

अर्थ–जब यह मरणधर्मा मनुष्य अपने हृदय की सब कामनाओं को छोड़ देता है तब यह अमृत होजाता और इस दशा में ब्रह्म को प्राप्त होता है, इस प्रकार इस श्लोक में सब कामनाओं के त्याग से ब्रह्मप्राप्ति कथन कीगई है, और वह ईश्वर की भक्ति से होती है, जैसाकि "समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्" यो०२ । ४५ "ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यनन्तरायाभावश्च" यो० १ । २९ इत्यादि सूत्रों में वर्णन किया है कि निदिध्यासनरूप भक्ति से समाधिसिद्धि, उससे सर्वगत परमात्मा की प्राप्ति और विघ्नों का अभाव होता है, इस प्रकार समाधि के भाव को यह अध्याय वर्णन करता है, और जो यह कहा था कि निर्गुण के उपासकों को क्लेश होता है, इसके अर्थ मधुसूदन स्वामी यह करते हैं कि यह बात सगुण उपासना की स्तुति के अभिप्राय से कही गई है, इसका तात्पर्य्य निर्गुण ब्रह्म की उपासना के निषेध में नहीं, अस्तु–प्रसंगसंगति से यह बात हमने यहां कथन करदी बरन इनकी निन्दास्तुति से निर्गुण ब्रह्म की निन्दा स्तुति कदापि नहीं होसक्ती, जब ये स्वयं यह लिखते हैं कि:—

निर्विशेषं परमं ब्रह्म साक्षात्कर्त्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेनुकंप्यन्ते सविशेष निरूपणैः ॥

अर्थ–निर्विशेष ब्रह्म के साक्षात्कार करने में जो असमर्थ हैं वह मन्द पुरुष सगुण ब्रह्म के निरूपण से अनुग्रह किये जाते हैं अर्थात् उन पर दया की जाती है, इस कथन ने स्पष्ट करदिया कि अक्षर के उपासक सन्मार्ग में

स्थिर हैं, यह साकार का उलटा सीधा मार्ग तो मन्द पुरुषों के लिये ही है अक्षर के उपासकों को नहीं, इस विषय को हमने "वेदान्तार्य्यभाष्य" के उभयलिङ्गाधिकरण में विस्तारपूर्वक लिखा है कि ब्रह्म प्राकृत रूपों से कभी साकार नहीं होता, इसलिये यहां इसका लिखना उपयुक्त नहीं समझा, प्रकृत यह है कि निर्गुण अक्षर ब्रह्म के उपासक ही वास्तव में योगवित्तम हैं, जैसाकि "प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः" गी० ७। १७ "ज्ञानीत्वात्मैव मे मतं" गी० ७। १८ इत्यादि श्लोकों का ध्यान करके मधुसूदन आदि टीकाकारों ने भी अक्षर ब्रह्म के उपासकों को ही सर्वोपरि रखदिया, और जो पूर्व यह कथन किया था कि अक्षर के उपासकों को अधिक क्लेश होता है, और साकार के भक्त योगवित्तम कहलाते हैं, इस लेख को यहां आकार अद्वैतवादी टीकाकारों ने अर्थवाद बनादिया है और स्वामी शं० चा० ने तो इस श्लोक के भाष्य में साकारोपासकों को परतंत्र सिद्ध करके अक्षर के उपासकों को स्वतन्त्र होने के कारण सर्वोपरि सिद्ध किया है, ठीक है, जड़ोपास्ति से अधिक संसार में और क्या परतन्त्रता होसकती है, इसी अभिप्राय से "अथ योऽन्यांदेवतामुपासते" बृहदा० ३। २। ५ इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में साकारोपासकों की निन्दा की है ॥

सं०—अब अग्रिम आठ श्लोकों में निष्कामकर्मी चतुर्थाश्रमी ईश्वर भक्तों के गुण वर्णन करते हैं:—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

पद०—अद्वेष्टा। सर्वभूतानां। मैत्रः। करुणः। एव। च॥ निर्ममः। निरहंकारः। समदुःखसुखः। क्षमी॥

पदा०—हे अर्जुन! (सर्वभूतानां, अद्वेष्टा) जो पुरुष किसी प्राणी के साथ द्वेष नहीं करता (मैत्रः) मैत्री वाला (करुणः, एव, च) और करुणा वाला है (निर्ममः, निरहंकारः) ममता और अहंकार से रहित, (समदुःखसुखः) दुख सुख को सम जानता और (क्षमी) क्षमा वाला है, फिर कैसा है:—

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः ।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

पद०—सन्तुष्टः । सततं । योगी । यतात्मा । दृढ़निश्चयः । मयि । अर्पित । मनोबुद्धिः । यः । मे । भक्तः । सः । मे । प्रियः ।

पदा०—(सन्तुष्टः, सततं) जो यथालाभ निरन्तर सन्तुष्ट (योगी) परमात्मा में जुड़ा हुआ (यतात्मा) यत्नशील (दृढ़निश्चयः) दृढ़ निश्चय वाला, और (मयि, अर्पित, मनोबुद्धिः) परमात्मा में अर्पण करदी है मन=संकल्प करने की शक्ति और बुद्धि=विचार करने की शक्ति जिसने (यः) वही (मे, भक्तः) मेरा=परमात्मा का भक्त और (सः, मे, प्रियः) वही उसको प्रिय है ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

पद०—यस्मात् । न । उद्विजते । लोकः । लोकात् । न । उद्विजते । च । यः । हर्षामर्षभयोद्वेगैः । मुक्तः । यः । सः । च । मे । प्रियः ॥

पदा०—(यस्मात्) जिससे (लोकः, न, उद्विजते) यह प्राणधारी जीव भय नहीं करते (च) और (यः) जो (लोकात्) लोगों से (न, उद्विजते) भय नहीं करता (हर्षामर्षभयोद्वेगैः) हर्ष=इष्ट वस्तु को प्राप्त होकर प्रसन्न होना, अमर्ष=दूसरे को अधिक देखकर दुःखी होना, भय=मरण से भय करना, उद्वेग=व्याकुल रहना, इन चार प्रकार की चित्तवृत्तियों से (यः) जो (मुक्तः) मुक्त है (सः, च, मे, प्रियः) वह मेरा=परमात्मा का प्यारा भक्त है ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

पद०—अनपेक्षः । शुचिः । दक्षः । उदासीनः । गतव्यथः । सर्वारम्भपरित्यागी । यः । मद्भक्तः । सः । मे । प्रियः ॥

पदा०—(अनपेक्षः) जो किसी की आवश्यकता नहीं रखता (शुचिः)

पवित्र रहता (दक्षः) चतुर (उदासीनः) शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि विषयों से उपराम रहता (गतव्यथः) किसी प्रकार का दुःख नहीं मानता (सर्वारम्भपरित्यागी) परिग्रह वाले सब आरम्भों का जिसने परित्याग कर दिया है, ऐसा भक्त परमात्मा को प्रिय है ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

पद०—यः । न । हृष्यति । न । द्वेष्टि । न । शोचति । न । कांक्षति । शुभाशुभ । परित्यागी । भक्तिमान् । यः । सः । मे । प्रियः ॥

पदा०—(यः) जो (न, हृष्यति) किसी इष्ट वस्तु को प्राप्त होकर प्रसन्न नहीं होता (न, द्वेष्टि) अनिष्ट वस्तु को प्राप्त होकर न द्वेष करता (न, शोचति) न शोक करता (न, कांक्षति) न इच्छा करता, और (शुभाशुभ, परित्यागी) शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के कर्मफल को जिसने त्याग दिया है, ऐसा भक्त परमात्मा को प्रिय है ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८ ॥

पद०—समः । शत्रौ । च । मित्रे । च । तथा । मानापमानयोः । शीतोष्णसुखदुःखेषु । समः । संगविवर्जितः ॥

पदा०—(समः, शत्रौ, च, मित्रे, च,) जो शत्रु तथा मित्र में समान (तथा, मानापमानयोः) मान अपमान में समान, और जो (शीतोष्णसुखदुःखेषु) शीत, उष्ण, सुख, दुःख में (समः) समान है, फिर कैसा है (संगविवर्जितः) किसी का संग नहीं करता अर्थात् सर्वदा एकान्त रहता है ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

पद०—तुल्यनिन्दास्तुतिः । मौनी । सन्तुष्टः । येन । केनचित् । अनिकेतः । स्थिरमतिः । भक्तिमान् । मे । प्रियः । नरः ॥

पदा०—(तुल्यनिंदास्तुतिः) जो निन्दा स्तुति में समान रहता (मौनी)

अपनी वाणी पर दण्ड रखता अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर बोलता (सन्तुष्टः, येन, केनचित्) जो कुछ उसको प्रारब्धानुसार मिल जाता है उसी में सन्तुष्ट रहता (अनिकेतः) कोई घर नहीं रखता, जो (स्थिर-मतिः) दृढ़ निश्चय वाला है (भक्तिमान्, मे, प्रियः, नरः) वह भक्ति वाला पुरुष मेरा प्यारा है ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

पद०—ये । तु । धर्म्यामृतं । इदं । यथा । उक्तं । पर्युपासते । श्रद्दधानाः । मत्परमाः । भक्ताः । ते । अतीव । मे । प्रियाः ॥

पदा०—(इदं, धर्म्यामृतं) इस धर्मपूर्वक अमृत को जो (यथा, उक्तं) पूर्व वर्णन किया गया है (ये) जो पुरुष (पर्युपासते) अनुष्ठान करते हैं, फिर वह कैसे हैं (श्रद्दधानाः) श्रद्धा वाले तथा (मत्परमाः) परमात्मपरायण हैं (भक्ताः, ते) वह भक्त (अतीव, मे, प्रियाः) परमात्मा को अत्यन्त प्यारे हैं ॥

भाष्य—इन श्लोकों में संन्यासधर्म का उपदेश किया है अर्थात् १२ वें श्लोक में जो निष्कामकर्म का फल शान्ति कथन कीगई थी उस शान्ति को आठ श्लोकों में वर्णन किया है, उसी शान्ति का नाम धर्म्यामृत=मोक्ष-धर्म है, इस मोक्षधर्म का इस श्लोकाष्टक में वर्णन किया गया है, यह उपदेश वर्णचतुष्टय के लिये नहीं किन्तु चतुर्थाश्रमी संन्यासी के लिये है, संप्रज्ञात तथा असंप्रज्ञात समाधि के प्रसङ्ग में यह उपदेश ग्रन्थकार ने यहां प्रसङ्ग सङ्गति से वर्णन किया है, इस उपदेश में एक यह बात ध्यान रखने योग्य है कि जो आधुनिक वेदान्ति यह कहा करते हैं कि संन्यासी के लिये कोई विशेष कर्तव्य नहीं रहता वह स्वयं ब्रह्म बन जाता है, इसका यहां कृष्णजी ने खण्डन करके इन श्लोकों में स्पष्ट रीति से यह वर्णन किया है कि सर्वथा निरपेक्ष होने पर भी संन्यासी परमात्मा का भक्त बना रहता है, इसी अभिप्राय से प्रायः सब श्लोकों के अन्त में "यो मद्भक्तः स मे प्रियः" यह कथन किया गया है अर्थात् जो इस प्रकार का भक्त है वह परमात्मा को अत्यन्त प्रिय है, और यहां ही नहीं " प्रियो हि

ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः" गी० ७। १७ इत्यादि श्लोकों में भी वर्णन किया है कि ज्ञानी पुरुष मुझे प्रिय है, आधुनिक वेदान्तियों के मतानुकूल इस धर्म्यामृत की सङ्गति तब लगती जब प्रत्येक श्लोक के अन्त में भक्ति के स्थान में जीव को ब्रह्मभाव का उपदेश किया जाता, पर ऐसा नहीं, इस "षट्क" में परमात्मा की विभूति और उसके ध्यानकर्त्ता योगेश्वरों का उस परमात्मा से उपास्य उपासकभाव सम्बन्ध निरूपण किया गया है॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः द्वितीयं षट्कं समाप्तम्

अथ त्रयोदशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सङ्गति–प्रथम "पट्क" में जीवात्मा का नित्यत्व प्रतिपादन करके अर्जुन के शोक मोहादिकों की निवृत्ति की फिर मध्यम "पट्क" में परमात्मा की विभूति और उसके ध्यानकर्त्ता योगेश्वरों का उससे सम्बन्ध निरूपण किया, अब इस तृतीय "पट्क" में जीव, ईश्वर, प्रकृति इन तीनों के गुण तथा भेद का वर्णन स्पष्ट रीति से किया जाता है, और जीव तथा प्रकृति के सम्बन्ध से जो चार वर्ण और चार आश्रम हैं उनके धर्मों का भी इस "पट्क" में विशेष वर्णन है, मायावादियों के मत में इस "पट्क" की सङ्गति पूर्व के दोनों "पटकों" से इस प्रकार है कि उनके मत में प्रथम पट्क में "त्वं" पदार्थ अर्थात् जीव का निरूपण, मध्यम पट्क में "तत्" पदार्थ अर्थात् ईश्वर का निरूपण और इस तृतीयपट्क में तत्, त्वं पदार्थ के अभेदरूप महावाक्यों के अर्थ को निरूपण किया गया है अर्थात् जीव ब्रह्म की एकता इस "पट्क" में वर्णन कीगई है ॥

गीता के पूर्वोत्तर देखने से इनकी यह सङ्गति सर्वथा असङ्गत प्रतीत होती है, क्योंकि यदि जीव ब्रह्म की एकता को यह पट्क प्रतिपादन करता तो जीव को ब्रह्मबोधन करने वाले वाक्य इसमें अवश्य होते, हम दृढ़ता पूर्वक कहते हैं कि जीव को ब्रह्म बोधन करने वाला वाक्य इसमें एक भी नहीं ॥

ननु—"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत" गी० १३।२ इस श्लोक में कृष्णजी ने अपने आपको क्षेत्रज्ञ कहा है, इससे पाया जाता है कि क्षेत्रज्ञ जीव को ब्रह्मभाव का उपदेश किया गया है तथा "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" गी० १५।७ इसमें जीव को अपना अंश वर्णन किया है और अंश अंशी का अभेद पाया जाता है, फिर यह कैसे कहा जाता है कि यह "पट्क" जीव ब्रह्म की एकता को वर्णन नहीं करता ? उत्तर–यदि अपने आपको क्षेत्रज्ञ प्रतिपादन करने से यहां जीव ब्रह्म की एकता होगई तो "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च" गी० ९।२४ और

" भूतानामस्मि चेतना " गी १० । २२ इत्यादि श्लोकों में जीव ब्रह्म की एकता क्यों नहीं ? यदि यह कहो कि इन वाक्यों में तो परमात्मा ने अपनी विभूति वर्णन की है, इसलिये परमात्मा को सर्वोपरि बोधन करने में इन वाक्यों का तात्पर्य्य है तो उत्तर यह है कि इस क्षेत्रज्ञाध्याय में भी परमात्मा ही अपने आपको क्षेत्रज्ञ और वही जीव को अपना अंश वर्णन करता है इस प्रकार यहां भी परमात्मा के महत्व का वर्णन है न कि जीव को ब्रह्म कथन किया गया है, जीव ब्रह्म की एकता तब होती जब जीव को ब्रह्मभाव का उपदेश किया जाता, जैसाकि इनके मतानुकूल "तत्त्वमसि" वाक्य में जीव को ब्रह्मभाव का उपदेश किया गया है. यदि यह कहो कि जब जीव को परमात्मा का अंश वर्णन करदिया तो फिर जीव ब्रह्म की एकता में न्यूनता ही क्या रही ? इसका उत्तर यह है कि अंश वर्णन करने का तात्पर्य्य परमात्मा से विभक्त होकर जीव के अंश बनने का नहीं किन्तु उसका एकदेशी होने से अंश कहा गया है, जैसाकि "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि" यजु० ३१ । ३ इस मन्त्र में सब भूतों को परमात्मा का एकदेशी होने से अंशरूप वर्णन किया गया है, यह अंश बोधक वाक्य जीव ब्रह्म की एकता को विधान नहीं करता किन्तु उसके एकदेश में होने वाले अंशरूप जीव को विधान करता है, मायावादियों के अंशाअंशी भाव का जो विशेष खण्डन देखना चाहें वह "कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा " ब्र० सू० २ । १ । २६ इस सूत्र के भाष्य तथा अंशाधिकरण " वेदान्तार्य्यभाष्य " में देखलें, यहां हम विस्तार के भय से नहीं लिखते. एवं पूर्वोत्तर विचार करने से स्पष्ट होजाता है कि मायावादियों ने तीनों "षट्कों" की सङ्गति मायावाद में लगाने के लिये मायामात्र से रचली है कि प्रथम के दोनों "षट्क" तत्, त्वं पद का वर्णन करते हैं और यह "षट्क" उन दोनों के अभेद का वर्णन करता है, यह बात सर्वथा उलटी है, क्योंकि प्रकृति और जीव का भेद, जीव ईश्वर का भेद, जीवों के सात्विक, राजस, तामसादि स्वभाव, चारो वर्णों के भिन्न २ धर्म, इत्यादि अनेक भेद की बातों को यह षट्क वर्णन करता है. सच तो यह है कि येनकेन प्रकार से जीव ब्रह्म की एकता की ओर मध्यम षट्क

को तो यह खेंच सक्ते हैं पर यहां तो जीव ब्रह्म की एकता का गंधमात्र भी नहीं फिर इस षट्क को जीव ब्रह्म की एकता का बोधक कैसे कहते हैं? पर विचारे क्या करें इस षट्क को यदि जीव ब्रह्म की एकता का बोधक न बतलायें तो मध्यम षट्क में वर्णन कीहुई एकता को यह षट्क फिर मिटा देता है, इसलिये इन्होंने इसी को जीव ब्रह्म की एकता का भाण्डार माना है, अस्तु-इन छ अध्यायों के सत्यार्थ से ज्ञात होजायगा कि इस "षट्क" का तत्व क्या है, देखोः—

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

पद०-इदं । शरीरं । कौन्तेय । क्षेत्रं । इति । अभिधीयते । एतत् । यः । वेत्ति । तं । प्राहुः । क्षेत्रज्ञः । इति । तद्विदः ॥

पदा०-(कौन्तेय) हे अर्जुन! (इदं, शरीरं) यह प्रकृतिरूप शरीर (क्षेत्रं, इति, अभिधीयते) क्षेत्र नाम से कथन किया जाता है (एतत्, यः, वेत्ति) इसको जो जानता है (तं) उसको (क्षेत्रज्ञः)) क्षेत्रज्ञ नाम से (तद्विद:, प्राहुः) उसके जानने वाले पुरुष कथन करते हैं ॥

भाष्य-कौन्तेय=कुन्ती का पुत्र होने से अर्जुन को सम्बोधन दिया है, क्षेत्र के अर्थ यहां "प्रकृति" के हैं, वह इस प्रकार कि जो स्वयं क्षय को प्राप्त हो उसको "क्षेत्र" कहते हैं, क्योंकि यह छिन्न भिन्न होती रहती है अर्थात् परिणामी होने से इसको क्षेत्र कहा गया है, और इसका ज्ञाता होने से जीव को "क्षेत्रज्ञ" नाम से कथन किया है ॥

सं०—अब इस प्रकृतिरूप क्षेत्र के सर्वज्ञाता परमात्मा का वर्णन करते हैंः—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

पद०-क्षेत्रज्ञं । च । अपि । मां । विद्धि । सर्वक्षेत्रेषु । भारत । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः । ज्ञानं । यत् । तत् । ज्ञानं । मतं । मम ॥

पदा०-हे भारत ! (सर्वक्षेत्रेषु) प्रकृति के ब्रह्माण्डरूप सब क्षेत्रों

में (क्षेत्रज्ञं, च, अपि, मां, विद्धि) क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान, क्योंकि (क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः, यत्, ज्ञानं) क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान (तत्, ज्ञानं, मम, मतं) वह ज्ञान मुझे ज्ञात है ॥

भाष्य—इस श्लोक में प्रकृति के सब ब्रह्माण्डों का ज्ञाता परमात्मा ने अपने आपको कथन किया है, इसलिये इन श्लोकों में परमात्मा का वर्णन है, मायावादियों के मतानुसार इस श्लोक में कृष्ण जी ने जीव ब्रह्म की एकता वर्णन की है, वह इस प्रकार कि क्षेत्रज्ञ नामा जीव को कृष्णजी ने अपना आप कहा तो इसके अर्थ यह हुए कि जीव का जीवभाव जो अविद्या से कल्पित है उसको छोड़कर हे अर्जुन ! तू इस जीव को परमात्मरूप से जान अर्थात् अन्तःकरणादि सब उपाधियों से रहित जीव को असंसारी ब्रह्मरूप जान और इस अर्थ में उपनिषदों के यह चार वाक्य प्रमाण दिये हैं " अयमात्माब्रह्म " बृहदा० २।५।१९ " अहंब्रह्मास्मि " " तत्त्वमसि " " प्रज्ञानमानन्दंब्रह्म " ऐत० ५।३ =(१) यह जीवात्मा ब्रह्म है (२) मैं ब्रह्म हूं (३) तू ब्रह्म है (४) यह आनन्दस्वरूप प्रज्ञान नाम वाला जीव ब्रह्म है, मायावादी उक्त वाक्यों के यह अर्थ करते हैं, सार यह है कि माया से कल्पना किया हुआ यह प्रकृतिरूप क्षेत्र रज्जु सर्प के समान इनके मत में मिथ्या है, इस मिथ्यारूप भ्रम का अधिष्ठान ब्रह्म सत्य है, इस प्रकार क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान वही इनके मत में यथार्थ ज्ञान है, इसीलिये कहा है कि " यत्तत् ज्ञानं मतं मम " = जो इस प्रकार का ज्ञान है वह परमात्मा को यथार्थरूप से इष्ट है, मायावादियों के इन अर्थों का गन्धमात्र भी इस श्लोक में नहीं पाया जाता, यदि इस श्लोक में इनके माने हुए उक्त वाक्यों का यही अर्थ होता तो जीव को ब्रह्मरूप से गीता के किसी न किसी स्थान में व्यासजी अवश्य वर्णन करदेते पर ऐसा कहीं भी कथन नहीं किया कि यह जीव ब्रह्म है, और इनके मत में जो उक्त वाक्यों के अर्थ किये गये हैं वह सर्वथा असंगत हैं, सत्यार्थ यह है कि (१) यह सर्वगत आत्मा ब्रह्म है, इस वाक्य में आत्मा नाम परमात्मा का है (२) वामदेव ने परमात्मा के सत्य संकल्पादि धर्मों को धारण करके कहा है कि मैं ब्रह्म हूं, जैसाकि कौषीतकी में इन्द्र ने प्रतर्दन को कहा है (३) छान्दोग्य

में उद्दालक ने श्वेतकेतु को कहा है कि तेरा वह सत्स्वरूप है जो मरता नहीं (४) ब्रह्म प्रज्ञानस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप है, पूर्वोत्तर संगति से इनके अर्थ " वेदान्तार्य्यभाष्यभूमिका " में लिखे हैं उनके यहां लिख ने से अधिक विस्तार होता था इसलिये यहां नहीं लिखे, सार यह है कि यदि मायावादियों के मतानुकूल यह प्रकृतिरूप क्षेत्र ब्रह्म में रज्जु सर्प के समान कल्पित होता और जीव ब्रह्म की एकता ही इस श्लोक का तत्त्व होता तो चतुर्थ श्लोक में जाकर जो यह कहा है कि मुझसे प्रथम ऋषियों, वेदों तथा ब्रह्मसूत्रों ने इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को विस्तारपूर्वक कथन किया है तो फिर उस विस्ताररूप कथन में इनके कल्पित की कहानी और जीव ब्रह्म की एकता अवश्य होती पर वेदों और ब्रह्मसूत्रों में जीव ब्रह्म की एकता और कल्पित की कहानी का गंधमात्र भी नहीं, प्रत्युत परमात्मा को जीव का उपास्य कथन किया गया है, जैसाकिः—

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृरणं बृहस्पतिर्मेतद्धातु। शंनो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥ यजु० २६।२

अर्थ-हे परमात्मन्! मेरे चक्षु, हृदय और मन के जो छिद्र हैं उनको तू पूर्ण कर, इस सम्पूर्ण भुवन का पति जो तू है हमारे लिये कल्याणकारी हो, इत्यादि मन्त्रों में परमेश्वर को जीव का उपास्य देव कथन किया है और इसी अर्थ को (१) " अनुपपत्तेस्तु न शारीरः " ब्र० सू० १।२।३ (२) " कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च " ब्र० सू० १।२।४ (३) " शब्दविशेषात् " ब्र० सू० ५ (४) " स्मृतेश्च " ब्र० सू० ६ में वर्णन किया है कि (१) जीव कदापि ब्रह्म नहीं होसक्ता (२) ब्रह्म उपास्य और जीव उपासक है (३) जीव ब्रह्म के कथन करने वाले शब्दों का भी भेद है (४) स्मृति से भी जीव ब्रह्म का भेद पाया जाता है, इत्यादि वेद और ब्रह्मसूत्रों में जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट है, फिर इनके जीव ब्रह्म की एकता की कथा विस्तारपूर्वक वेद और ब्रह्मसूत्रों में कहां है? और जो यह कहा है कि वह प्रकृतिरूप क्षेत्र कल्पित है, यदि यह क्षेत्र कल्पित होता तो इसका इस प्रकार भेदरूप से वर्णन क्यों किया जाता? भेदरूप से वर्णन किये जाने के कारण सिद्ध है कि दोनों एक नहीं॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

पद०—तत् । क्षेत्रं । यत् । च । यादृक् । च । यद्विकारि । यतः । च । यत् । सः । च । यः । यत्प्रभावः । च । तत् । समासेन । मे । शृणु ॥

पदा०—(यः) जो (तत्, क्षेत्रं) वह प्रकृतिरूप क्षेत्र (यत्, च) जैसा है (यादृक्,च) जिस स्वभाव वाला है (यद्विकारि) जिन २ विकारों वाला (च) और (यतः, यत्) जिस २ कारण से उत्पन्न होता है (सः, च) वह क्षेत्रज्ञ (यत्प्रभावः) जिस प्रभाव वाला है (तत्) वह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का स्वरूप (समासेन) संक्षेप से (मे) मेरे से (शृणु) सुन ॥

भाष्य—इस श्लोक में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को भिन्न २ वर्णन करने के लिये उपक्रम किया है ॥

सं०—ननु, तुम जो कहते हो कि मुझसे क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के स्वरूप का वर्णन संक्षेप से सुन, तो क्या तुमसे प्रथम किसी ने इसका विस्तारपूर्वक भी वर्णन किया है ? उत्तरः—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

पद०—ऋषिभिः । बहुधा । गीतं । छन्दोभिः । विविधैः । पृथक् । ब्रह्मसूत्रपदैः । च । एव । हेतुमद्भिः । विनिश्चितैः ॥

पदा०— (ऋषिभिः) ऋषियों ने (बहुधा) बहुत प्रकार से (गीतं) वर्णन किया है (विविधैः, छन्दोभिः) ऋग् तथा यजुरादि वेदों में (पृथक्) पृथक् २ इस क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का भेद वर्णन है (च) और (ब्रह्मसूत्रपदैः) ब्रह्मसूत्रों के पदों ने भी इसका वर्णन किया है (एव)जो निश्चय-करके (हेतुमद्भिः) युक्तियों और (विनिश्चितैः) निश्चित अर्थ वाले हैं ॥

भाष्य—प्रकृति, प्रकृति के कार्य्य ब्रह्माण्डरूप क्षेत्रों और उन क्षेत्रों के ज्ञाता क्षेत्रज्ञ=परमात्मा का ऋषियों, वेदों और ब्रह्मसूत्रों ने विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है, जैसाकि "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्" बृहदा० ३।७।३

इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में शरीररूप क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ परमात्मा का स्पष्ट वर्णन है, पुरुषसूक्तादिकों में वेदों ने वर्णन किया है तथा वेदान्तशास्त्र के प्रकृत्यधिकरण और प्रयोजनवत्वादि अधिकरणों में ब्रह्मसूत्रों ने वर्णन किया है, इस प्रकार विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ का स्वरूप सर्वथा सत्य है मिथ्या नहीं ॥

सं०-अब क्षेत्र के स्वरूपान्तर्गत इस महाभूतादि विश्ववर्ग का वर्णन करते हैं:—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

पद०-महाभूतानि । अहंकारः । बुद्धिः । अव्यक्तं । एव । च । इन्द्रियाणि । दश । एकं । च । पंच । च । इन्द्रियगोचराः ॥

पदा०-(महाभूतानि) पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश यह पांच महाभूत (अहंकारः) अहंकार (बुद्धिः) अहंकार का कारण महत्तत्व-रूप बुद्धि (अव्यक्तं) प्रकृति (इन्द्रियाणि, दश, एकं, च) पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और मन; यह एकादश इन्द्रिय (पंच, च, इन्द्रिय-गोचराः) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह पांच इन्द्रियों के विषय, और:-

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

पद०-इच्छा । द्वेषः । सुखं । दुःखं । संघातः । चेतना । धृतिः । एतत् । क्षेत्रं । समासेन । सविकारं । उदाहृतं ॥

पदा०-(इच्छा) अनुकूल पदार्थों की प्राप्ति का संकल्प (द्वेषः) प्रतिकूल पदार्थों में अप्रिय बुद्धि (सुखं) जो अपने आपको अनुकूल प्रतीत हो (दुःखं) जो अपने आपको प्रतिकूल प्रतीत हो, पांचतत्वों की मिलावट जो यह शरीर उसका नाम "संघात" विचार करने वाली शक्ति का नाम "चेतना" और व्याकुल होने पर चित्त को दृढ़ता देने वाली शक्ति का नाम "धृति" है (एतत्, क्षेत्रं) यह क्षेत्र (सविकारं) विकार के सहित (समासेन) संक्षेप से (उदाहृतं) वर्णन किया है ॥

भाष्य-इन श्लोकों में प्रकृतिरूप क्षेत्र अपने कार्य्य के साथ वर्णन

किया गया है, यह सांख्यशास्त्र की प्रक्रिया है इसमें किसी मिथ्याभूत वस्तु का नाम प्रकृति नहीं किन्तु जगत् के कारण का नाम "प्रकृति" है, मायावादी लोग इसके अर्थ मिथ्याभूत माया के करते हैं, यदि यहां प्रकृति माया के अर्थों में होती तो इसके मिथ्यापन में ग्रन्थकार कुछ अवश्य कहते, पर यहां तो "सविकारमुदाहृतं" यह विशेषण देकर प्रकृति के कार्य्यों को विकारी और प्रकृतिरूप क्षेत्र को परिणामी नित्य माना है, इनके मत में माया नित्य नहीं, यही इस क्षेत्ररूप प्रकृति और इनकी माया का बड़ा भेद है ॥

सं०—अब क्षेत्र=प्रकृति के प्रतिपादनानन्तर क्षेत्रज्ञ=जीव का प्रतिपादन करने के लिये अग्रिम पांच श्लोकों में उसके सद्गुण कथन करते हैं:—

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

पद०—अमानित्वं । अदंभित्वं । अहिंसा । क्षान्तिः । आर्जवं । आचार्योपासनं । शौचं । स्थैर्यं । आत्मविनिग्रहः ॥

पदा०—(अमानित्वं) मान न करना (अदम्भित्वं) दंभ* न करना (अहिंसा) हिंसा न करना (क्षान्तिः) शान्ति रखना (आर्जवं) किसी के साथ छल न करना (आचार्योपासनं) गुरु की सेवा करना (शौचं) पवित्र रहना (स्थैर्यं) दृढ़ रहना (आत्मविनिग्रहः) मन को बुरी वासनाओं से रोक कर रखना ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

पद०— इन्द्रियार्थेषु । वैराग्यं । अनहंकारः । एव । च । जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनं ॥

पदा०—(इन्द्रियार्थेषु, वैराग्यं) इन्द्रियों के अर्थ=शब्द स्पर्शादि विषयों में इच्छा न रखना (अनहंकारः) अहंकार न करना (च) और

---

* लोभ के वशीभूत होकर अपने अपगुणों को छिपाकर सद्गुणरूप से महात्मापन प्रकट करने का नाम "दम्भ" है।

(जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनं) जन्म, मृत्यु, जरा=वृद्धावस्था, व्याधि=रोग, दुःख, इनमें दोषानुदर्शनं = दोषों का दिखलाना ॥

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

पद०-असक्तिः । अनभिष्वंगः । पुत्रदारगृहादिषु । नित्यं । च । समचित्तत्वं । इष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥

पदा०-(पुत्रदारगृहादिषु) पुत्र, स्त्री, गृह आदि पदार्थों में (असक्तिः) आसक्त न होना (अनभिष्वंगः) इनमें ममता न करना (इष्टानिष्टोपपत्तिषु) इष्ट=अनुकूल, अनिष्ट=प्रतिकूल, इनकी उपपत्ति=प्राप्ति में (नित्यं, च, समचित्तत्वं) सदा एकरस रहना ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

पद०-मयि । च । अनन्ययोगेन । भक्तिः । अव्यभिचारिणी । विविक्तदेशसेवित्वं । अरतिः । जनसंसदि ॥

पदा०-(अनन्ययोगेन) एकमात्र परमात्मा में युक्त होकर (मयि) मेरे में (अव्यभिचारिणी, भक्तिः) दूसरे में न होने वाली भक्ति करना (च) और (विविक्तदेशसेवित्वं) एकान्त देश में रहना (जनसंसदि) बहुत भीड़भाड़ में (अरतिः) प्रीति न रखना ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

पद०-अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं । तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं । एतत् । ज्ञानं । इति । प्रोक्तं । अज्ञानं । यत् । अतः । अन्यथा ॥

पदा०-(अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं) आत्मोन्नतिविषयक ज्ञान में सदा प्रवृत्त रहना (तत्वज्ञानार्थदर्शनं) तत्वज्ञान के लिये पुनः २ शास्त्र का अभ्यास करना (एतत्,ज्ञानं,इति,प्रोक्तं) यह ज्ञान कथन किया गया है (यत्) जो (अतः, अन्यथा) इससे अन्य है वह (अज्ञानं) अज्ञान है ॥

भाष्य-इन श्लोकों में जीव के ज्ञानप्रद गुणों का कथन किया गया है और इनसे भिन्न मानित्व, दंभित्व, हिंसादि सब आत्मज्ञान के विरोधी

होनेसे अज्ञानमद कहे गये हैं, इन गुणों में से " तत्वज्ञानार्थदर्शन " इत्यादि गुणों को मायावादियों ने जीव ब्रह्म की एकता में लगाया है, इनके मत में "मैं ब्रह्म हूं" यही तत्वज्ञान और सब मिथ्याज्ञान है पर गीता के कर्त्ता व्यासजी का यह तात्पर्य्य नहीं, व्यासजी ने उक्त बीस साधनों को जो अमानित्व से लेकर तत्वज्ञान पर्य्यन्त कथन किये गये हैं ब्रह्मज्ञान के लिये कथन किया है ॥

सं०- अब वह ज्ञेय पदार्थ " ब्रह्म " आगे ६ श्लोकों द्वारा प्रतिपादन किया जाता हैः—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

पद०—ज्ञेयं । यत् । तत् ।प्रवक्ष्यामि। यत् । ज्ञात्वा । अमृतं । अश्नुते। अनादिमत् । परं । ब्रह्म । न । सत् । तत् । न । असत् । उच्यते ॥

पदा०—(यत्, ज्ञेयं, तत्, प्रवक्ष्यामि) जो जानने योग्य है वह मैं कथन करता हूं (यत्, ज्ञात्वा) जिसको जानकर (अमृतं, अश्नुते) जीव अमृत को भोगता है (परं, ब्रह्म) वह परब्रह्म (अनादिमत्) अनादि है (न, तत्, सत्, न, असत्, उच्यते) वह न सत् कहा जासकता और न असत् कहा जासकता है ॥

भाष्य—"अमृत" शब्द के अर्थ यहां मुक्ति के हैं कि उक्त ब्रह्म के ज्ञान से पुरुष मुक्ति को लाभ करता है, लोक में स्थूल कारण " सत् " और कार्य्य " असत् " कहाजाता है, इन दोनों अवस्थाओं से रहित होने के कारण ब्रह्म को सत् और असत् से भिन्न कथन किया गया है ॥

सं०—ननु, जब वह सत्, असत् दोनों ही नहीं अर्थात् सर्वथा निर्विशेष है तो फिर वह कैसे जाना जासक्ता है ? उत्तरः—

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

पद०—सर्वतः । पाणिपादं । तत् । सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं । सर्वतः । श्रुतिमत् । लोके । सर्वं । आवृत्य । तिष्ठति ॥

पदा०-(तत्) वह ब्रह्म (सर्वतः, पाणिपादं) सब ओर से हस्तपादादि शक्तिवाला (सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं) सब ओर से चक्षु, शिर और मुख की शक्ति वाला (सर्वतः, श्रुतिमत्) सब ओर से सुनने की शक्तिवाला, और (लोके, सर्वं, आवृत्य, तिष्ठति) वह इस लोक में सबको व्याप्त करके स्थिर होरहा है ॥

भाष्य-इस श्लोक में वर्णित अंगों के यह अर्थ नहीं कि वह सब हस्तपादादि अवयव वाला है, यदि यह अर्थ होते तो "अपाणिपादः" श्वे० ३। १९ इत्यादि उपनिषद्वाक्यों से विरोध आता, इस विरोधपरिहार के लिये स्वामी रामानुज ने इसके यह अर्थ किये हैं कि "सर्वतश्चक्षुरादिकार्य्यकृत्" = वह सब ओर से चक्षु आदि के कार्य्यों को करसक्ता है, इस प्रकार सर्वत्र सर्वशक्तिसम्पन्न होने से वह अभाववत् निर्विशेष नहीं किन्तु अपने गुणों से सविशेष है, मायावादियों के मत में हस्तपादादि अवयवों वाला होकर भी निर्गुण इस प्रकार होसक्ता है कि उनके मत में रज्जु सर्प के समान उसमें हस्तपादादि अवयव कल्पित हैं, इसलिये उन कल्पित अवयवों से अधिष्ठानभूत ज्ञेय ब्रह्म की कुछ हानि नहीं, पर यह अर्थ यदि इस श्लोक के होते तो निम्नलिखित श्लोक में निर्गुण सगुण का विरोध इस प्रकार न मिटाया जाता, जैसाकिः—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

पद०—सर्वेन्द्रियगुणाभासं । सर्वेन्द्रियविवर्जितं । असक्तं । सर्वभृत् । च । एव । निर्गुणं । गुणभोक्तृ । च ॥

पदा०-(सर्वेन्द्रियगुणाभासं) वह ब्रह्म सब इन्द्रियों के गुणों से जाना जाता (सर्वेन्द्रियविवर्जितं) वह स्वयं सब इन्द्रियों से रहित (असक्तं) सब बन्धनों से रहित (सर्वभृत्) सबको धारण करने वाला (निर्गुणं) निर्गुण (च) और (गुणभोक्तृ) सब गुणों का भोक्ता है ॥

भाष्य-निर्गुण तथा सगुण के भेद को यहां इस प्रकार मिटाया है कि वह परमात्मा स्वयं निर्गुण और इस सब प्राकृत जगत् के धारण

करने से गुणों को उपलब्ध करता है इसलिये भोक्ता कथन किया गया है वास्तव में वह भोक्ता नहीं, अद्वैतवादियों के मत में इसके यह अर्थ हैं कि देह इन्द्रियादिकों में तादात्म्याध्यास से वह जीवभाव को प्राप्त होकर सब इन्द्रियों वाला और भोक्ता बन रहा है पर वास्तव में वह ज्यों का त्यों ब्रह्म है भोक्ता नहीं, यह मिथ्यावाद के अर्थ यदि इस श्लोक के होते तो अग्रिम श्लोक में यह न कहा जाता किः—

बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥ १५ ॥

पद०—बहिः । अंतः । च । भूतानां । अचरं । चरं । एव । च । सूक्ष्मत्वात् । तत् । अविज्ञेयं । दूरस्थं । च । अंतिके । च । तत् ॥

पदा०—(भूतानां) वह ज्ञेय ब्रह्म सब प्राणियों के (बहिः) बाहर (च) और (अंतः) भीतर है (अचरं, चरं, एव, च) वह स्थिर और चलता भी है (सूक्ष्मत्वात्, तत्, अविज्ञेयं) सूक्ष्म होने से वह अविज्ञेय (दूरस्थं) दूर (च) और (अंतिके, च, तत्) ज्ञान से उपलब्ध होने के कारण सब के समीप है ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह वर्णन किया है कि हे अर्जुन ! वह ज्ञेय ब्रह्म सब के बाहर भीतर है, इत्यादि, रज्जुसर्प के समान ब्रह्म के गुणों को कल्पित मानकर उसको निर्गुण सिद्ध नहीं किया किन्तु व्याप्य व्यापक भाव से बाहर और भीतर कथन किया है, निर्विकार होने से अचल, उत्पत्ति, स्थिति आदि क्रियाओं का कर्त्ता होने से चलने वाला, सूक्ष्म होने से दुर्विज्ञेय, ज्ञानचक्षु रहित पुरुषों से दूर और ज्ञानचक्षु वालों के लिये समीप कथन किया है, इस प्रकार का विरोध परिहार श्रुति स्मृति में तभी किया गया है जब उस ब्रह्म के गुण रज्जुसर्प के समान कल्पित नहीं, फिर वह ज्ञेय ब्रह्म कैसा हैः—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

पद०—अविभक्तं । च । भूतेषु । विभक्तं । इव । च । स्थितं । भूतभर्तृ । च । तत् । ज्ञेयं । ग्रसिष्णु । प्रभविष्णु । च ॥

पदा०-(भूतेषु, अविभक्तं) भूतों में अविभक्त=विभाग को प्राप्त नहीं (च) और (विभक्तं, इव, स्थितं) विभक्त के समान प्रतीत होता है (भूतभर्तृ, च, तत्, ज्ञेयं) वह सब भूतों का स्वामी (ग्रसिष्णु) सब का लय करने वाला (च) और (प्रभविष्णु) सब की उत्पत्ति करने वाला है ॥

भाष्य-अद्वैतवादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जैसे एक ही आकाश घट मठादि उपाधियों से भिन्न २ हुआ घटाकाश और मठाकाश कहलाता है, इस प्रकार वह ब्रह्म ही सब देहों में प्रविष्ट होकर " **विभक्तं इव च स्थितं** "=विभक्त के समान प्रतीत होरहा है वास्तव में वह बट नहीं रहा किन्तु महाकाश के समान एक ही है, यह अर्थ करना मायावादियों की सर्वथा खेंच है, क्योंकि वह शुद्धब्रह्म अज्ञानरूप उपाधि में नहीं फसता, यदि वह इनके मतानुकूल अज्ञानरूप उपाधि में आकर ही जीव बना हुआ होता तो यह न कहा जाता किः—

ज्योतिषामपितज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानंज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

पद०—ज्योतिषां । अपि । तत् । ज्योतिः । तमसः । परं । उच्यते । ज्ञानं । ज्ञेयं । ज्ञानगम्यं । हृदि । सर्वस्य । धिष्ठितं ॥

पदा०-(ज्योतिषां, अपि, तत्, ज्योतिः) वह ज्ञेय ब्रह्मज्योतियों का भी ज्योति (तमसः, परं, उच्यते) अज्ञानरूप तम से परे कहा जाता है (ज्ञानं) ज्ञानस्वरूप (ज्ञानगम्यं, ज्ञेयं) ज्ञान से जानने योग्य ज्ञेय और (हृदि, सर्वस्य, धिष्ठितं) सब प्राणियों के हृदय में स्थिर है ॥

भाष्य-इस श्लोक में स्पष्ट रीति से वर्णन करदिया कि ब्रह्म किसी उपाधि में फसकर जीव नहीं बनता, वह स्वयंप्रकाश और अज्ञानान्धकार से परे है ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

पद०-इति । क्षेत्रं । तथा । ज्ञानं । ज्ञेयं । च । उक्तं । समासतः । मद्भक्तः । एतत् । विज्ञाय । मद्भावाय । उपपद्यते ॥

पदा०-(इति, क्षेत्रं, तथा, ज्ञानं) यह क्षेत्र तथा ज्ञान (च) और (ज्ञेयं) जानने योग्य ब्रह्म (समासतः) संक्षेप से (उक्तं) कथन किये गये (एतत्, विज्ञाय) इनको जानकर (मद्भक्तः) मेरे भक्त (मद्भावाय) मेरे भाव को (उपपद्यते) प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य-"मद्भावायोपपद्यते" के अर्थ मायावादी यह करते हैं कि वह जीव ब्रह्म बन जाता है, पर वास्तव में इसके अर्थ यह हैं कि क्षेत्र=प्रकृति और ज्ञेय = ब्रह्म, इन दोनों के पूर्ण ज्ञान को उपलब्ध करके जिज्ञासु सत्य सङ्कल्पादि ब्रह्म के धर्मों को धारण कर मुक्ति को प्राप्त होता है ॥

सं०-ननु, यदि ज्ञेय ब्रह्म कृष्ण से भिन्न होता तो वह "मद्भावायोपपद्यते" यह कदापि न कहते किन्तु "तद्भावायोपपद्यते"= उस ज्ञेय ब्रह्म के भावों को प्राप्त होता है, यह कहते, इससे पाया जाता है कि कृष्ण ही परमेश्वर तथा उन्हीं का अंश भूलकर जीव बना हुआ है, और एकमात्र चेतन में यह सब प्राकृत धर्म रज्जुसर्प के समान कल्पित हैं? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये अब प्रकृति, पुरुष तथा परमात्मा इन तीन अनादियों का वर्णन करते हैं :—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १६ ॥

पद०-प्रकृतिं । पुरुषं । च । एव । विद्धि । अनादि । उभौ । अपि । विकारान् । च । गुणान । च । एव । विद्धि । प्रकृतिसंभवान् ॥

पदा०- (प्रकृतिं, पुरुषं, च, एव) प्रकृति तथा जीवात्मा (उभौ, अपि) इन दोनों को भी (अनादि, विद्धि) अनादि जान (विकारान्, च, गुणान्, च, एव) परिणामादि विकार और सत्वादि गुण इनको भी (प्रकृतिसंभवान) प्रकृति से उत्पन्न हुए (विद्धि) जान ॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

पद०-कार्यकारणकर्तृत्वे । हेतुः । प्रकृतिः । उच्यते । पुरुषः । सुखदुःखानां । भोक्तृत्वे । हेतुः । उच्यते ॥

पदा०–(कार्य्यकारणकर्तृत्वे) कार्य्य=यह शरीर रूप कार्य्य, कारण=मन सहित इन्द्रियवर्ग, इनके कर्तृत्वे=करने में (प्रकृतिः, हेतुः, उच्यते) प्रकृति उपादानकारण कथन कीगई है, और (पुरुषः) जीवात्मा (सुखदुःखानां) सुख दुःख के (भोक्तृत्वे) भोगने में (हेतुः, उच्यते) हेतु कथन किया गया है ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

पद०–पुरुषः । प्रकृतिस्थः । हि । भुङ्क्ते । प्रकृतिजान् । गुणान् । कारणं । गुणसंगः । अस्य । सदसद्योनिजन्मसु ॥

पदा०–(पुरुषः, प्रकृतिस्थः) प्रकृति में स्थिर हुआ यह जीवरूप पुरुष (हि) निश्चयकरके (प्रकृतिजान्, गुणान्) प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों को (भुंक्ते) भोगता है (अस्य, गुणसंगः) इस जीवात्मा का जो प्रकृति के गुणों के साथ सम्बन्ध है वह (सदसद्योनिजन्मसु) ऊंच नीच योनियों में जन्म पाने में (कारणं) कारण है ॥

भाष्य–प्रकृति के अर्थ यहां मायावादियों ने माया के किये हैं और "गुणसंगः" के अर्थ उस माया के गुणों में फसकर जो अध्यास होता है कि यह मैं हूं, यह मेरा है, यह अध्यास ही जीव के जन्मों में कारण और उस अध्यास से रहित पुरुष ही इनके मत में परमेश्वर है, इनके अध्यासवाद का यह अर्थ यदि गीता में होता तो न जीव को अनादि कहा जाता और नाही प्रकृति को अनादि कहा जाता, क्योंकि इनके मत में जीव अध्यास से बनता है इसलिये अनादि नहीं, और माया भी स्वरूप के अज्ञान से ही उत्पन्न होती है इसलिये वह भी अनादि नहीं, यदि इसके अध्यास की फ़िलासफ़ी गीता में होती तो अनादि पदार्थों का कथन गीता में कदापि न होता और नाहीं तीसरा अनादि पदार्थ जो परमात्मा है उसको सबका स्वामी कथन किया जाता, जैसाकिः—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

पद०—उपद्रष्टा । अनुमन्ता । च । भर्त्ता । भोक्ता । महेश्वरः । परमात्मा । इति । च । अपि । उक्तः । देहे । अस्मिन् । पुरुषः । परः ॥

पदा०—(उपद्रष्टा) साक्षी (अनुमन्ता) जीवकृत कर्मों के शुभाशुभ फल का दाता (भर्त्ता) सब जीवों को उनके कर्मानुकूल फल देकर भरण पोषण करने वाला (भोक्ता) एकमात्र अपने आनन्दस्वरूप का अनुभव कर्त्ता (महेश्वरः) सबसे बड़ी सामर्थ्य वाला (परमात्मा) परमेश्वर (अस्मिन्, देहे) इस देह में (परः, पुरुषः, अपि, उक्तः) परम पुरुष भी कथन किया गया है ॥

भाष्य—इस श्लोक में स्पष्ट रीति से जीव और प्रकृति से परमात्मा भिन्न वर्णन किया है, इससे यह भी स्पष्ट होगया कि कृष्णजी का अपने आपको ईश्वर मानना यथार्थ होता तो इस क्षेत्रज्ञाध्याय में ज्ञेय ब्रह्म को अपने से भिन्न वर्णन न करते और नाही प्रकृति पुरुष के तत्वज्ञान से मोक्ष मानते, जैसाकि नीचे के श्लोक में वर्णन किया है किः—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

पद०—यः । एवं । वेत्ति । पुरुषं । प्रकृतिं । च । गुणैः सह । सर्वथा । वर्तमानः । अपि । न । सः । भूयः । अभिजायते ॥

पदा०—(यः, एवं, पुरुषं) जो इस प्रकार परमात्मपुरुष को (च) और (गुणैः, सह) गुणों के साथ (प्रकृतिं, वेत्ति) प्रकृति को जानता है (सः) वह (सर्वथा, वर्तमानः, अपि) सर्वथा संसार में रहता हुआ भी (भूयः) फिर (न, अभिजायते) कर्मफल भोग के लिये जन्म धारण नहीं करता ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह कथन किया है कि परमात्मा को उपलब्ध करने वाला पुरुष प्रारब्ध कर्मों के क्षय होने के अनन्तर जन्म नहीं लेता किन्तु मुक्ति को प्राप्त होता है ॥

सं०—अब परमात्मा के ज्ञान का प्रकार कथन करते हैं:—

ध्यानेनात्मनि पश्यंति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

पद०–ध्यानेन । आत्मनि । पश्यन्ति । केचित् । आत्मानं । आत्मना । अन्ये । सांख्येन । योगेन । कर्मयोगेन । च । अपरे ॥

पदा०–(केचित्) कई एक पुरुष (ध्यानेन, आत्मनि, पश्यन्ति) ध्यान से परमात्मा को देखते, कई एक (आत्मना) सूक्ष्म बुद्धि द्वारा सद-सद्विवेक से (आत्मानं) परमात्मा को जानते (अन्ये, सांख्येन, योगेन, अन्य वैदिक वाक्यों के श्रवण तथा उनके युक्तिपूर्वक मनन से (च) और (कर्मयोगेन, अपरे) कोई निष्कामकर्मों द्वारा परमात्मा को जानते हैं ॥

सं०–अब मन्द अधिकारियों के लिये परमात्मप्राप्ति के साधन कथन करते हैं :—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपिचातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

पद०-अन्ये । तु । एवं । अजानन्तः । श्रुत्वा । अन्येभ्यः । उपासते । ते । अपि । च । अतितरन्ति । एव । मृत्युं । श्रुतिपरायणाः ॥

पदा०–(अन्ये, तु, एवं, अजानन्तः) अन्य तो उक्त प्रकार से श्रवण, मननादिकों को जानते हुए (अन्येभ्यः, श्रुत्वा) औरों से सुनकर (उपासते) परमात्मा की उपासना करते हैं वह (एव) निश्चय (मृत्युं) इस मृत्युरूप संसार सागर को (अतितरन्ति) तर जाते हैं, और जो (श्रुतिपरायणाः) वैदिक मार्ग को आश्रय किये हुए हैं (ते, अपि) वह भी परमात्मा को प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य–इस श्लोक में मन्द अधिकारी जो श्रवण, मनन द्वारा परमात्मा को नहीं जानसकते उनके लिये परमात्मप्राप्ति के साधन कथन किये हैं अर्थात् उत्तम, मध्यम, मन्द तीनों प्रकार के अधिकारियों को परमात्मा की प्राप्ति कथन की है, केवल ध्यान द्वारा उत्तम अधिकारियों को तथा श्रवण, मनन द्वारा मध्यम अधिकारियों को और उक्त साधनों में जो असमर्थ हैं उन अधिकारियों के लिये "श्रुतिपरायणाः" कहकर केवल वैदिकमार्ग के श्रवण करने से परमात्मा की प्राप्ति कथन की है, सार यह है कि मन्द से मन्द अधिकारी को भी किसी प्रतीकादि मार्ग द्वारा परमात्मा की प्राप्ति कथन नहीं की और नाही जीव ब्रह्म की एकता द्वारा किसी को परमात्मप्राप्ति कथन की है ॥

सं०–अब इस चराचर जगत् की उत्पत्ति का कारण क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का संयोग वर्णन करते हैं:—

यावत्संजायते किंचित्सत्वं स्थावर जंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

पद०–यावत् । संजायते । किंचित् । सत्वं । स्थावर । जंगमं । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोगात् । तत् । विद्धि । भरतर्षभ ॥

पदा०–(भरतर्षभ) हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! (यावत्) जितने (स्थावर, जंगमं, सत्वं, किंचित् संजायते) स्थावर, जंगम आदि जो कुछ चराचर कोई भी पदार्थ उत्पन्न होते हैं उनको (क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्) परमात्मा और प्रकृति के सम्बन्ध से (तत्, विद्धि) उत्पन्न हुआ जान ॥

भाष्य–मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि संसार में जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं वह क्षेत्र=अनिर्वचनीय अविद्या और क्षेत्रज्ञ=परमात्मा, इन दोनों का जो मिथ्याज्ञान से तादात्म्याध्यास है उससे यह सब संसार उत्पन्न होता है, पर इस क्षेत्रज्ञाध्याय में किसी स्थान में भी क्षेत्र के अर्थ माया वा अविद्या के नहीं, इसलिये इनके यह आविद्यक अर्थ सर्वथा निर्मूल हैं ॥

सं०–अब इस प्रकृतिरूप क्षेत्र में परमात्मा की नित्यता वर्णन करते हैं:—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठंतं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

पद०–समं । सर्वेषु । भूतेषु । तिष्ठंतं । परमेश्वरं । विनश्यत्सु । अविनश्यंतं । यः । पश्यति । सः । पश्यति ॥

पदा०–(सर्वेषु, भूतेषु) सब प्राणियों में (समं, तिष्ठंतं, परमेश्वरं) एकरस रहते हुए परमात्मा को (यः, पश्यति) जो जानता है (सः, पश्यति) वही ठीक जानता है (विनश्यत्सु, अविनश्यंतं) जो इन सब नाशवान् पदार्थों के नाश होते हुए वह अविनाशी स्थिर रहता है ॥

सं०–अब परमात्मा के इस यथार्थज्ञान का फल कथन करते हैं:—

समंपश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

पद०-समंपश्यन् । हि । सर्वत्र । समवस्थितं । ईश्वरं । न । हिनस्ति । आत्मना । आत्मानं । ततः । याति । परां । गतिं ॥

पदा०-(सर्वत्र, समवस्थितं, ईश्वरं) सर्वत्र एकरस परमात्मा को (हि) निश्चयकरके (समंपश्यन्) एकरस देखता हुआ पुरुष (आत्मना) अपने आपसे (आत्मानं) अपने आपको (न, हिनस्ति) हनन नहीं करता (ततः) इस यथार्थ ज्ञान के अनन्तर (परां, गतिं) मुक्ति को (याति) प्राप्त होता है ॥

भाष्य-अपने आपसे अपना हनन वह कहलाता है जो मनुष्यजन्म के धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप फलचतुष्टय से भ्रष्ट होकर अधोगतिको प्राप्त होना है, जो पुरुष परमात्मा को सर्वगत देखता है वह उसके इस उत्तम ज्ञान से मन्दकर्म न करने के कारण अपने आपसे अपना नाश नहीं करता ॥

सं०-ननु, किसी को परमात्मा ने सुखी बनाया और किसी को दुखी, किसी को ऊंच और किसी को नीच, ऐसे विषम दृष्टि वाले परमात्मा को एकरस कैसे देखसक्ता है ? उत्तरः—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

पद०-प्रकृत्या । एव । च । कर्माणि । क्रियमाणानि । सर्वशः । यः । पश्यति । तथा । आत्मानं । अकर्तारं । सः । पश्यति ॥

पदा०-(सर्वशः, कर्माणि) सब प्रकार के कर्म (प्रकृत्या, एव, क्रियमाणानि) प्रकृति से किये जाते हैं (यः, पश्यति, तथा, आत्मानं) जो इस प्रकार परमात्मा को देखता है (अकर्तारं, सः, पश्यति) वह उसको अकर्त्ता देखता है ॥

भाष्य—जीव कर्म करने में स्वतन्त्र होने के कारण उसकी प्रकृति से जो शुभाशुभ कर्म किये जाते हैं उन कर्मों का फल देने वाला केवल परमात्मा है, इसलिये उसमें पूर्वोक्त विषमदृष्टि का दोष नहीं आता ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

पद०-यदा । भूतपृथग्भावं । एकस्थं । अनुपश्यति । ततः । एव । च । विस्तारं । ब्रह्म । संपद्यते । तदा ॥

पदा०-(यदा) जब (भूतपृथग्भावं) पृथिवी आदि भिन्न २ भूतों को (एकस्थं, अनुपश्यति) एक परमात्मा में स्थिर देखता और (ततः, एव, च, विस्तारं) उसी परमात्मा से इस ब्रह्माण्ड का विस्तार देखता है (तदा) तब (ब्रह्म, संपद्यते) ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥

भाष्य—इस श्लोक का आशय यह है कि जो पृथिवी आदि भूतों के भेद को प्रलयकाल में एकमात्र परमात्मा के आश्रित मानता और उसी से फिर उत्पत्तिकाल में विस्तार समझता है वह "ब्रह्म संपद्यते"=ब्रह्म को प्राप्त होता है, अद्वैतवादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जिस प्रकार रज्जु में कल्पित सर्प रज्जु से भिन्न नहीं और सुवर्ण के कुण्डलादिक सुवर्ण से भिन्न नहीं होते, इसी प्रकार सब भूतों को जो ब्रह्म में कल्पित समझता है वह "ब्रह्म संपद्यते"=ब्रह्म बन जाता है, इनके यह अर्थ यहां इसलिये नहीं घटते कि उक्त श्लोक में कल्पित होने की कथा कहीं भी नहीं और नाही ब्रह्म बनने का कथन है किन्तु ब्रह्म को प्राप्त होने का कथन है, जैसाकि कोई यह कहे कि "देवदत्तो ग्रामं संपद्यते" तो इसके यह अर्थ होते हैं कि देवदत्त ग्राम को प्राप्त होता है, न कि ग्राम बन जाता है, स्वामी रामानुज इसके यह अर्थ करते हैं कि "ब्रह्म सम्पद्यते=अनवच्छिन्न ज्ञानैकाकारमात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः"=अपरमित ज्ञानवाला जो परमात्मा है उसको जीव प्राप्त होता है, यह ज्ञानगम्य प्राप्ति कहलाती है अर्थात् ज्ञान द्वारा उसको उपलब्ध करता है ॥

सं०-ननु, जब वह सब भूतों के भीतर स्थिर है तो फिर वह जीववत् पुण्य पाप का भागी क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का नीचे तीन श्लोकों द्वारा उत्तर देते हैं:—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

पद०—अनादित्वात् । निर्गुणत्वात् । परमात्मा । अयं । अव्ययः ।

शरीरस्थः । अपि । कौन्तेय । न । करोति । न । लिप्यते ॥

पदा०-हे कौन्तेय ! (अनादित्वात्, निर्गुणत्वात्) अनादि तथा निर्गुण होने से (अयं, अव्ययः) यह निर्विकार परमात्मा (शरीरस्थः, अपि) शरीर के भीतर रहकर भी (न, करोति) न कुछ करता और (न, लिप्यते) न संगदोष को प्राप्त होता है ॥

सं०ननु, वह कैसे संगदोष को प्राप्त नहीं होता ? उत्तरः—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशंनोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

पद०-यथा । सर्वगतं । सौक्ष्म्यात् । आकाशं । न । उपलिप्यते । सर्वत्र । अवस्थितः । देहे । तथा । आत्मा । न । उपलिप्यते ॥

पदा०-(सौक्ष्म्यात्) सूक्ष्म होने से (यथा) जैसे (सर्वगतं) सर्वव्यापक (आकाशं) आकाश (न, उपलिप्यते) सङ्गदोष को प्राप्त नहीं होता (तथा) इसी प्रकार (आत्मा, सर्वत्र, देहे, अवस्थितः) परमात्मा सब देहों में स्थित होकर भी (न, उपलिप्यते) सङ्गदोष को प्राप्त नहीं होता ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

पद०-यथा । प्रकाशयति । एकः । कृत्स्नं । लोकं । इमं । रविः । क्षेत्रं । क्षेत्री । तथा । कृत्स्नं । प्रकाशयति । भारत ॥

पदा०-हे भारत ! (इमं, कृत्स्नं, लोकं) इस सम्पूर्ण लोक को (यथा) जैसे (एकः, रविः, प्रकाशयति) एक सूर्य्य प्रकाश करता है (तथा) इसी प्रकार (कृत्स्नं, क्षेत्रं) इस सम्पूर्ण प्रकृतिरूप क्षेत्र को (क्षेत्री) क्षेत्र वाला परमात्मा (प्रकाशयति) प्रकाश करता है ॥

सं०-अब क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के भेदज्ञान का महत्व और कर्मों से छूटने के ज्ञान का महत्व वर्णन करके इस अध्याय को समाप्त करते हैं:—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृति मोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

पद०-क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः । एवं । अन्तरं । ज्ञानचक्षुषा । भूतप्रकृति । मोक्षं । च । ये । विदुः । यांति । ते । परं ॥

पदा०-(क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः) क्षेत्र = प्रकृति, क्षेत्रज्ञ = परमात्मा, इन दोनों के (अन्तरं) भेद और (भूतप्रकृति, मोक्षं) जीवों के प्रकृतिरूप स्वाभाविक कर्म उनके मोक्ष = त्याग को (ज्ञानचक्षुषा) ज्ञानचक्षुओं द्वारा (ये, विदुः) जो जानते हैं (ते) वह (परं) परमात्मा को (यांति) प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य-इस श्लोक में क्षेत्र = प्रकृति और क्षेत्रज्ञ = परमात्मा के भेद ज्ञान द्वारा मुक्ति कथन की है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मायावादियों का एकत्वज्ञान मुक्ति का कारण नहीं, और ३० वें श्लोक में जो इन्होंने यह अर्थ किये थे कि रज्जु सर्प के समान इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को कल्पित समझकर जो ब्रह्म के एकत्व को जानता है वह ब्रह्म बनजाता है, इस भाव को यहां व्यासजी ने प्रकृति पुरुष का भेदज्ञान प्रतिपादन करके सर्वथा मिटा दिया, और जो मायावादियों ने "भूतप्रकृति" के अर्थ अविद्या करके "भूतप्रकृतिमोक्षं" के अर्थ अविद्यानाश के किये हैं, यह भी इनके मत में नहीं घटते, क्योंकि इनके मत में सब भेदज्ञान आविद्यक है, फिर उस आविद्यक भेदज्ञान को रखकर इनकी अविद्या का नाश कैसे कहलासक्ता है ? सारांश यह है कि इनके मत में माया, अविद्या, अज्ञान, एक ही वस्तु के नाम हैं और उस अविद्यारूप माया में यह सब ब्रह्माण्ड कल्पित है, इस अविद्या के अर्थ में यदि यहां "भूतप्रकृति" शब्द या प्रयोग होता तो इस अध्याय में प्रकृति पुरुष का भेद प्रतिपादन न किया जाता जिसको कोई मायावादी सहस्रों युक्ति उक्तियों से भी मिटा वा छिपा नहीं सक्ता, फिर "भूतप्रकृतिमोक्षं" के अर्थ इस भेदज्ञान के नाशक कैसे होसक्ते हैं, अतएव इसके यही अर्थ हैं कि जो प्राणियों में स्वाभाविककर्म करने की सामर्थ्यरूप प्रकृति है उसका निष्कामकर्मों द्वारा जो मोक्ष नाम त्याग करता है वह परमपद मुक्ति को प्राप्त होता है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोगप्रदी-
पार्य्यभाष्ये, प्रकृतिपुरुषविवेकयोगो नाम
त्रयोदशोऽध्यायः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सङ्गति–पूर्व अध्याय में प्रकृति, पुरुष तथा परमात्मा का भेद वर्णन करके
" कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु " गी० १३ । २१
इस वाक्य से प्रकृति के गुणों का सङ्ग जीव के जन्म का हेतु वर्णन किया गया, अब किस प्रकार प्रकृति के गुण बन्धन का हेतु होते और उनसे पुरुष किस प्रकार बचसक्ता है, इस विषय को विस्तारपूर्वक वर्णन करने के लिये इस अध्याय का प्रारम्भ करते हुए प्रथम दो श्लोकों में इस ज्ञान के महत्व का वर्णन करते हैं :—

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितोगताः ॥ १ ॥

पद०–परं । भूयः । प्रवक्ष्यामि । ज्ञानानां । ज्ञानं । उत्तमं । यत् । ज्ञात्वा । मुनयः । सर्वे । परां । सिद्धिं । इतः । गताः ॥

पदा०–हे अर्जुन ! (ज्ञानानां) जो सब ज्ञानों में (उत्तम, ज्ञानं) उत्तम ज्ञान (परं) परम श्रेष्ठ है उसको (भूयः, प्रवक्ष्यामि) फिर तुमको उपदेश करता हूं (यत्, ज्ञात्वा) जिसको जानकर (सर्वे, मुनयः) सब मुनि (इतः) यहां से (परां, सिद्धिं) मुक्ति को (गताः) प्राप्त हुए हैं ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

पद०–इदं । ज्ञानं । उपाश्रित्य । मम । साधर्म्य । आगताः । सर्गे । अपि । न । उपजायन्ते । प्रलये । न । व्यथन्ति । च ॥

पदा०–(इदं, ज्ञानं) इस ज्ञान को (उपाश्रित्य) लाभ करके जो (मम) मेरी (साधर्म्य) बरांबरी को (आगताः) प्राप्त हुए हैं (सर्गे, अपि, न, उपजायन्ते) ऐसे ज्ञानी पुरुष फिर जन्म में नहीं आते (न) और (प्रलये, न, व्यथन्ति) न प्रलयकाल में दुःख पाते हैं ॥

भाष्य–"साधर्म्य" शब्द के अर्थ यहां तद्धर्मतापत्ति के हैं, परमात्मा को

परमभक्ति से उसके गुणों को अपने में धारण करना "तद्धर्मतापत्ति" कहलाती है, जैसा परमात्मा सत्यसंकल्प है वैसा ही सत्यसंकल्प होना, जैसा वह निष्पाप है वैसा ही आप भी पाप रहित होना, जैसा वह विज्ञानी है वैसे ही विज्ञान को आप भी धारण करना, इत्यादि अनेक परमात्मा के धर्म हैं जिनको धारण करने से तद्धर्मतापत्ति कही जाती है, यह तद्धर्मतापत्ति ही वैदिकमत में मुक्ति और इसी को ऐश्वर्य्यप्राप्ति भी कहते हैं, जैसाकि "स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषंब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" छा० ८। १५ । १ इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है, और जो यह कहा है कि वह फिर जन्म में नहीं आते और दुःख नहीं पाते, यह कथन इस ज्ञान की स्तुति के अभिप्राय से है वास्तव में नहीं, यदि यह कथन वास्तविक होता तो ब्रह्मलोक वालों का मुक्ति से लौटना कृष्णजी क्यों कथन करते ॥

सं०-अब जगत् के उपादान कारण प्रकृति को ईश्वराधीन कथन करते हैं:—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

पद०-मम । योनिः । महद्ब्रह्म । तस्मिन् । गर्भं । दधामि । अहं । संभवः । सर्वभूतानां । ततः । भवति । भारत ।

पदा०-हे भारत ! (मम) मेरे अधीन (योनिः) उपादानकारण (महद्ब्रह्म) जो प्रकृति है (तस्मिन्) उसमें (अहं) मैं (गर्भं, दधामि) गर्भ को धारण करता हूं (ततः) इसी से (सर्वभूतानां) सब प्राणियों की (सम्भवः, भवति) उत्पत्ति होती है ॥

भाष्य- "महद्ब्रह्म" यहां प्रकृति का नाम है, वह इस प्रकार कि सब कार्य्यसमूह से प्रकृति बड़ी होने के कारण "महत्" कही गई है, कार्यों की वृद्धि का हेतु होने से ब्रह्म और महत् नाम महत्तत्व का है उसकी वृद्धि का हेतु होने से प्रकृति को "महद्ब्रह्म" कहा है, मायावादियों के मत में यहां "महद्ब्रह्म" माया का नाम है, इनके मत में माया से ही ईश्वर में कर्तृत्व है वास्तव में कर्त्तापन नहीं, पर वह माया इनके मत में ब्रह्म का अज्ञान ही है कोई भिन्न वस्तु नहीं, और यहां महद्ब्रह्मरूप प्रकृति ब्रह्म से वास्तव में

भिन्न कथन की है, इसलिये इसके अर्थ प्रकृति के ही हैं ब्रह्म के नहीं ॥

सं०-अब उस प्रकृतिरूप उपादान कारण से निमित्तकारणरूप परमात्मा को भिन्न कथन करते हैं:—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवंति याः ।
तासां ब्रह्ममहद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

पद०-सर्वयोनिषु । कौन्तेय । मूर्त्तयः । सम्भवंति । याः । तासां । ब्रह्म । महत् । योनिः । अहं । बीजप्रदः । पिता ॥

पदा०-हे कौन्तेय ! (सर्वयोनिषु) सब योनियों में (याः, मूर्त्तयः) जो मूर्त्तियें (संभवंति) उत्पन्न होती हैं (तासां) उनका (ब्रह्म, महत्, योनिः) प्रकृति उपादान कारण और (अहं) मैं (बीजप्रदः, पिता) बीजदाता पिता हूं ॥

भाष्य-इस श्लोक में यह स्पष्ट करदिया कि अकेली प्रकृति ही कारण नहीं किन्तु उसके साथ निमित्तकारण परमात्मा से संसार की उत्पत्ति होती है, यह वैदिक सांख्यशास्त्र वालों का मत है ॥

ननु—"ईश्वरासिद्धेः" सां० १ । ९२ इत्यादि सूत्रों में सांख्यशास्त्रकार ने ईश्वर को नहीं माना ? उत्तर-सांख्यशास्त्रकार ईश्वर को मानता है, यदि यह शास्त्र ईश्वर को न मानता तो "समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्मरूपता" सां० ५ । ११६ में समाधि, सुषुप्ति और मूर्च्छा में जीव की ब्रह्मरूपता क्यों कथन करता तथा "स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता" सां० ३ । ५६ इत्यादि सूत्रों में सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता ईश्वर को क्यों मानता, और जो उक्त सूत्र में ईश्वर की असिद्धि दिखलाई है वह अवैदिक लोगों के ईश्वर की दिखलाई है, क्योंकि "प्रत्यक्ष" के इस लक्षण में कि सम्बन्ध होने पर जो तदाकार प्रतीति वाला विज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है, यह लक्षण ईश्वर में न घटने से पूर्वपक्षी ने इस लक्षण में अव्याप्ति दोष दिया है कि तुम्हारा यह लक्षण ईश्वर में नहीं घटसक्ता, क्योंकि वह नित्य मुक्त है, उसका किसी पदार्थ के साथ सम्बन्ध वा उसको कोई ज्ञान नहीं होता, इस भाव को सिद्धान्ती ने यों काटा है कि "ईश्वरासिद्धेः"=ऐसे ईश्वर की

हमारे मत में प्रसिद्धि है जो नाममात्र का नित्यमुक्त हो और जिसका किसी पदार्थ के साथ सम्बन्ध न हो, ऐसा पाषाणकल्प ईश्वर अवैदिक लोग मानते हैं, यह तात्पर्य्य सूत्रकार का है, इसलिये सांख्यदर्शन पर कोई निरीश्वरवाद का दोष नहीं लग सक्ता, वैदिक समय से सांख्य ईश्वर को मानता हो चला आता है, इसलिये गीता में ईश्वर मानने वाले सांख्य के सिद्धान्तों का उल्लेख है, जैसाकि उक्त श्लोक में प्रकृति को उपादानकारण और परमात्मा को निमित्तकारण माना है ॥

सं०—अब इस उपादानकारण प्रकृति के गुण जिसप्रकार जीव के बन्धन का हेतु होते हैं वह प्रकार वर्णन करते हैं:—

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

पद०—सत्वं । रजः । तमः । इति । गुणाः । प्रकृतिसम्भवाः । निबध्नन्ति । महाबाहो । देहे । देहिनं । अव्ययं ॥

पदा०—(महाबाहो) हे विशाल बाहूवाले अर्जुन ! (सत्वं) सत्वगुण (रजः) रजोगुण (तमः) तमोगुण (इति, गुणाः) यह गुण (प्रकृतिसम्भवाः) प्रकृति से उत्पन्न होते और (अव्ययं, देहिनं) विकाररहित जीवात्मा को (देहे, निबन्धन्ति) देह में बांध देते हैं ॥

तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥

पद०—तत्र । सत्वं । निर्मलत्वात् । प्रकाशकं । अनामयं । सुखसङ्गेन । बध्नाति । ज्ञानसङ्गेन । च । अनघ ।

पदा०—(अनघ) हे निष्पाप अर्जुन ! (तत्र) उक्त तीनो गुणों में (सत्वं) सत्वगुण (निर्मलत्वात्) निर्मल होने से (प्रकाशकं) प्रकाशक (अनामयं) दुःख से रहित है वह (सुखसङ्गेन) सुख के संग से (बध्नाति) जीव को बांध देता (च) और (ज्ञानसङ्गेन) ज्ञान के संग से भी जीवात्मा को बांधता है ॥

भाष्य—यद्यपि सत्वगुण निर्मल और प्रकाश करने वाला है तथापि सुख और ज्ञान के संग से जीव के बन्धन का हेतु है अर्थात् सत्वगुण की

अधिकता होने से जीव को दिव्य और अधिक ज्ञान वाला शरीर मिलता है ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥

पद०-रजः । रागात्मकं । विद्धि । तृष्णासंगसमुद्भवं । तत् । निबध्नाति । कौन्तेय । कर्मसंगेन । देहिनं ।

पदा०-हे कौन्तेय ! (रजः) रजोगुण को (रागात्मकं, विद्धि) राग वाला जान (तृष्णासङ्गसमुद्भवं) यह तृष्णा के संग से उत्पन्न होता और (तत्) वह (कर्मसंगेन) कर्म के संग से (देहिनं) जीवात्मा को (निबध्नाति) बांधता है ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

पद०-तमः । तु । अज्ञानजं । विद्धि । मोहनं । सर्वदेहिनां । प्रमादालस्यनिद्राभिः । तत् । निबध्नाति । भारत ॥

पदा०-हे भारत ! (तमः) तमोगुण को (तु) निश्चयकरके (अज्ञानजं) अज्ञान से उत्पन्न होने वाला (विद्धि) जान (सर्वदेहिनां) यह सब प्राणियों को (मोहनं) मोह लेने वाला और (प्रमादालस्यनिद्राभिः) प्रमाद = अविवेक, आलस्य तथा निद्रा से (तत्) यह जीवों को (निबध्नाति) बांधता है ॥

भाष्य-इस प्रकार सत्व, रज, तम यह तीनों गुण जीव के प्राकृत बन्धन का हेतु हैं ॥

सं०-अब जिस २ विषय में जो २ गुण मुख्य बन्धन के हेतु हैं उन का वर्णन करते हैं:—

सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

पद०-सत्वं । सुखे । संजयति । रजः । कर्मणि । भारत । ज्ञानं । आवृत्य । तु । तमः । प्रमादे । संजयति । उत ॥

पदा०-हे भारत ! (सत्वं) सत्वगुण (सुखे. संजयति) सुख में लगाता (रजः) रजोगुण (कर्मणि) कर्म में और (तमः) तमोगुण (तु)

निश्चयकरके (ज्ञानं, आवृत्य) ज्ञानको ढककर (प्रमादे, संजयति) प्रमाद में लगाता है "उत" शब्द यहां अपि के अर्थों में है अर्थात् प्रमाद में भी लगाता और निद्रा आलस्यादिकों में भी लगाता है ॥

सं०-ननु, प्राणीमात्र का शरीर तीनो गुणों का होता है, फिर एक २ गुण उसको उक्त विषयों में कैसे लगादेता है ? उत्तरः—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत ।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

पद०-रजः । तमः । च । अभिभूय । सत्वं । भवति । भारत । रजः । सत्वं । तमः । च । एव । तमः । सत्वं । रजः । तथा ॥

पदा०-हे भारत ! (सत्वं) सत्वगुण (रजः) रजोगुण (च) और (तमः) तमोगुण को (अभिभूय) दबाकर (भवति) प्रधान होजाता (च) और (रजः) रजोगुण (सत्वं) सत्वगुण तथा (तमः) तमोगुण को दबाकर अधिक होजाता है (तथा) इसी प्रकार (एव) निश्चय करके (तमः) तमोगुण सत्वगुण और रजोगुण को दबाकर अधिक होता है ॥

भाष्य-जिस पुरुष की प्रकृति में सत्वगुण की अधिकता होजाती है वह दूसरे दोनों गुणों को दबाकर सत्वगुण प्रधान होजाता, जिसमें तमोगुण की अधिकता होजाती है वह दूसरे दोनों को दबाकर तमोगुण प्रधान हो जाता और जिसमें रजोगुण की विशेषता होजाती है वह दूसरे दोनों को दबाकर रजोगुण प्रधान कहलाता है ॥

सं०-अब उक्त गुणों की जिस २ पुरुष में अधिकता होती है उसके पहचानने के चिन्ह वर्णन करते हैंः—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत ॥ ११ ॥

पद०-सर्वद्वारेषु । देहे । अस्मिन् । प्रकाशः । उपजायते । ज्ञानं । यदा । तदा । विद्यात् । विवृद्धं । सत्वं । इति । उत ॥

पदा०-(अस्मिन्, देहे) इस देह में (सर्वद्वारेषु) सब इन्द्रियों में (यदा) जब (प्रकाशः, ज्ञानं) प्रकाशरूप ज्ञान (उपजायते)

उत्पन्न होता है (तदा) तब (सत्वं, विवृद्धं, इति) सत्वगुण को बढ़ा हुआ (विद्यात्) जान ॥

लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायंते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

पद०-लोभः । प्रवृत्तिः । आरंभः । कर्मणां । अशमः । स्पृहा । रजसि । एतानि । जायंते । विवृद्धे । भरतर्षभ ॥

पदा०-(भरतर्षभ) हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! (रजसि, विवृद्धे) रजोगुण के अधिक होने पर (लोभः) लोभ के (प्रवृत्तिः) प्रयत्नवाला होना (कर्मणां, आरंभः) कर्मों का आरम्भ करना (अशमः) मन को न रोक सकना (स्पृहा) इच्छा का रहना (एतानि, रजसि, जायंते) यह रजोगुण प्रधान पुरुष के चिन्ह जानो ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

पद०-अप्रकाशः । अप्रवृत्तिः । च । प्रमादः । मोहः । एव । च । तमसि । एतानि । जायन्ते । विवृद्धे । कुरुनन्दन ॥

पदा०-(कुरुनन्दन) हे कुरुवंश के वृद्धि करने वाले अर्जुन ! (तमसि, विवृद्धे) तमोगुण के अधिक होने पर (अप्रकाशः) ज्ञान का न होना (अप्रवृत्तिः) आलसी बनजाना (प्रमादः) अज्ञानी होना (च) और (मोहः) मोह में फस जाना (एव) निश्चय करके (एतानि, तमसि, जायन्ते) यह चिन्ह तमोगुण प्रधान पुरुष के जानना ॥

भाष्य-सत्वगुणप्रधान पुरुष के यह चिन्ह होते हैं कि वह सत्यासत्य वस्तु के विवेक की ओर जाता और रजोगुण प्रधान कर्मों के आरम्भ की ओर झुकता तथा तमोगुणप्रधान अज्ञान, आलस्य, मिथ्याभिमान और मोहादि अवनतिकारक बातों में लगजाता है ॥

सं०-अब सत्वगुणप्रधान पुरुष को उत्तमयोनि की प्राप्ति कथन करते हैं:—

यदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

पद०-यदा । सत्वे । प्रवृद्धे । तु । प्रलयं । याति । देहभृत् । तदा । उत्तमविदां । लोकान् । अमलान् । प्रतिपद्यते ॥

पदा०-(देहभृत्) प्राणधारी जीव (तु) निश्चयकरके (सत्वे, प्रवृद्धे) सत्वगुण के अधिक होने पर (यदा) जब (प्रलयं, याति) देह को त्यागता है (तदा) तब (उत्तमविदां) ज्ञानी पुरुषों के (अमलान्, लोकान्) निर्मल जन्मों को (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है ॥

भाष्य-"लोक" शब्द के अर्थ यहां लोकृ=दर्शने धातु से दशाविशेषरूप जन्म के हैं अर्थात् सत्वगुणप्रधान पुरुष विद्वान् पुरुषों की योनि को प्राप्त होते हैं, या यों कहो कि वह ऋषियों के जन्म को पाते और उनके जन्म निर्मल होते हैं ॥

सं०-अब रजोगुणप्रधान पुरुष को कर्मार्जनों की योनि और तमोगुण प्रधान पुरुष को मूढ़योनि की प्राप्ति कथन करते हैं:—

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढ़योनिषु जायते ॥ १५ ॥

पद०-रजसि । प्रलयं । गत्वा । कर्मसंगिषु । जायते । तथा । प्रलीनः । तमसि । मूढ़योनिषु । जायते ॥

पदा०-(रजसि) रजोगुण के अधिक होने पर (प्रलयं, गत्वा) प्राण त्यागकर (कर्मसंगिषु, जायते) कर्मप्रधान पुरुषों के जन्मों को पाता (तथा) तैसे ही (तमसि) तमोगुण के अधिक होने पर (प्रलीनः) प्राण त्यागता हुआ (मूढ़योनिषु, जायते) मूढ़जन्मों को प्राप्त होता है ॥

भाष्य-"**मूढ़योनि**" शब्द के अर्थ यहां पशु आदि योनियों और "**कर्मसंगि**" के अर्थ कर्मप्रधान मनुष्य जन्म के हैं अर्थात् उक्त गुणप्रधान पुरुष कर्मप्रधान पुरुषों की योनि और पशु आदि योनियों में जन्म लेते हैं ॥

सं०-अब तीनों गुणों के सुख, दुःख तथा अज्ञान यह तीन फल वर्णन करते हैं:—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानंतमसः फलम् ॥ १६ ॥

पद०-कर्मणः । सुकृतस्य । आहुः । सात्विकं । निर्मलं । फलं । र-

जसः । तु । फलं । दुःखं । अज्ञानं । तमसः । फलं ॥

पदा०-(सुकृतस्य, कर्मणः) अच्छे कर्मों का (सात्विकं, निर्मलं) सात्विक तथा निर्मल (फलं) फल (आहुः) कथन करते हैं (रजसः) रजोगुण का (तु) निश्चय करके (दुःखं, फलं) फल दुःख होता, और (तमसः) तमोगुण का (अज्ञानं, फलं) फल अज्ञान कथन करते हैं ॥

भाष्य-इस श्लोक का भाव यह है कि सत्वप्रधान पुरुष उत्तम जन्मों को पाकर जो शुभकर्म करते हैं उसका फल सुख होता है, रजोगुणप्रधान कर्मयोनियों में राजस कर्म करके दुःखरूप फल पाते हैं, और तमोगुण प्रधान पुरुष तामस योनियों में अज्ञानरूप फल को प्राप्त होते हैं ॥

सं०-अब उक्त भाव को पुनः दृढ़ता के लिये प्रकारान्तर से कथन करते हैं:—

सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

पद०-सत्वात् । संजायते । ज्ञानं । रजसः । लोभः । एव । च । प्रमादमोहौ । तमसः । भवतः । अज्ञानं । एव । च ॥

पदा०-(सत्वात्) सत्वगुण से (ज्ञानं, संजायते) ज्ञान उत्पन्न होता (रजसः) रजोगुण से (लोभः, एव) लोभ ही उत्पन्न होता (च) और (तमसः) तमोगुण से (प्रमादमोहौ) प्रमाद तथा मोह (भवतः) होते (च) और (अज्ञानं) अज्ञान होता है ॥

सं०-अब तीनों गुणों के फलों को उत्तम, मध्यम, अधम, कथन करते हैं:—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठंति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छंति तामसाः ॥ १८ ॥

पदा०-ऊर्ध्वं । गच्छन्ति । सत्वस्थाः । मध्ये । तिष्ठन्ति । राजसाः । जघन्यगुणवृत्तिस्थाः । अधः । गच्छन्ति । तामसाः ॥

पदा०-(सत्वस्थाः) जो सत्वगुण में स्थिर हैं वह (ऊर्ध्वं, गच्छन्ति) ऊंचे जाते (राजसाः) रजोगुण वाले (मध्ये, तिष्ठन्ति) मध्य में

रहते, और (तामसाः) तमोगुण वाले जो (जघन्यगुणवृत्तिस्थाः) इस नीच गुण में स्थिर हैं वह (अधः, गच्छन्ति) नीचे जाते हैं ॥

भाष्य-इस श्लोक में ऊंच नीचादि भाव किसी लोकविशेष के आशय से कथन नहीं किये किन्तु दशाविशेष के अभिप्राय से कथन किये हैं अर्थात् सत्वप्रधान पुरुष ऋषि मुनियों की उच्चदशा को, राजसगुण वाले राज्यादि मध्यम सुखों को और तामसी लोग निन्दित दुःखप्रधान नीच योनियों को प्राप्त होते हैं, मधुसूदन स्वामी पौराणिकभाव को लेकर "ऊर्ध्वंगच्छन्ति" आदि शब्दों के अर्थ यहां ब्रह्मलोकादि लोकविशेषों की प्राप्ति कथन करते हैं,यदि ऐसा होता तो व्यास, वशिष्ठादि सत्वप्रधान पुरुष इस लोक में जन्म कदापि न लेते और नाही कृष्णजी जैसे पुरुष निखिल भूभार दूर करने के लिये मनुष्य योनि में जन्म लेते, फिर तो किसी ब्रह्म लोक वा देवलोक में ही जन्म लेते, अतएव उक्त शब्दों से लोकविशेष अभिप्रेत नहीं किन्तु अवस्थाविशेष से तात्पर्य्य है ॥

सं०-अब प्राकृतिक गुणों के बन्धन से रहित होने का उपाय वर्णन करते हैं:—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

पद०-न । अन्यं । गुणेभ्यः । कर्तारं । यदा । द्रष्टा । अनुपश्यति । गुणेभ्यः । च । परं । वेत्ति । मद्भावं । सः । अधिगच्छति ॥

पदा०-(यदा) जब (द्रष्टा) जीव (गुणेभ्यः) गुणों से (अन्यं, कर्त्तारं) अन्य कर्त्ता को (न, अनुपश्यति) नहीं देखता (च) और (गुणेभ्यः, परं, वेत्ति) गुणों से परे जो परमात्मा उसको जानता है (सः) वह पुरुष (मद्भावं) मेरे भाव को (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ॥

भाष्य-"मद्भाव" के अर्थ यहां कृष्णजी के तात्पर्य्य के हैं, पर मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं, कि जब प्रकृति के गुणों को जीव कर्त्ता समझ लेता है तब ब्रह्म बन जाता है, इस शब्द के अर्थ यदि यहां जीव के ब्रह्म बनने के होते तो गी० ४ । १० गी० १३।१८ गी०१०।६ में भी मद्भाव के अर्थ जीव को ब्रह्म बनने के होने चाहिये थे पर ऐसा नहीं,

गी० ४ । १० में स्वामी शं० चा० मद्भाव के अर्थ "मुक्ति" करते हैं, गी० १३ । १८ में भी "मुक्ति" के करते हैं और गी० १०।६ में विष्णुभक्त के करते हैं, इस प्रकार जब किसी स्थल में भी मद्भाव के अर्थ जीव के ब्रह्म बनने के नहीं तो यहां इसके अर्थ जीव के ब्रह्म बनने के कैसे होसक्ते हैं, और जो मधुसूदनस्वामी ने यह लिखा है कि "मद्भावमद्रूपतां स द्रष्टाधिगच्छति"=मेरे स्वरूप को जीव प्राप्त होजाता है, यह अर्थ करना उक्त स्वामी की खेंच है, इसलिये मद्भाव के अर्थ यहां कृष्णजी के तात्पर्य्य के ही हैं अर्थात् जो प्राकृतिक गुणों के कारण जीव को बन्धन मानता और उन प्रकृति के गुणों से परमात्मा को परे मानता है, ऐसा जिज्ञासु उक्त तीनों गुणों के बन्धनों से छूटकर कृष्णजी के कर्मयोग और ज्ञानयोगरूप भावको प्राप्त होता है, इसी भाव को आगे के श्लोक में वर्णन करते हैं कि:—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

पद०—गुणान् । एतान् । अतीत्य । त्रीन् । देही । देहसमुद्भवान् । जन्ममृत्युजरादुःखैः । विमुक्तः । अमृतं । अश्नुते ॥

पदा०—(देहसमुद्भवान्) शरीर से उत्पन्न होने वाले (एतान्, त्रीन्, गुणान्) इन तीनो गुणों को (अतीत्य) उल्लङ्घन करके (जन्ममृत्युजरादुःखैः) जन्म=उत्पत्ति, मृत्यु = मरण, जरा = वृद्धावस्था के (दुःखैः) दुःखों से (विमुक्तः) मुक्त होकर (देही) जीवात्मा (अमृतं, अश्नुते) मुक्ति को भोगता है ॥

भाष्य—इस श्लोक में इस भाव को स्पष्ट करदिया कि प्राकृत गुणों के बन्धनों से रहित पुरुष मुक्ति को पाता है न कि मायावादियों के सिद्धान्तानुकूल ब्रह्म बनकर मुक्त होता है, ब्रह्म तो प्रथम ही नित्यमुक्त है फिर ब्रह्म बनकर मुक्ति को पाना क्या ? और इनके मत में मुक्ति के अर्थ अविद्या की निवृत्ति और ब्रह्मभाव की प्राप्ति है, अविद्यानिवृत्ति के अर्थ इनके मत में यह हैं कि इस सम्पूर्ण प्राकृत ब्रह्माण्ड को रज्जु सर्प के समान कल्पित समझना अर्थात् इसके अधिष्ठानभूत ब्रह्मज्ञान से चराचर

जगत् का मिथ्या होजाना, यदि इनका यह आशय गीता में होता तो आगे के श्लोकों में तीन गुणों से छूटने का निम्नलिखित प्रकार वर्णन न किया जाता किन्तु तीन गुण और तीन गुणों वाली प्रकृति के अधिष्ठान-भूत ब्रह्मज्ञान से प्रकृति को मिथ्या सिद्ध करदिया जाता पर ऐसा नहीं, प्रत्युत इससे सर्वथा उलटा है, जैसाकि क्षेत्रज्ञाध्याय के अंत में प्रकृति पुरुष का तात्विक भेद वर्णन किया गया है, यह अर्थ निम्नलिखित श्लोकों से प्रगट होता है, जैसाकिः—

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

पद०-कैः । लिङ्गैः । त्रीन् । गुणान् । एतान् । अतीतः । भवति । प्रभो । किमाचारः । कथं । च । एतान् । त्रीन् । गुणान् । अतिवर्तते ॥

पदा०-(प्रभो) हे स्वामिन् ! (कैः, लिङ्गैः) किन हेतुओं से (एतान्, त्रीन्, गुणान्) इन तीन गुणों से (अतीतः, भवति) छूट जाता है (च) और (किमाचारः) किस अनुष्ठान से (कथं) किस प्रकार (एतान्, त्रीन, गुणान्) इन तीनों गुणों को (अतिवर्तते) उल्लङ्घन कर जाता है ॥

भाष्य-इस श्लोक में तीन गुणों से छूटने के आचार = अनुष्ठान का प्रश्न करना इस बात को सिद्ध करता है कि गीता के सिद्धान्त में प्रकृति के बन्धन से छूटने का उपाय सदाचार ही है मायावादियों के मतानुकूल इस सम्पूर्ण जगत् को मिथ्या समझना नहीं, यही उत्तर कृष्णजी निम्न-लिखित श्लोकों में देते हैं :—

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पांडव ।
नद्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥

पद०-प्रकाशं । च । प्रवृत्तिं । च । मोहं । एव । च । पाण्डव । न । द्वेष्टि । संप्रवृत्तानि । न । निवृत्तानि । कांक्षति ॥

पदा०-(पाण्डव) हे पाण्डु के पुत्र अर्जुन ! (एव) निश्चय (प्रकाशं)

सत्वगुण (प्रवृत्तिं) रजोगुण (मोहं) तमोगुण (संप्रवृत्तानि) इनके प्रवृत्त होने पर (न, द्वेष्टि) जो द्वेष नहीं करता (निवृत्तानि) निवृत्त होने पर (न, कांक्षति) इच्छा नहीं करता, फिर वह पुरुष कैसा है :-

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्त्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

पद०-उदासीनवत् । आसीनः । गुणैः । यः । न । विचाल्यते । गुणाः । वर्त्तन्ते । इति । एवं । यः । अवतिष्ठति । न । इङ्गते ।

पदा०-(यः) जो (उदासीनवत) उदासीन पुरुष के समान (आसीनः) ठहरा हुआ (गुणैः, न, विचाल्यते) गुणों से चलाया नहीं जासकता (गुणाः, वर्त्तन्ते) गुण वर्तते हैं (इति, एवं) इस प्रकार (यः, अवतिष्ठति) जो स्थिर रहता है (न, इङ्गते) गुणों के अधीन होकर चेष्टा नहीं करता, वह पुरुष गुणातीत कहलाता है, फिर वह कैसा है :-

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

पद०-समदुःखसुखः । स्वस्थः । समलोष्टाश्मकांचनः । तुल्यप्रियाप्रियः । धीरः । तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

पदा०-(समदुःखसुखः) जो सुख दुःख दोनों को सम जानता (स्वस्थः) सदैव प्रसन्न रहता (समलोष्टाश्मकांचनः) मिट्टी, पत्थर, सोने को सम जानता, (तुल्यप्रियाप्रियः) शत्रु, मित्र जिसको समान हैं (धीरः) धैर्य्य वाला और जो (तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः) अपनी निन्दा तथा स्तुति में एकरस रहता, वह गुणातीत कहलाता है, फिर वह कैसा है :—

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

पद०-मानापमानयोः । तुल्यः । तुल्यः । मित्रारिपक्षयोः । सर्वारम्भपरित्यागी । गुणातीतः । सः । उच्यते ॥

पदा०-(मानापमानयोः, तुल्यः) मान अपमान में एकरस रहता (मित्रारिपक्षयोः) मित्र, शत्रु के पक्ष में (तुल्यः) एक जैसा रहता (सर्वारम्भपरित्यागी) सब सकाम कर्मों के आरम्भों का जिसने त्याग किया है (सः, गुणातीतः, उच्यते) उसको गुणातीत कहते हैं ॥

सं०-अब कृष्णजी गुणातीत के कर्तव्यों में परमात्मा की अनन्यभक्ति विधान करते हुए इस अध्याय को समाप्त करते हैं:-

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

पद०-मां । च । यः । अव्यभिचारेण । भक्तियोगेन । सेवते । सः । गुणान् । समतीत्य । एतान् । ब्रह्मभूयाय । कल्पते ॥

पदा०-(यः) जो पुरुष (मां, च) परमात्मा को (अव्यभिचारेण, भक्तियोगेन) अनन्यभक्तियोग से (सेवते) सेवन करता है (सः) वह (एतान्, गुणान्, समतीत्य) इन गुणों को उल्लङ्घन करके (ब्रह्मभूयाय) ब्रह्मभाव=मुक्ति के (कल्पते) योग्य होजाता है ॥

भाष्य-"मां" शब्द के अर्थ यहां परमेश्वर के हैं, जैसाकि हम पूर्व अध्यायों में निरूपण कर आये हैं "अव्यभिचारीभक्तियोग" वह कहलाता है जिसमें परमात्मा को छोड़कर अन्य की भक्ति न हो "ब्रह्मभूयाय" के अर्थ ब्रह्मभाव के हैं, जैसाकि स्वामी रामानुज लिखते हैं कि "ब्रह्मभाव योग्यो भवति" = ब्रह्म के भाव जो सत्यसंकल्पादिक हैं, गुणातीत पुरुष उन भावों के योग्य होजाता है अर्थात् उन भावों के धारण करने योग्य होता है, अद्वैतवादियों के मत में यहां " ब्रह्मभूयाय " के अर्थ निर्गुण ब्रह्म बन जाने के हैं, प्रथम तो यह अर्थ इनके सिद्धान्त से इस प्रकार विरुद्ध हैं कि गी० १२ । ५ में जो यह प्रतिपादन कर आये हैं कि निर्गुणब्रह्म के उपासकों को अधिक कष्ट होता है, इसलिये कृष्णजी यह कहते हैं कि मुझ सगुण ब्रह्म की उपासना कर, जब इस प्रकार सगुण ब्रह्म की उपासना ही कृष्णजी को इष्ट थी तो यहां

गुणातीत के लिये निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति क्यों कथन की ? और "मां" शब्द से यदि कृष्णजी का ही ग्रहण होता तो आगे के श्लोक में अपने आपको ब्रह्म की प्रतिष्ठा क्यों कहा ? क्या साकारवादियों के मत में साकार ब्रह्म निराकार से भी बड़ा है ? "एतेचांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" श्रीभाग० १ । ३ । २८ इत्यादि पौराणिकों के वाक्यों में कृष्णजी को स्वयं ब्रह्म तो सुना था पर ब्रह्म की प्रतिष्ठा = सहारा यहां ही आकर साकारवादियों ने कृष्णजी को बनाया है, हमारे विचार में कृष्णजी ब्रह्म की प्रतिष्ठा कदापि नहीं बनसक्ते, क्योंकि कृष्णजी उत्पत्ति विनाश वाले हैं, या यों कहो कि साकारवादियों के मत में सोपाधिक हैं और ब्रह्म उत्पत्ति विनाश से रहित निरुपाधिक है, यहां ब्रह्म की प्रतिष्ठा कहने से यह बात स्पष्ट होगई कि "अहं" शब्द के अर्थ कृष्णजी अपने नहीं मानते किन्तु "अहं" शब्द का वाच्य ईश्वर को मानते हैं, इसलिये उस ईश्वर को वेदरूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा कहसक्ते हैं, जैसाकि "जन्माद्यस्ययतः" ब्र० सू० १ । १ । २ में वेदरूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा ईश्वर को माना है, मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि ब्रह्म की प्रतिष्ठा यहां कृष्णजी ने अपने आपको इस अभिप्राय से कहा है कि जितना यह कार्य्यरूप जगत् है वह सब उपाधि वाले ब्रह्म में स्थित है, जैसे सुवर्ण के भूषण सुवर्ण से भिन्न नहीं और मिट्टी के विकार मिट्टी से भिन्न नहीं तथा रज्जु का सर्प रज्जु रूप अधिष्ठान से भिन्न नहीं, इसी प्रकार यह सम्पूर्ण साकार जगत् उस उपाधि वाले साकार ब्रह्म से भिन्न नहीं, और वह सोपाधिक साकार ब्रह्म निरुपाधिक = निर्गुण ब्रह्म में कल्पित और कृष्णजी निर्गुण ब्रह्म हैं, इसलिये कृष्णरूप निर्गुण ब्रह्म में कल्पित होने से कृष्णजी ने अपने आपको कहा कि मैं ब्रह्म की भी प्रतिष्ठा हूं, यहां फिर वही घट्टकुटी प्रभातन्याय आगया कि जिस बात से भयभीत होकर साकारवादी "अहं" शब्द के अर्थ निराकार ब्रह्म के नहीं मानते थे उसी बात को फिर यहां आकर मानना पड़ा कि "अहं" शब्द के अर्थ निराकार ब्रह्म के हैं, और जो इन्होंने यहां कल्पित की कहानी निकाली है उसका गन्धमात्र भी इस श्लोक में नहीं, देखोः—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याऽव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकांतिकस्य च ॥ २७ ॥

पद०—ब्रह्मणः । हि । प्रतिष्ठा । अहं । अमृतस्य । अव्ययस्य । च । शाश्वतस्य । च । धर्मस्य । सुखस्य । ऐकान्तिकस्य । च ॥

पदा०—(अहं) मैं (हि) निश्चयकरके (ब्रह्मणः) वेद का (प्रतिष्ठा) आश्रय हूं, वह वेदकैसा है (अमृतस्य) जो मुक्ति का प्रतिपादक होने से अमृत है, उसकी और (अव्ययस्य) जो ईश्वर ज्ञानरूप से नित्य वर्तमान् अव्यय है उसकी मैं प्रतिष्ठा हूं(च) और (शाश्वतस्य) नाश न होने वाले (धर्मस्य) वैदिकधर्म की मैं प्रतिष्ठा हूं (च) और (ऐकान्तिकस्य. सुखस्य, च) ईश्वरीय नियमानुकूल चलने से जो जीव को सुख होता है उसकी भी प्रतिष्ठा हूं ॥

भाष्य—इस श्लोक में कृष्णजी ने वेद और वैदिकधर्म की अपने आप को प्रतिष्ठा कथन की है, इसमें सन्देह ही क्या है मर्यादापुरुषोत्तम पुरुष वेद और वैदिकधर्म की प्रतिष्ठा कहलाते हैं, और "अहं" शब्द का वाच्य यहां ईश्वर मानने से इस प्रकार व्यवस्था है कि " **सर्ववेदायत्पदमामनन्ति** " इत्यादि वाक्यों में परमात्मा की वेदरूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा वर्णन किया है और वह परमात्मा वैदिकधर्म का प्रवर्त्तक होने से वैदिकधर्म की भी प्रतिष्ठा है, इस प्रकार इस श्लोक में " अहं " शब्द के अर्थ कृष्ण वा ईश्वर मानकर भी दोनों प्रकार से वैदिक अर्थ में कोई दोष नहीं ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये, प्रकृतिगुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः

अथ पंचदशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सङ्गति-पूर्व प्रकृतिपुरुषविवेकयोगनामाध्याय और गुणत्रयविभाग-योगाध्याय में प्रकृति पुरुष का भेद और प्रकृति के गुणों से अतीत रहने का प्रकार वर्णन करके अब इस अध्याय में परमात्मा से जीव का योग करने के लिये संसोररूप वृक्ष का असङ्गतारूप शस्त्रद्वारा छेदन कथन करते हैं:—

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

पद०-ऊर्ध्वमूलं । अधःशाखं । अश्वत्थं । प्राहुः । अव्ययं । छन्दांसि । यस्य । पर्णानि । यः । तं । वेद । सः । वेदवित् ॥

पदा०-(ऊर्ध्वमूलं) ऊपर है मूलकारण जिसका (अधःशाखं) नीचे हैं शाखें जिसकी, ऐसे (अश्वत्थं) संसाररूप वृक्ष को (अव्ययं, प्राहुः) सनातन कहते हैं, और (छन्दांसि) वेद (यस्य, पर्णानि) जिसके पत्ते हैं (यः) जो पुरुष (तं) उस संसाररूप वृक्ष को (वेद) जानता है (सः) वह (वेदवित्) वेद के जानने वाला है ॥

भाष्य-सबका अधिष्ठान और सर्वोपरि कारण होने से यहां परमात्मा का नाम ऊर्ध्व है, वह ऊर्ध्व हो मूल = आश्रय जिसका उसका नाम "ऊर्ध्वमूल" है, "अधःशाख" संसार को इसलिये कहा गया है कि प्रकृति से हिमालय तथा समुद्रादि नाना प्रकार का कार्य्य-समूह भूगोल की रचना के अनन्तर शाखारूप पीछे से बनते रहते हैं "अश्वत्थ" वृक्ष का रूपक बांधकर संसार को इसलिये वर्णन किया है कि अश्वत्थ=पीपल का वृक्ष जैसे अति मनोहर होता है इसी प्रकार यह संसार अति मनोहर है, "श्वस्तिष्ठतीति श्वस्थः, न श्वस्तिष्ठतीति अश्वत्थः" = जो भविष्यत् काल में न रहे उसका नाम "अश्वत्थ" है, इस कथन से संसार को अनित्य सिद्ध

किया है कि यह संसाररूप वृक्ष सदा नहीं रहता किन्तु अपनी आयु भोग कर नाश होजाता है" सनातन " विशेषण इसलिये दिया है कि प्रवाहरूप से यह संसार अनादि है अर्थात् इसकी उत्पत्ति तथा प्रलय की धारा सदैव से चली आती है, जैसाकि "सूर्य्याचन्द्रमसौधातायथापूर्वमकल्पयत्' ऋग्० ८ । ८ । ४८ । २ इस मन्त्र में वर्णन किया है, इस श्लोक का मूल कठोपनिषद् में इस प्रकार है कि " ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" कठ० ६ । १, गीता के उक्त श्लोक में सनातन शब्द के स्थान में " अव्यय " शब्द है जिसके अर्थ प्रवाहरूप से अनादि अनन्त होने से नित्य के हैं, और वेदों को संसाररूप वृक्ष के पत्ते इसलिये कहा है कि जिस प्रकार मध्याह्न की धूप से संतप्त पुरुषों के लिये पत्ते छाया देने वाले होते हैं इसी प्रकार वेद संसारानल से संतप्त जनों के लिये शान्तिप्रद, और वृक्ष की शोभारूप होने से वेदों को पत्तेस्थानीय वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार इस वृक्ष को जानता है उसको वेदवेत्ता इसलिये कहा है कि संसार को यथावस्थित जानना ही वेद का उपदेश है, और जो इसको अन्यथा जानता है वह वेद को नहीं जानता, जैसाकि मायावादी लोग इसको रज्जु सर्प के समान मिथ्या मानते हैं वह वेदवित् नहीं कहलासक्ते, यदि वास्तव में संसार रज्जु सर्प के समान कल्पित होता तो उपनिषद्कार इसको सनातन न कहते और गीता का कर्ता भी इसको " अव्यय " पद से कथन न करता, अव्यय शब्द के अर्थ यहां विकार रहित के नहीं किन्तु प्रवाहरूप से नित्य होने के हैं, मायावादियों के मत में उक्त दोनों विशेषण संसार में इसलिये नहीं घट सक्ते कि इनके मत में मरुस्थल के जल समान यह संसार भ्रममात्र है, और युक्ति यह है कि यदि यह संसार भ्रममात्र होता तो इसको "अश्वत्थ" के अलङ्कार से वर्णन न किया जाता, अश्वत्थ के अर्थ वही हैं जो ऊपर कर आये हैं अर्थात् जो भविष्यत् काल में न रहे, इससे पाया गया कि भविष्यत् काल में वही वस्तु नहीं रहती जो अनित्य होती है, अपनी आयु भोगकर जो नष्ट होजाय उसको " अनित्य " कहते हैं, और मायावादियों के मत में मिथ्या के यह अर्थ हैं कि जो जिस देश, काल में जहां

प्रतीत हो वह उसी देश, काल में वहां न हो, जैसे मरुस्थल के जलादि जिस देश काल में प्रतीत होते हैं उसी देश काल में वहां नहीं होते, ऐसा मिथ्यापन संसार में नहीं, क्योंकि महर्षिव्यास ने इस श्लोक में संसार को अपने देश काल में भाव पदार्थ सिद्ध किया है और इसलिये इस बात पर बल दिया है कि जो इस प्रकार इसकी सच्चाई को जानता है वही वेद का जानने वाला है, विशेषकर मायावादियों के मिथ्यार्थों की निर्मूलता इससे भी पाई जाती है कि वह मिथ्या का नाश केवल ज्ञान से मानते हैं, इसलिये उनके मत में मिथ्या का लक्षण यह भी है कि जिस वस्तु का उसके अधिष्ठान ज्ञान से नाश हो उसको मिथ्या कहते हैं, जैसे रज्जुरूप अधिष्ठान के जानने से सर्परूप मिथ्याभ्रान्ति नाश होजाती है, यदि इसी अर्थ के अभिप्राय से गीता में संसार को "अश्वत्थ" कहा जाता तो असङ्गतारूप शस्त्र से इसका छेदन तृतीय श्लोक में न बतलाया जाता, किन्तु ज्ञानरूप शस्त्र से इसका छेदन बतलाते, जैसाकि मिथ्याभूत वस्तुओं का ज्ञान से नाश होता है, अधिक क्या, इस मनोरथमात्र के मिथ्या प्रवाह में पड़कर आधुनिक वेदान्तियों ने सहस्रों वर्षों से संसार के मिथ्यार्थ की माला फेरते २ भारतभूमि को मरुस्थल के जल समान भारत सन्तान के लिये मिथ्याभूमि बना दिया और वैदिकधर्म का उपदेश यहां तक उठा दिया कि "यस्तं वेद स वेदवित्" इत्यादि वाक्यों के अर्थाभास करके भारत सन्तान को संसार के धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूप फलचतुष्टय से सर्वथा बंचित करदिया है, देखो अग्रिम श्लोक में यह फल गीता में किस अपूर्वता से प्रतिपादन किये थे कि:—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

पद०—अधः । च । ऊर्ध्वं । प्रसृताः । तस्य । शाखाः । गुणप्रवृद्धाः । विषयप्रवालाः । अधः । च । मूलानि । अनुसंततानि । कर्मानुबंधीनि । मनुष्यलोके ॥

पदा०—(तस्य, शाखाः) उस संसाररूप वृक्ष की शाखा (अधः) नीचे (ऊर्ध्वं) ऊपर (प्रसृताः) फैली हुई हैं, फिर वह शाखें कैसी हैं !

(गुणप्रवृद्धाः) प्रकृति के सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से प्रवृद्धा = पुष्ट हैं, शाखों में तो पत्ते भी होते हैं इनके पत्ते क्या हैं ? (विषयप्रवालाः) शब्द, स्पर्श, रूपादि विषय प्रवाला = पत्ते हैं, वृक्ष में तो नीचे छोटी २ जड़ें भी होती हैं जिनके सहारे वृक्ष स्थिर रहता है वह जड़ें इस संसार-रूप वृक्ष की क्या हैं (मनुष्यलोके) मनुष्यरूप इस संसार में (कर्मानुबन्धीनि) वासनारूप कर्म (अधः, च, मूलानि) नीचे की जड़ें हैं जो (अनुसंततानि) इतस्ततः फैल रही हैं ॥

भाष्य—ननु, इस संसाररूप वृक्ष का मूल तो ब्रह्म कथन किया है फिर यहां कर्मों को मूल क्यों कथन किया ? उत्तर—सम्पूर्ण संसाररूप वृक्ष की सर्वाधार ब्रह्म ही आदि मूल है, यहां केवल मनुष्यलोक को मूल उसके वासनारूप कर्मों को कथन किया गया है, इस कथन से यह बात स्पष्ट होगई कि " मूल " शब्द के अर्थ यहां उपादान कारण के नहीं किन्तु निमित्तकारण के हैं, जैसाकि जीव के कर्म उसके जन्म में निमित्तकारण हैं, और यदि " मूल " शब्द के अर्थ यहां उपादान कारण के लिये जायं तो " अहं बीजप्रदः पिता " इत्यादि निमित्तकारण प्रतिपादक वाक्यों के साथ विरोध आवेगा, इस प्रकार इस संसाररूप वृक्ष की शाखा पल्लवादिकों से पूर्ण कथन करके अब चतुर्थाश्रमी के लिये उसकी असङ्गता का उपाय वर्णन करते हैं:—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नांतो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम् असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥ ३ ॥

पद०—न । रूपं । अस्य । इह । तथा । उपलभ्यते । न । अंतः । न । च । आदिः । न । च । संप्रतिष्ठा । अश्वत्थं । एनं । सुविरूढमूलं । असङ्गशस्त्रेण । दृढेन । छित्वा ॥

पदा०—(अस्य) इस संसाररूप वृक्ष का (इह) इस लोक में (तथा, रूपं, न उपलभ्यते) वैसा रूप नहीं पाया जाता (न, अंतः) न अंत पाया जाता है (न, च, आदिः) न आदिपन पाया जाता है, (नच) और न (संप्रतिष्ठा) इसकी स्थिति की जड़ मिलती है (एनं, अश्वत्थं) इस संसाररूप वृक्ष का (सुविरूढमूलं) जिसका मूल दृढ़ है (दृढेन, असङ्गशस्त्रेण)

दृढ़ वैराग्यरूप असङ्गशस्त्र से (छित्त्वा) छेदन करके उस परमात्मरूप परमपद को ढूंढ़ना चाहिये ॥

भाष्य—इस श्लोक में इस संसाररूप वृक्ष को अप्रमेय वर्णन किया है अर्थात् इसके आदि अन्त का वास्तव में पता मिलना दुर्विज्ञेय है, इस अभिप्राय से कहा है कि इसका रूप नहीं, न आदि मिलता है, न अन्त मिलता है और न इसकी ठीक २ जड़ मिलती है कि यह कब से है, इस कथन से इस बात को सिद्ध किया कि उस परमैश्वर्य्य वाले परमात्मा की यह संसाररूपी विभूति अतिगहन है, इसका मूल बड़ा दृढ़ है, केवल असङ्गतारूप शस्त्र से ही इसका छेदन होसक्ता है अन्य कोई प्रकार इसके छेदन का नहीं, मायावादी इस श्लोक से इस संसार को अनिर्वचनीय सिद्ध करते हैं जिसके अर्थ मिथ्या के हैं, इस पर स्वामी शं० चा० यह लिखते हैं कि " **स्वप्नमरीच्युदकमाया गंधर्वनगरसमत्वात् दृष्टनष्टस्वरूपः** "=यह संसार कैसा है स्वप्न तथा मरुस्थल के जल समान है, और मिथ्या कल्पित गंधर्वनगर के समान दृष्टनष्टस्वरूप है अर्थात् जिस समय दीखता है उसी समय में नहीं है, यदि यह अर्थ उक्त श्लोक के होते तो संसार को आदि अन्तरहित वर्णन न किया जाता और नाही असङ्ग शस्त्र अर्थात् वैराग्य से उसका त्याग कथन किया जाता, फिर तो मनोरथमात्र की मनोमयि कल्पना मिटादेने से घर ही वन बनजाता, फिर पुत्रैष्णा, वित्तैष्णा, लोकैष्णा, इस तीन प्रकार की ऐष्णा = इच्छा को छोड़कर चतुर्थाश्रमी लोगों को भिक्षा मांगने की क्या आवश्यक्ता थी ? सारांश यह है कि इस श्लोक में यति और विरक्त लोगोंको संसार का त्याग कथन किया है और अन्य आश्रमियों को संसार की शोभा वर्णन की है ॥

सं०—ननु, वह चतुर्थाश्रमी असङ्गशस्त्रद्वारा इस संसाररूप वृक्ष का छेदन करके क्या करें ? उत्तरः—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

पद०—ततः । पदं । तत् । परिमार्गितव्यं । यस्मिन् । गताः । न ।

निवर्तन्ति । भूयः । तं । एव । च । आद्यं । पुरुषं । प्रपद्ये । यतः । प्रवृत्तिः । प्रसृता । पुराणी ॥

पदा०-(ततः) इसके अनन्तर (तत्, पदं) वह पद (परिमार्गितव्यं) ढूंढ़ना चाहिये (यस्मिन्, गताः) जिसको प्राप्त हुए २ (भूयः) फिर (न, निवर्तन्ते) आवृत्ति नहीं करते (एव) निश्चयकरके (तं, आद्यं, पुरुषं) उस सब के आदि मूल पुरुष को (प्रपद्ये) मैं प्राप्त होऊं (यतः) जिस से इस संसाररूप वृक्ष की (पुराणी) प्राचीन (प्रवृत्तिः) विस्ताररूप रचना (प्रसृता) फैली हुई है ॥

भाष्य-यह वह पद है जिसको "तद्विष्णोः परमं पदं" इत्यादि मन्त्रों में निराकार का पद कथन किया गया है, यहां मायावादी इस अर्थ को स्वीकार करते हैं कि यह निर्गुण ब्रह्म का पद है पर अपने मायावाद के अर्थ की इतनी झलक अवश्य डाल देते हैं जिससे उनके मत में माया के कारण संसाररूप वृक्ष की प्रवृत्ति होती है, जब इस परमपद में निर्गुण ब्रह्म का स्वीकार है तो फिर माया की कथा ही क्या ? और आगे छठे श्लोक में जाकर यह कथन करना है कि वह स्वतःप्रकाश है फिर ऐसे शुद्ध ब्रह्म में माया का परदा क्यों ? अर्थात् माया का परदा कथन करना सर्वथा असंगत है ॥

सं०-अब परमात्मपद को प्राप्त होने योग्य पुरुष का कथन करते हैंः—

निर्मानमोहाः जितसङ्गदोषाः अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

पद०-निर्मानमोहाः । जितसङ्गदोषाः । अध्यात्मनित्याः । विनिवृत्तकामाः । द्वन्द्वैः । विमुक्ताः । सुखदुःखसंज्ञैः । गच्छन्ति । अमूढाः । पदं । अव्ययं । तत् ॥

पदा०-(निर्मानमोहाः) जिनका मान और मोह निवृत्त होगया है (जितसङ्गदोषाः) जिन्होंने सङ्गदोष को जीत लिया है (अध्यात्मनित्याः) जो परमात्मा में तत्पर हैं (विनिवृत्तकामाः) जिनकी कामनायें निवृत्त होगई हैं (सुखदुःखसंज्ञैः) सुखः दुःख, काम क्रोध, लोभ मोहादि (द्वन्द्वैः) द्वन्द्वों से (विमुक्ताः) जो छुटे हुए हैं वह (अमूढाः) मोह से रहित पुरुष

(तत्, अव्ययं, पदं) उस निर्विकार पद को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं ॥

सं०-जिसको पूर्वोक्त गुणों वाले पुरुष प्राप्त होते हैं अब उस निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं:—

न तद्भासयते सूर्य्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

पद०-न । तत् । भासयते । सूर्य्यः । न । शशांकः । न । पावकः । यत् । गत्वा । न । निवर्तन्ते । तत् । धाम । परमं । मम ॥

पदा०-(तत्) उसको (सूर्य्यः) सूर्य्य (न, भासयते) प्रकाश नहीं करसक्ता (न, शशांकः) न चन्द्रमा प्रकाश करसक्ता है (न, पावकः) न अग्नि प्रकाश करसक्ती है (यत्, गत्वा) जिसको प्राप्त होकर (न, निवर्तन्ते) फिर आवृत्तिरूप भक्ति नहीं करनी पड़ती (तत्) वह (मम) मेरा (परमं) सबसे बड़ा (धाम) स्थान है ॥

भाष्य-" **न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्र तारकं** " मुण्डक० २ । २ । १० इत्यादि उपनिषद्वाक्यों से यह श्लोक लिया गया है " **न चक्षुषा गृह्यते नापिवाचा** " मुं० ३ । १ । ८ इत्यादि वाक्यों में उसको इन्द्रियागोचर कथन किया है, और उसी को बारहवें अध्याय में अक्षर ब्रह्म कथन किया गया है जिसकी प्राप्ति साकारवादी टीकाकारों ने देहधारी लोगों के लिये दुर्घट मानी थी उसको यहां कृष्णजी ने " **तद्धामपरमंमम** " यह वाक्य कहकर अपना भी उपास्यदेव मानलिया, मायावादी लोग इसके यह अर्थ करते हैं कि यहां " षष्ठी " के अर्थ भेद के नहीं किन्तु " **राहोः शिरः** " इस वाक्यके समान राहु का शिर है यह बात नहीं प्रत्युत राहु ही शिर है यह अर्थ लाभ होता है अर्थात् मेरा धाम नहीं, मैं ही धाम हूं, यह अर्थ है, इस अर्थ के मानने पर भी निर्गुण की प्राप्ति साकारवादी लोगों को अवश्य माननी पड़तीहै अर्थात् फिर यह नहीं कहसक्ते कि देहधारी पुरुष निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त नहीं होसक्ते, सार यह निकला कि "अहं" शब्द का वाच्यार्थ यदि यहां निर्गुण ब्रह्म माना जाय तब भी कृष्णजी का महत्व इससे सिद्ध नहीं होता, क्योंकि कृष्णजी उनके मत में सगुण ब्रह्म हैं, और यहां कृष्णजी ने निर्गुण ब्रह्म को आत्म-

त्वेन उपासना के अभिप्राय से वर्णन किया है, मधुसूदन स्वामी ने तो यहां भी इस पद की प्राप्ति "अहंब्रह्मास्मि" इस वाक्य द्वारा मानी है जिसका गन्धमात्र भी इस श्लोक में नहीं और वह इसलिये मानी है कि इनके मत में जब जीव ब्रह्म बन जाता है तो फिर पुनरावृत्ति नहीं होती, और इनके मत में जीव को ब्रह्म बनाने का यह प्रकार है कि अन्तःकरण वा अविद्या में जो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है वही जीव है, इस पक्ष में जैसे जलरूप उपाधि के मिटने से सूर्य्य का प्रतिबिम्ब बिम्बरूप होजाता है इसी प्रकार अन्तःकरणादि उपाधियों के मिटने से जीव ब्रह्म की एकता हो जाती है, और जिस पक्ष में बुद्धि के साथ मिला हुआ जो ब्रह्म का भाग उसका नाम जीव है उस पक्ष में घटाकाश की घटरूप उपाधि के फूटने से जैसे घटाकाश महाकाशरूप होजाता है इसी प्रकार बुद्ध्यवच्छिन्न जीवरूप भाग बुद्धिरूप उपाधि के मिटने से ब्रह्मरूप होजाता है, एवं प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद, आभासवाद आदि इनके कई एक वाद हैं, इन वादों से हमें विवाद क्या, यहां विचार योग्य बात यह है कि जीव का स्वरूप क्या है, यदि जीव वास्तव में घटाकाश के समान ही ब्रह्म से भिन्न है स्वयं उसका कोई स्वरूप नहीं तो इनका यह वाद कि जीव ब्रह्म होजाता है सच्चा होसक्ता है, पर जब जीव नित्य है जैसाकि "नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्चताभ्यः" ब्र० सू० २। ३। १७ में जीव को उत्पत्तिशून्य कथन किया है और श्रुतियें भी उसको नित्य कथन करती हैं तो फिर उसका ब्रह्म से जीव बनना तथा जीवभाव नाश होकर ब्रह्म बनजाना कैसे सिद्ध होसक्ता है ॥

ननु—अंशाअंशीभाव से जीव ब्रह्म का अंश होसक्ता है इसमें क्या दोष है ? उत्तर—अंशाअंशीभाव से जीव ब्रह्म का खण्ड कहीं भी प्रतिपादन नहीं किया गया किन्तु "पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतंदिवि" यजु० ३१।३ इस मंत्र में ब्रह्म का एकदेशी होने से जीव को अंश कथन किया है वास्तव में जीव ब्रह्म का अंश नहीं, स्वामी शं० चा० इस पर यह लिखते हैं कि "अंशइवांशोनहिनिरवयवस्य मुख्योंशःसम्भवति" ब्र० सू० २। ३। ४३ शं० भा० = अंश के समान है वास्तव में निरवयव का अंश नहीं होसक्ता, जब उसका खण्ड होकर जीव अंश ही

नहीं होसकता तो फिर जीव का ब्रह्म बनना क्या, देखोः—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

पद०—मम । एव । अंशः । जीवलोके । जीवभूतः । सनातनः । मनः षष्ठानि । इन्द्रियाणि । प्रकृतिस्थानि । कर्षति ॥

पदा०—(जीवलोके) इस संसार में (जीवभूतः, सनातनः) जो यह सनातन जीव है वह (एव) निश्चय करके (मम, अंशः) उस परमात्मा का अंश है, यह जीव (मनःषष्ठानि) मन है छठा जिसमें ऐसी (प्रकृतिस्थानि) प्रकृति की बनी हुई (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (कर्षति) गमनागमन में साथ लेजाता है ॥

भाष्य-" सनातन " शब्द कथन करने से यहां यह बात सिद्ध होगई कि जीव घटाकाश वा अग्नि के चिङ्गारे के समान ब्रह्म का अंश नहीं किन्तु आदिकाल से प्रकृति से भिन्न ब्रह्म की विभूतिरूप है, यदि ब्रह्म ही जीवभाव को प्राप्त हुआ २ होता तो इसी अध्याय के १७ वें श्लोक में जीव ईश्वर का भेद कथन न किया जाता और नाहीं गी० १३।१९ में जीव को अनादि माना जाता ? एवं गीता के पूर्वोत्तर विचार करने से यहां "अंश" शब्द के अर्थ ईश्वर की विभूति के हैं, महाकाश से घटाकाश तथा अग्नि के चिङ्गारे के समान अंश के नहीं ॥

सं०—अब जीव के गमनागमन का कथन करते हैं:—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

पद०—शरीरं । यत् । अवाप्नोति । यत् । च । अपि । उत्क्रामति । ईश्वरः । गृहीत्वा । एतानि । संयाति । वायुः । गंधान् । इव । आशयात् ॥

पदा०—(यत्) जिस काल में (ईश्वरः) जीव (शरीरं) शरीर को (अवाप्नोति) प्राप्त होता (यत्, च, अपि, उत्क्रामति) और जिस समय छोड़ता है उस समय जिसप्रकार (वायुः) वायु (आशयात्) पुष्पों से (गंधान्, इव) गन्धों को ग्रहण करके लेजाता है इसी प्रकार (एतानि) पूर्वोक्त इन्द्रियों को (गृहीत्वा) ग्रहण करके (संयाति) जीवात्मा लेजाता है ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

पद०—श्रोत्रं। चक्षुः। स्पर्शनं। च। रसनं। घ्राणं। एव। च। अधिष्ठाय। मनः। च। अयं। विषयान्। उपसेवते ॥

पदा०—(श्रोत्रं) कर्ण (चक्षुः) नेत्र (स्पर्शनं) त्वचा (रसनं) रसना (घ्राणं) नासिका (च) और (मनः) मन को (अधिष्ठाय) आश्रय करके (अयं) यह जीवात्मा (विषयान्) विषयों को (उपसेवते) भोगता है ॥

सं०—अब इन्द्रियों सहित गमनागमन वाले जीवात्मा को ज्ञानियों का विषय कथन करते हैं:—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितं।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

पद०—उत्क्रामन्तं। स्थितं। वा। अपि। भुञ्जानं। वा। गुणान्वितं। विमूढाः। न। अनुपश्यन्ति। पश्यन्ति। ज्ञानचक्षुषः ॥

पदा०—(उत्क्रामन्तं) शरीर छोड़ते हुए को (स्थितं, वा, अपि) अथवा शरीर में स्थित (भुञ्जानं) भोगते हुए को (वा, गुणान्वितं) अथवा गुणों के साथ मिले हुए जीव को (विमूढाः) मूढ पुरुष (न, अनुपश्यन्ति) नहीं देखसकते (ज्ञानचक्षुषः, पश्यन्ति) ज्ञानचक्षुवाले ही देखते हैं ॥

सं०—अब जीवात्मा विषयक अनुभवज्ञान प्रतिपादन करते हैं:—

यतंतो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितं ॥
यतंतोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यंत्यचेतसः ॥ ११ ॥

पद०—यतन्तः। योगिनः। च। एनं। पश्यंन्ति। आत्मनि। अवस्थितं। यतंतः। अपि। अकृतात्मानः। न। एनं। पश्यन्ति। अचेतसः ॥

पदा०—(यतन्तः) यत्न करते हुए (योगिनः) योगी पुरुष (एनं) इस जीवात्मा को (आत्मनि, अवस्थितं) अपने शरीर में स्थिर (पश्यन्ति) देखते हैं, और (अकृतात्मानः) मलिन अन्तःकरण वाले (अचेतसः) अविवेकी लोग (यतन्तः) यत्न करते हुए भी (एनं) इसको (न, पश्यन्ति) नहीं देखते ॥

सं०–इस प्रकार जीवात्मा का भेद प्रतिपादन करके अब कृष्णजी विभूतियोग से परमात्मा की विभूति को पुनः वर्णन करते हैं:—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

पद०–यत् । आदित्यगतं । तेजः । जगत् । भासयते । अखिलं । यत् । चन्द्रमसि । यत् । च । अग्नौ । तत् । तेजः । विद्धि । मामकं ।

पदा०–(यत्) जो (आदित्यगतं, तेजः) सूर्य्य में तेज है जिससे (अखिलं, जगत्, भासयते) सम्पूर्ण जगत् को प्रकाश करता है (च) और (यत्) जो (चन्द्रमसि) चन्द्रमा में (अग्नौ) अग्नि में तेज है (तत्, तेजः) वह तेज (मामकं, विद्धि) मेरा जान ॥

भाष्य–"**तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्यभासासर्वमिदंविभाति**" मुण्डक० २ । २ । १० इत्यादि उपनिषद्वाक्यों से यह श्लोक लिया गया है, जिसके अर्थ यह हैं कि उस परमात्मा के प्रकाश से ही यह सम्पूर्ण विश्ववर्ग प्रकाशित होता है ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि-चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

पदा०–गां । आविश्य । च । भूतानि । धारयामि । अहं । ओजसा । पुष्णामि । च । औषधीः । सर्वाः । सोमः । भूत्वा । रसात्मकः ।

पदा०–(अहं) मैं (गां) पृथिवी को (आविश्य) प्रवेश कर (ओजसा) अपने बल से (भूतानि, धारयामि) सब प्राणियों को धारण करके (रसात्मकः, सोमः, भूत्वा) रसरूपसोम होकर (सर्वाः, औषधीः) सब औषधियों को (पुष्णामि) पुष्ट करता हूं ॥

भाष्य–"**येनद्यौरुग्रापृथिवी च दृढ़ा०**" यजु० ३२ । ६ इत्यादि मन्त्रों से यह भाव लिया है जिनमें पृथिवी आदिकों का आधार परमात्मा को ही वर्णन किया गया है, पूर्वोक्त प्रकार से "अहं" शब्द का वाच्य यहां परमात्मा है जिसका तद्धर्मतापत्ति के भाव से कृष्णजी ने आत्मत्वेन प्रयोग किया है, जैसाकि "**वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्**" ब्र०-सू० १।२।२४

इत्यादि सूत्रों में महर्षिव्यास ने "वैश्वानर" के अर्थ परमात्मा के किये हैं किसी देवविशेष के नहीं ॥

सं०-अब उस वैश्वानर को कृष्णजी आत्मत्वेन कथन करते हैं:—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

पदा०-अहं । वैश्वानरः । भूत्वा । प्राणिनां । देहं । आश्रितः । प्राणापानसमायुक्तः । पचामि । अन्नं । चतुर्विधं ॥

पदा०-(अहं) मैं (वैश्वानरः, भूत्वा) वैश्वानर अग्नि होकर (प्राणिनां) जीवों के (देहं) देह को (आश्रितः) आश्रय किया हुआ हूं, और मैं ही (प्राणापानसमायुक्तः) प्राण तथा अपानवायु के साथ मिला हुआ (अन्नं, चतुर्विधं)चार प्रकार के अन्न को (पचामि) पचाता हूं ॥

भाष्य—चार प्रकार का अन्न यह है — भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य (१) जो दांतों से चबाकर खायाजाय वह " भक्ष्य " (२) जो दांतों से विना भी खाया जासके वह " भोज्य " (३) जो जिह्वा से चाटकर खायाजाय वह "लेह्य" (४) जो इक्षुदण्ड=गन्ने के समान चूसाजाय उसको "चोष्य" कहते हैं ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

पद०-सर्वस्य । च ।अहं । हृदि । सन्निविष्टः । मत्तः । स्मृतिः । ज्ञानं । अपोहनं । च । वेदैः । च । सर्वैः । अहं । एव । वेद्यः । वेदान्तकृत् । वेद वित् । एव । च । अहं ॥

पदा०-(सर्वस्य) सब मनुष्यों के (हृदि) हृदय में (अहं, सन्निविष्टः) मैं स्थिर हूं (मत्तः) मेरे से (स्मृतिः, ज्ञानं) स्मृति और ज्ञान होता है (च) और (अपोहनं) इन दोनों का ढक जाना भी मेरे सेही होता है (वेदैः, च, सर्वैः) सब वेदों को (वेद्यः) जानने योग्य (अहं, एव) मैं ही हूं (वेदान्त-कृत्) वेदान्त की सम्प्रदाय का करने वाला और (वेदवित्) वेदों का जानने वाला (अहं, एव) मैं ही हूं ॥

भाष्य–इन श्लोकों में परमात्मा को अन्तर्यामीरूप से कथन किया है, जैसाकि बृहदारण्यक के अंतर्यामी ब्राह्मण में परमात्मा को सबका अन्तर्यामी वर्णन किया गया है, और जो यह कहा है कि "स्मृति और ज्ञान का होना भी मेरे से ही होता है और इनका न होना भी मेरे से ही होता है" यह निमित्तकारण के अभिप्राय से कथन किया गया है कि पूर्वकृत्कर्मों के कारण परमात्मा ही सबको स्मृति आदि देने और हर लेने वाला है, जैसाकि ब्र० सू० ३। ३। ४२ में पूर्वकृतकर्मों की अपेक्षा से परमात्मा को फलप्रदाता कथन किया है, यदि इसके अर्थ यही माने जायं कि भला बुरा सब ज्ञान कृष्ण ही देता है तो फिर कृष्णजी ने "सर्वधर्मान्परित्यज्यमामेकं शरणं व्रज" गी० १८। ३६ में यह क्यों कहा ? क्योंकि जब सबके ज्ञान और अज्ञान का कारण कृष्ण ही हैं तो सब धर्म कृष्ण ही की ओर से हैं फिर उनका निषेध क्यों ? और जो गी० १६।१८ में यह कहा है कि जो लोग अहंकारादिकों से अपने वा परदेहों में मेरे से द्वेष करते हैं उनको मैं आसुरी योनि में फेंक देता हूं, फिर उन विचारों का क्या अपराध, क्योंकि स्मृति ज्ञानादिक तो सब कृष्ण ही की ओर से मिलते हैं, यदि यह मानाजाय कि इस श्लोक के यही अर्थ हैं तो पूर्वोक्त सहस्रों तर्क गीता को परस्पर विरुद्ध सिद्ध करते हैं, और उपनिषदों के साथ संगत करने से इसके यह अर्थ लाभ होते हैं कि अंतर्यामीरूप से परमात्मा सबके हृदय में स्थिर है, वह पूर्वकृत् कर्मों की अपेक्षा से ज्ञान और स्मृति देता और वही मंदकर्मों के कारण ज्ञान तथा स्मृति को हर लेता है, वही वेदान्तकृत् वैदिक सिद्धान्तों का स्थिर करने वाला और वही वेद का वेत्ता है, मायावादी लोग इस श्लोक के अर्थों को अपनी ओर इस प्रकार खेंचते हैं कि जब सबके हृदय में वह स्थिर है तो यह अर्थ लाभ हुए कि वही जीवरूप बनगया है, यदि इस श्लोक का यह तात्पर्य होता तो १७ वें श्लोक में जाकर कृष्णजी अपने आपको जीव से भिन्न क्यों वर्णन करते ? इसलिये इस श्लोक का आशय परमात्मा को सर्वान्तर्यामी और सबसे श्रेष्ठ प्रतिपादन करने का है, जैसाकि अग्रिम श्लोक में वर्णन किया है कि:—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

पद०-द्वौ । इमौ । पुरुषौ । लोके । क्षरः । च । अक्षरः । एव । च । क्षरः । सर्वाणि । भूतानि । कूटस्थः । अक्षरः । उच्यते ॥

पदा०-(एव) निश्चय (द्वौ, इमौ, पुरुषौ, लोके) इस पुरुष लोक में यह दो (क्षरः) क्षर (च) और (अक्षरः) अक्षर हैं (क्षरः, सर्वाणि, भूतानि) सब भूत क्षर (च) और (कूटस्थः, अक्षरः, उच्यते) अक्षर कूटस्थ कहा जाता है ॥

भाष्य-इस श्लोक में "क्षर" शब्द से प्रकृति तथा उसका कार्य्यमात्र और "अक्षर" शब्द से जीवात्मा का कथन किया है, कूट नाम लोहपिण्ड का है उसके समान जो निश्चल हो उसको "कूटस्थ" कहते हैं, और मायावादियों के मत में कूट नाम माया का है, उस माया की आवरण और विक्षेपशक्ति से जो स्थिर हो उसका नाम कूटस्थ है अर्थात् माया की आवरण और विक्षेपशक्ति से जो ब्रह्म जीवरूप होगया है उसके अर्थ यहां कूटस्थ के हैं, यह अर्थ यदि ठीक होते तो कृष्णजी अपने आपको इस औपाधिक रूप से भिन्न कथन न करते, क्योंकि जब इनके मत में कृष्ण का रूप भी उपाधि वाला है फिर विचारे जीवरूप ब्रह्म ने उपाधि में फसकर क्या अपराध किया जो उसको तुच्छ समझकर कृष्णजी अपने आपको बड़ा सिद्ध करते हैं, इस प्रकार विवेचन करने से स्पष्ट सिद्ध है कि कूटस्थ के अर्थ यहां निर्विकार होने के अभिप्राय से जीव के हैं ब्रह्म के नहीं ॥

सं०-अब उस जीव से परमात्मा का भेद सिद्ध करते हैं:-

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

पद०-उत्तमः । पुरुषः । तु । अन्यः । परमात्मा । इति । उदाहृतः । यः । लोकत्रयं । आविश्य । बिभर्त्ति । अव्ययः । ईश्वरः ॥

पदा०-(यः) जो (लोकत्रयं, आविश्य) तीनो लोकों में प्रवेश करके (बिभर्त्ति) इस सम्पूर्ण संसार को धारण कर रहा है वह (अव्ययः, ईश्वरः) अव्यय, ईश्वर तथा (उत्तमः, पुरुषः) उत्तम पुरुष है और वह

पूर्वोक्त प्रकृति तथा जीव से (अन्यः) भिन्न (परमात्मा, इति, उदाहृतः) परमात्मा नाम से कथन किया गया है ॥

सं०-अब उस परमात्मपुरुष को कृष्णजी "अहंग्रह" उपासना के भाव से आत्मवाची शब्द द्वारा कथन करते हैं:—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

पद०-यस्मात् । क्षरं । अतीतः । अहं । अक्षरात् । अपि । च । उत्तमः । अतः । अस्मि । लोके । वेदे । च । प्रथितः । पुरुषोत्तमः ॥

पदा०-(यस्मात्) जिसलिये (अहं) मैं (क्षरं) क्षर=प्रकृति से (अतीतः) परे (अक्षरात्, अपि, च) और अक्षररूप जीव से (उत्तमः) श्रेष्ठ हूं (अतः) इसीलिये (लोके) लोक (वेदे) वेद में (पुरुषोत्तमः, प्रथितः) उत्तम पुरुष प्रसिद्ध हूं ॥

सं०-अब उस पुरुषोत्तम परमात्मा के ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १६ ॥

पद०-यः । मां । एवं । असंमूढः । जानाति । पुरुषोत्तमं । सः । सर्ववित् । भजति । मां । सर्वभावेन । भारत ॥

पदा०-हे भारत ! (यः) जो पुरुष (मां) मुझको (एवं) इस प्रकार (असंमूढः) मोह से रहित हुआ (पुरुषोत्तमं, जानाति) पुरुषोत्तम जानता है (सः) वह (सर्ववित्) सब जानता है (सर्वभावेन) सब प्रकार से (मां) मेरा (भजति) भजन करता है ॥

सं०-अब कृष्णजी प्रतिपादक गीता शास्त्र की स्तुति करते हुए इस अध्याय को समाप्त करते हैं:—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

पद०-इति । गुह्यतमं । शास्त्रं । इदं । उक्तं । मया । अनघ । एतत् । बुध्वा । बुद्धिमान् । स्यात् । कृतकृत्यः । च । भारत ॥

पदा०-(अनघ) हे निष्पाप अर्जुन ! (इदं) यह (इति, गुह्यतमं, शास्त्रं) अति गोपनीय शास्त्र (मया, उक्तं) मैंने कथन किया है (एतत्, बुध्वा) इसको जानकर (बुद्धिमान्, स्यात्) पुरुष बुद्धिमान् होता (च) और हे भारत ! (कृतकृत्यः) कृतकृत्य होता है ॥

भाष्य—कृष्णजी ने इस उत्तम पुरुष का आत्मत्वेन प्रतिपादन आत्मत्वोपासना के अभिप्राय से किया है, जैसाकि "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्" गी० १४।२७ में अपने को परमात्मत्वेन कथन किया है, यदि यहां वास्तव में कृष्णजी अपने आपको परमात्मरूप से कथन करते तो ब्रह्म की प्रतिष्ठा के क्या अर्थ होते, और "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" गी० १८। ६१ इत्यादि कृष्ण से भिन्न ईश्वर प्रतिपादक श्लोकों के क्या अर्थ ? एवं पूर्वोत्तर विचार करने से सिद्ध है कि इस अध्याय में कृष्णजी ने परमात्मा से जीव का तद्धर्मतापत्ति द्वारा योग कथन किया है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीता-
योगप्रदीपार्य्यभाष्ये, पुरुषोत्तमयोगो नाम
पंचदशोऽध्यायः

अथ षोडशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सङ्गति–पूर्व १५ वें अध्याय में वासनारूप कर्मों को जीव के जन्म का कारण कथन किया और वह वासनायें जीवों की प्रकृति कहलाती हैं अर्थात् शुभ वासनाओं से मनुष्य की दैवीप्रकृति और अशुभ वासनाओं से आसुरीप्रकृति बनती है, इसलिये दैवीप्रकृति और आसुरीप्रकृति का विवेक करने के लिये इस अध्याय में प्रथम सात्विकी शुभवासना वालों के गुण वर्णन करते हैं:—

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

पद०—अभयं । सत्त्वसंशुद्धिः । ज्ञानयोगव्यवस्थितिः । दानं । दमः । च । यज्ञः । च । स्वाध्यायः । तपः । आर्जवं ॥

पदा०—(अभयं) सन्मार्ग में किसी से न डरना (सत्त्वसंशुद्धिः) मन को शुद्ध रखना (ज्ञानयोगव्यवस्थितिः) ज्ञान = सत्यासत्य का विचार, योग = वैदिककर्मों का अनुष्ठान, अवस्थिति = इनमें अपनी दृढ़ता रखना (दानं) पात्र को दान देना (दमः) इन्द्रियों को रोकना (च) और (यज्ञः) निष्कामकर्म करना (च) और (स्वाध्यायः) अर्थ सहित वेद का विचार करना (तपः) ब्रह्मचर्य्यादि व्रतों से शरीरादिकों को वश में रखना (आर्जवं) निष्कपट रहना ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

पद०—अहिंसा । सत्यं । अक्रोधः । त्यागः । शान्तिः । अपैशुनं । दया । भूतेषु । अलोलुप्त्वं । मार्दवं । ह्रीः । अचापलं ॥

पदा०—(अहिंसा) किसी प्राणी को दुःख न देना (सत्यं) जैसा हृदय में हो वैसा ही प्रकाश करना (अक्रोधः) क्रोध न करना (त्यागः) उदारता रखना (शान्तिः) सहनशील रहना (अपैशुनं) अपरोक्ष में किसी पुरुष के दोष प्रकट न करना (भूतेषु, दया) दुःखी प्राणियों पर कृपा करना (अलोलुप्त्वं) विषयों का सम्बन्ध होने पर भी इन्द्रियों को अविकारी रखना (मार्दवं) क्रूर स्वभाव न रखना (ह्रीः) मन्दकर्मों में लोकलाज से डरना (अचापलं) व्यर्थ चपलता से हाथ पैर आदि न हिलाना, और:—

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

पद०—तेजः । क्षमाः । धृतिः । शौचं । अद्रोहः । नातिमानिता । भवन्ति । सम्पदं । दैवीं । अभिजातस्य । भारत ॥

पदा०—(तेजः) अपने गुण गौरव से तेजस्वी रहना (क्षमा) स्वसामर्थ्य होने पर भी किसी के अनुपकार करने पर उससे द्वेष न करना (धृतिः) आपत्ति पड़ने पर दृढ़ता से रहना (शौचं) शरीर, मन, वाणी से पवित्र रहना (अद्रोहः) किसी से द्वेष न करना (नातिमानिता) अभि-

मान न करना, हे भारत ! (दैवीं, सम्पदं, अभिजातस्य) दैवीसम्पद = सात्विकी वासना को आश्रय करके जो पुरुष उत्पन्न हुआ है उसमें यह पूर्वोक्त गुण (भवन्ति) होते हैं ॥

भाष्य—योग्यता के अनुकूल इनके यह अर्थ करलेना कि तेज, धृति, क्षमा, यह दैवीसम्पत्ति वाले क्षत्रिय के, शौच, अद्रोह, वैश्य के और अभिमान न करना शूद्र का मुख्य धर्म है ॥

सं०—अब आसुरीसम्पत्ति वालों के भावों का कथन करते हैं:—

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

पद०—दंभः । दर्पः । अभिमानः । च । क्रोधः । पारुष्यं । एव । च । अज्ञानं । च । अभिजातस्य । पार्थ । सम्पदं । आसुरीं ॥

पदा०—(दंभः) अपने अपगुणों को छिपाकर लोभवशात् महात्मापन प्रगट करना (दर्पः) श्रेष्ठ पुरुषों का अपमान करने के लिये जो गर्व उसको " दर्प " कहते हैं (अभिमानः) अपने में पूज्य बुद्धि रखना (क्रोधः) द्वेषाग्नि से अन्तःकरण में दाहरूप बुद्धि उत्पन्न होना (पारुष्यं) किसी को दुखाने के लिये कटुवचन बोलना (अज्ञानं) उलटी बुद्धि रखना, चकार से अधृति आदि सब दोषों का ग्रहण करलेना (आसुरीं, सम्पदं, अभिजातस्य) आसुरी सम्पत्ति की वासनाओं को लेकर जो पुरुष उत्पन्न हुए हैं उनमें पूर्वोक्त दोष होते हैं ॥

सं०—अब दैवीसम्पद और आसुरीसम्पद का फल कथन करते हैं:—

दैवीसंपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥ ५ ॥

पद०—दैवीसम्पद् । विमोक्षाय । निबन्धाय । आसुरी । मता । मा । शुचः । सम्पदं । दैवीं । अभिजातः । असि । पाण्डव ॥

पदा०—(दैवीसम्पद्, विमोक्षाय) मुक्ति के लिये दैवीसम्पद और (निबन्धाय) बन्धन के लिये (आसुरी, मता) आसुरी सम्पद मानीगई

हैं, हे पाण्डव ! (मा, शुचः) तू शोक मत कर (दैवीं, सम्पदं, अभिजातः, असि) तू पुण्यरूपी वासना को आश्रय करके उत्पन्न हुआ है ॥

भाष्य-इस श्लोक में कृष्णजी ने यह बोधन किया है कि तेरी वासनारूप पूर्व प्रकृति दैवी थी, इसलिये तू दैवीसम्पद के गुणों वाला है, अत एव शोक मतकर ॥

सं०—ननु, देव, असुर तो अलौकिक माने गये हैं मैं तो मनुष्य हूं देव कैसे कहलासक्ता हूं ? उत्तरः—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

पद०-द्वौ । भूतसर्गौ । लोके । अस्मिन् । दैवः । आसुरः । एव । च । दैवः । विस्तरशः । प्रोक्तः । आसुरं । पार्थ । मे । शृणु ॥

पदा०-(अस्मिन्, लोके) इस लोक में (द्वौ, भूतसर्गौ) दो प्रकार के मनुष्यों की सृष्टि है (दैवः) जो पूर्वोक्त दैवीसम्पत्ति वाले हैं वह देव और जो दम्भादि आसुरीसम्पत्ति के भावों वाले हैं वह (आसुरः) असुर हैं (दैवः, विस्तरशः, प्रोक्तः) देव विस्तारपूर्वक कथन किये गये, हे पार्थ ! (आसुरं, मे, शृणु) आसुर प्राणीवर्ग का मेरे से श्रवण कर ॥

भाष्य—इस श्लोक में कृष्णजी ने स्पष्ट सिद्ध करदिया कि देवता और असुर कोई विशेष योनि नहीं किन्तु इन्हीं देहधारी मनुष्यों में से दिव्य गुणों वाले "देवता" और दम्भादि अपगुणों वाले "असुर" कहलाते हैं ॥

सं०-अब असुरों के भावों को ७ वें श्लोक से लेकर २० वें श्लोक तक वर्णन करते हैं:—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

पद०—प्रवृत्तिं । च । निवृत्तिं । च । जनाः । न । विदुः । आसुराः । न । शौचं । न । अपि । च । आचारः । न । सत्यं । तेषु । विद्यते ॥

पदा०-हे अर्जुन ! (आसुराः, जनाः) असुर स्वभाव वाले लोग (प्रवृत्तिं) प्रवृत्ति (च) और (निवृत्तिं) निवृत्ति को (न, विदुः) नहीं

जानते (न, शौचं) न पवित्रता को (न, अपि, च, आचारः) और न आचार जानते हैं (न, सत्यं, तेषु, विद्यते) न उनमें सत्य होता है ॥

भाष्य-प्रवृत्ति, निवृत्ति के अर्थ यहां धर्म में प्रवृत्ति और अधर्म से निवृत्ति के हैं अर्थात् असुर लोग धर्माधर्म को नहीं जानते, और सब स्पष्ट है ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

पद०-असत्यं । अप्रतिष्ठं । ते । जगत् । आहुः । अनीश्वरं । अपरस्परसम्भूतं । किं । अन्यत् । कामहैतुकं ॥

पदा०-(ते) वह असुर लोग (जगत्, अनीश्वरं, आहुः) जगत् को ईश्वर का बनाया हुआ नहीं मानते (असत्यं) असत्य (अप्रतिष्ठं) धर्माधर्म की व्यवस्था से रहित मानते हैं (अपरस्परसम्भूतं) "**अपरश्च परश्चेति-अपरस्परम्**" = अन्याऽन्य से जिसकी उत्पत्ति हो अर्थात् आपस में स्त्री पुरुष के कारण से ही मनुष्यादि योनियों को मानते हैं (कामहैतुकं) स्त्री पुरुष की कामना से मनुष्यवर्ग को बना हुआ मानते हैं (किं, अन्यत्) अदृष्टादि अन्य कारण किं=क्या हैं अर्थात् और कुछ नहीं ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवंत्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

पद०-एतां । दृष्टिं । अवष्टभ्य । नष्टात्मानः । अल्पबुद्धयः । प्रभवन्ति । उग्रकर्माणः । क्षयाय । जगतः । अहिताः ॥

पदा०-(एतां, दृष्टिं, अवष्टभ्य) इस पूर्वोक्त नास्तिकभाव की दृष्टि को लेकर (नष्टात्मानः) वह नष्ट आत्मा (अल्पबुद्धयः) तुच्छ बुद्धि और (उग्रकर्माणः) क्रूर कर्मों वाले हैं (अहिताः) ऐसे अनुपकारी लोग (जगतः, क्षयाय, प्रभवन्ति) संसार के नाशार्थ होते हैं, फिर वह कैसे हैंः—

काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

पद०-कामं । आश्रित्य । दुष्पूरं । दंभमानमदान्विताः । मोहात् । गृहीत्वा । असद्ग्राहान् । प्रवर्त्तन्ते । अशुचिव्रताः ॥

पदा०-(दुष्पूरं, कामं, आश्रित्य) पूर्ण न होने वाली कामनाओं को लेकर (दंभमानमदान्विताः) दंभ, मान और मद से सदा लिपटे रहते हैं (असद्ग्राहान्) झूठी बातों को (मोहात्, गृहीत्वा) मोह से ग्रहण करके (प्रवर्त्तन्ते) वर्तते और (अशुचिव्रताः) अपवित्र वस्तुओं की प्रतिज्ञायें करते हैं ॥

भाष्य—" असद्ग्रह " के अर्थ यह हैं कि वह मिथ्याविश्वास से अपूज्य वस्तुओं को पूज्य समझते और अनेक प्रकार के मिथ्या व्रत करके देवी देवताओं को वशीभूत करने के यत्न में लगे रहते हैं, फिर वह कैसे हैं:—

चिंतामपरिमेयां च प्रलयांतामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

पद०-चिंतां । अपरिमेयां । च । प्रलयांतां । उपाश्रिताः । कामोपभोगपरमाः । एतावत् । इति । निश्चिताः ॥

पदा०-(अपरिमेयां, चिंतां) असीमचिंता को (उपाश्रिताः) आश्रय किये हुए रहते हैं (प्रलयांतां) जो मरण तक बनी रहती है (कामोपभोगपरमाः) काम का भोग करना ही जिनका परम उद्देश्य है (एतावत्, इति, निश्चिताः) विषयजन्य सुख ही सुख है इस निश्चय वाले हैं ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहंते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

पद०-आशापाशशतैः । बद्धाः । कामक्रोधपरायणाः । ईहंते । कामभोगार्थं । अन्यायेन । अर्थसंचयान् ॥

पदा०-(आशापाशशतैः) आशा=अप्राप्त पदार्थों की इच्छारूपी पाशशतैः=सैकड़ों जालों में (बद्धाः) बंधे हुए हैं, और (कामक्रोधपरायणाः) काम तथा क्रोध को आश्रय किये हुए (कामभोगार्थं) काम के भोगार्थ (अन्यायेन) अन्याय से (अर्थसंचयान्) धन संचय की (ईहंते) इच्छा करते हैं ॥

सं०-अब उनके अन्याय से धनसंचय करने का प्रकार कथन करते हैं:-

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

पद०-इदं । अद्य । मया । लब्धं । इमं । प्राप्स्ये । मनोरथं । इदं । अस्ति । इदं । अपि । मे । भविष्यति । पुनः । धनं ॥

पदा०-(इदं, अद्य, मया, लब्धं) यह आज मुझे प्राप्त होगया (इमं, मनोरथं, प्राप्स्ये) इस मनोरथ को प्राप्त होऊंगा (इदं, अस्ति) यह धन मेरे घर में है (इदं, धनं, पुनः, भविष्यति) यह धन भविष्यत् काल में होजायगा, इस प्रकार के (मनोरथं) मनोरथ अन्याय से धनसंचय करने के लिये करते रहते हैं ॥

सं०-अब उन आसुरीसम्पत्ति वाले पुरुषों के क्रोध तथा अभिमान का वर्णन करते हैं:—

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

पद०-असौ । मया । हतः । शत्रुः । हनिष्ये । च । अपरान् । अपि । ईश्वरः । अहं । अहं । भोगी । सिद्धः । अहं । बलवान् । सुखी ॥

पदा०-(असौ, शत्रुः, मया, हतः) यह शत्रु तो मैंने मारलिया (च) और (अपरान्, अपि, हनिष्ये) औरों को भी मारुंगा (अहं, ईश्वरः) मैं ईश्वर हूं (अहं, भोगी) मैं भोगों वाला हूं (अहं, सिद्धः) मैं सिद्ध हूं, मैं बलवान् हूं, मैं सुखी हूं, इत्यादि अभिमान की बातें करते रहते हैं ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

पद०-आढ्यः । अभिजनवान् । अस्मि । कः । अन्यः । अस्ति । सदृशः । मया । यक्ष्ये । दास्यामि । मोदिष्ये । इति । अज्ञानविमोहिताः ॥

पदा०-(आढ्यः, अस्मि) मैं धनवान् हूं (अभिजनवान्) बहुत मनुष्यों वाला हूं (अन्यः) और (कः) कौन (मया, सदृशः, अस्ति)

हमारे बराबर है (यक्ष्ये) मैं यज्ञ करूंगा (दास्यामि) दानदूंगा (मोदिष्ये) प्रसन्न होऊंगा (इति, अज्ञानविमोहिताः) इस प्रकार अज्ञान से मोह को प्राप्त हुए २ असुर लोग ऐसी मनोरथमात्र की सरित में वहे चले जाते हैं ॥

भाष्य—आसुरीसम्पत्ति में यज्ञ करना इस अभिप्राय से है कि असुर लोग देवी देवताओं को प्रसन्न करने के लिये मनोरथमात्र के यज्ञों को मानते हैं, जैसाकि १० वें श्लोक में "असद्ग्रह" शब्द से मनोरथमात्र के देवी देवताओं का उपासक होना आसुरीसम्पत्ति में कथन किया गया है, इसी प्रकार मिथ्याभूत देवताओं के प्रसन्न करने के लिये जो यज्ञ हैं वह भी आसुरीसम्पत्ति का भाव हैं, और वैदिकयज्ञ दैवीसम्पत्ति का भाव है, जैसाकि "नायंलोकोऽस्ति अयज्ञस्य" गी० ४ । ३१ =जो यज्ञ नहीं करता उसका यह लोक भी नहीं सुधर सक्ता परलोक की तो कथा ही क्या, इत्यादि वाक्यों में वैदिक यज्ञ का वर्णन है ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

पद०—अनेकचित्तविभ्रान्ताः । मोहजालसमावृताः । प्रसक्ताः । कामभोगेषु । पतन्ति । नरके । अशुचौ ॥

पदा०—(अनेकचित्तविभ्रान्ताः) अनेक उपास्य देवों में जिनका चित्त भ्रम को प्राप्त होरहा है (मोहजालसमावृताः) अज्ञानरूप मोहजाल में फसे हुए (कामभोगेषु, प्रसक्ताः) विषयभोग में आसक्त हैं (अशुचौ, नरके, पतन्ति) वह घोर नरक में पड़ते हैं ॥

भाष्य—"नरक" शब्द के अर्थ यहां किसी लोकविशेष के नहीं किन्तु विषयपरायण होने से स्वशरीर ही उनके लिये घोर नरक का आगार होजाता है, जैसाकि आगे २१ वें श्लोक में यह कथन करेंगे कि कामक्रोधादि ही नरक के द्वार हैं ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

पद०—आत्मसम्भाविताः । स्तब्धाः । धनमानमदान्विताः । यजन्ते । नामयज्ञैः । ते । दम्भेन । अविधिपूर्वकं ॥

पदा०—(आत्मसम्भाविताः) अपनी प्रशंसा करते रहते हैं (स्तब्धाः) ढीठ होते हैं (धनमानमदान्विताः) धन के कारण जो मान और मद उनमें ग्रस्त रहते हैं (ते) वह असुर (नामयज्ञैः) नाममात्र के यज्ञों द्वारा (दम्भेन) दम्भ से (अविधिपूर्वकं) अविधिपूर्वक (यजन्ते) यजन करते हैं ॥

भाष्य—अवैदिक होने से इनके यज्ञ को अविधिपूर्वक कहागया है अर्थात् " यज्ञोवैविष्णुः " इत्यादि वाक्यों से एकमात्र परमात्मा का पूजन नहीं करते किन्तु अनेक उपास्यदेव मानकर मोहजाल में फसे रहते हैं, इस अभिप्राय से इनके यज्ञ को अविधिपूर्वक कहा है ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

पद०—अहङ्कारं । बलं । दर्पं । कामं । क्रोधं । च । संश्रिताः । मां । आत्मपरदेहेषु । प्रद्विषन्तः । अभ्यसूयकाः ॥

पदा०—अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध को (संश्रिताः) आश्रय किये हुए हैं (आत्मपरदेहेषु) अपने देह में तथा अन्य देहों में (मां, प्रद्विषन्तः) मुझसे द्वेष करते हैं और (अभ्यसूयकाः) निन्दक हैं ॥

भाष्य—" अहङ्कार " शब्द के अर्थ यहां मिथ्या अभिमान के हैं अर्थात् जो गुण अपने में न हों उनको मान लेना, और यही अर्थ "बल" शब्द के हैं, श्रेष्ठों की अवज्ञा करने के लिये जो मद उसका नाम "दर्प" काम तथा क्रोध का अर्थ पीछे कर आये हैं, "मां" शब्द के अर्थ यहां परमात्मा के हैं अर्थात् वे लोग परमात्मा को अपने और परदेहों में व्यापक नहीं मानते, जैसाकि ८वें श्लोक में कथन किया गया है कि वह जगत् को ईश्वर का कार्य्य नहीं मानते, यहां अस्मच्छब्द का प्रयोग कृष्णजी ने इस लिये दिया है कि अग्रिम श्लोक में ईश्वर ने उनको आसुरी योनियों में डालने का वर्णन करना है, " मां " शब्द के ईश्वरवाची होने की अन्य युक्ति यह है कि आत्मा से द्वेष करने के अर्थ यहां शास्त्रीय मर्यादा को उल्लङ्घन करने के हैं और "शास्त्र" शब्द का मुख्यार्थ वेद है, जैसाकि "शास्त्रयो-

नित्वात् " ब्र० सू० १।१।३ में व्यासजी ने निरूपण किया है, इससे पायागया कि वैदिक ईश्वर से द्वेष करना यहां आसुरीय भाव कथन किया गया है नकि कृष्ण से द्वेष करना ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

पद०—तान् । अहं । द्विषतः । क्रूरान् । संसारेषु नराधमान् । क्षिपामि । अजस्रं । अशुभान् । आसुरीषु । एव । योनिषु ॥

पदा०—(अहं) मैं (तान्) उन (द्विषतः, क्रूरान्) द्वेष करने वाले स्वभाव युक्त असुरों को (नराधमान्, अशुभान्) जो अशुभ काम करने वाले अधम =नीच पुरुष हैं उनको (अजस्रं) निरन्तर (संसारेषु) इस संसार में (आसुरीषु, एव, योनिषु) आसुरी योनियों में ही (क्षिपामि) डालता हूं ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यांत्यधमां गतिम् ॥२०॥

पद०—आसुरीं । योनिं । आपन्नाः । मूढाः । जन्मनि । जन्मनि । मां । अप्राप्य । एव । कौन्तेय । ततः । यान्ति । अधमां । गतिं ॥

पदा०—हे कौन्तेय ! (आसुरीं, योनिं, आपन्नाः) आसुरी जन्म को प्राप्त हुए २ (मूढाः) मोह को प्राप्त असुर लोग (जन्मनि, जन्मनि) जन्म २ में (मां, अप्राप्य) मुझको प्राप्त न होकर (ततः) इससे भी (अधमां, गतिं) नीचगति को (यान्ति) प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य—" **मां** " शब्द के अर्थ यहां मधुसूदन स्वामी आदि टीकाकारों ने भी कृष्ण के नहीं किये किन्तु वेदमार्ग के किये हैं कि वह असुर लोग वेदमार्ग को प्राप्त न होकर नीचगति को प्राप्त होते हैं, न केवल मधुसूदनादिकों ने यह अर्थ किया है प्रत्युत स्वामी शं० चा० भी लिखते हैं कि " **मच्छिष्ट साधुमार्गमप्राप्येत्यर्थः** "= मेरे उपदेश किये हुए साधुमार्ग को प्राप्त न होकर वह नीचगति को प्राप्त होते हैं ॥

साकारवादियों का मैं और मेरे शब्द से जो साकार कृष्ण का ग्रहण करना दृढ़व्रत था वह यहां आकर भंग होगया अर्थात् स्वामी शं० चा० आदि आचार्य्यों ने भी इस बात को मान लिया कि मैं और मेरे शब्द से जहां कृष्ण ने कथन किया है वहां सब स्थानों में कृष्ण का ग्रहण नहीं किन्तु योग्यता के अनुसार अर्थ का ग्रहण किया जाता है, इस कथन से "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु" गी० ९। ३४ इत्यादि सब मार्ग स्पष्ट होगये कि इन स्थलों में भी योग्यता के अनुसार वैदिक अर्थ का ही ग्रहण है कृष्ण का नहीं॥

सं०—ननु, उक्त आसुरीभावों का मूल क्या है, जिस मूल के त्याग से पुरुष इस आसुरीय सम्पत्ति के मोह जाल से अपने आपको बचावे? उत्तरः—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

पद०—त्रिविधं। नरकस्य। इदं। द्वारं। नाशनं। आत्मनः। कामः। क्रोधः। तथा। लोभः। तस्मात्। एतत्। त्रयं। त्यजेत्॥

पदा०—(आत्मनः, नाशनं) अपने आत्मा को नष्ट करने वाला (नरकस्य, द्वारं, इदं, त्रिविधं) यह नरक का द्वार तीन प्रकार का है (कामः) काम (क्रोधः) क्रोध (तथा) और (लोभः) लोभ (तस्मात्) इसलिये (एतत्, त्रयं) इन तीनों को (त्यजेत्) छोड़दे॥

सं०—अब इन तीनों के त्याग का फल कथन करते हैं:—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥

पद०—एतैः। विमुक्तः। कौन्तेय। तमोद्वारैः। त्रिभिः। नरः। आचरति। आत्मनः। श्रेयः। ततः। याति। परां। गतिं॥

पदा०—हे कौन्तेय! (एतैः, त्रिभिः, तमोद्वारैः) उक्त तीन प्रकार के नरक द्वारों से (विमुक्तः, नरः) मुक्त हुआ पुरुष (आत्मनः, श्रेयः, आचरति) अपने हित का आचरण करता है (ततः) इससे (परां, गतिं, याति) परागतिं=मुक्ति को प्राप्त होता है॥

सं०—अब परमात्मा की वेदरूप आज्ञा पालन करने को ही कल्याण का मार्ग कथन करते हैं:—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

पद०—यः । शास्त्रविधिं । उत्सृज्य । वर्तते । कामकारतः । न । सः । सिद्धिं । अवाप्नोति । न । सुखं । न । परां । गतिं ॥

पदा०—(यः) जो पुरुष (शास्त्रविधिं) वेद की आज्ञा को (उत्सृज्य) छोड़कर (कामकारतः) अपनी इच्छा से (वर्तते) चलता है (सः) वह पुरुष (न, सिद्धिं, अवाप्नोति) सिद्धि को प्राप्त नहीं होता (न, सुखं) न सुख को (न, परां, गतिं) न मुक्ति को प्राप्त होता है ॥

भाष्य—"सिद्धि" शब्द के अर्थ यहां मनुष्यजन्म के धर्मादि फलचतुष्टय के हैं, इसलिये स्वामी शं० चा० ने यह अर्थ किये हैं कि "पुरुषार्थयोग्यतां न आप्नोति"=वह पुरुष अर्थरूपी योग्यता को प्राप्त नहीं होता, और शास्त्र शब्द के अर्थ यहां वेद के हैं, जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं ॥

सं०—अब कृष्णजी वैदिकमार्ग को सर्वोपरि कथन करके इस अर्थ का उपसंहार करते हैं:—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

पद०—तस्मात् । शास्त्रं । प्रमाणं ते । कार्याकार्यव्यवस्थितौ । ज्ञात्वा । शास्त्रविधानोक्तं । कर्म । कर्त्तुं । इह । अर्हसि ॥

पदा०—हे अर्जुन ! (कार्याकार्यव्यवस्थितौ) यह काम करने योग्य है, यह करने योग्य नहीं, इस व्यवस्था में (ते, शास्त्रं, प्रमाणं) तुम्हारे लिये शास्त्र प्रमाण है (तस्मात्) इसलिये (शास्त्रविधानोक्तं) शास्त्र की विधि से कथन किया हुआ कर्म (इह) इस संसार में (कर्त्तुं, अर्हसि) तुम्हारे करने योग्य है ॥

भाष्य—इस श्लोक में अर्जुन की वृत्तियों को सब ओर से हटाकर कृष्णजी एकमात्र वैदिक पथ पर लेआये हैं अर्थात् वेदाज्ञा को सर्वोपरि कथन करते हुए एकमात्र उसी को कल्याण का मार्ग बतलाया गया है जो प्रत्येक पुरुष को उपादेय है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये, दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः

अथ सप्तदशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सङ्गति—पूर्व १६वें अध्याय में दैवी और आसुरी सम्पत्ति का वर्णन कियागया, जिसमें सर्वोपरि इस बात को सिद्ध किया कि जो शास्त्रीय मर्यादा छोड़कर अपना स्वेच्छाचार करते हैं वह इस संसार में मनुष्य-जन्म के फलचतुष्टय को उपलब्ध नहीं करसक्ते, इसी प्रसंग में शास्त्रीय श्रद्धा को सर्वोपरि कथन करने और शास्त्रीय सत्वप्रधान पुरुषों के यज्ञ, दान, तप आदि सत्कर्मों को वर्णन करने के लिये इस अध्याय का आरम्भ कियाजाता है:—

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजंते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

पद०—ये । शास्त्रविधिं । उत्सृज्य । यजन्ते । श्रद्धया । अन्विताः । तेषां । निष्ठा । तु । का । कृष्ण । सत्त्वं । आहो । रजः । तमः ॥

पदा०—हे कृष्ण ! (ये) जो लोग (शास्त्रविधिं) शास्त्र की आज्ञा को (उत्सृज्य) छोड़कर (श्रद्धया, अन्विताः) श्रद्धापूर्वक (यजन्ते) उपा-

सनारूप कर्म करते हैं (तेषां) उनकी (सत्त्वं) सात्त्विकी (रजः) राजसी (आहो) अथवा (तमः) तामसी (का, निष्ठा) कैसी श्रद्धा है ? " तु " शब्द यहां पक्षान्तर के लिये आया है ॥

भाष्य-इस श्लोक का आशय यह है कि जो लोग असुर नहीं और शास्त्रविधि को छोड़कर श्रद्धापूर्वक अपने उपास्यदेव की उपासना करते हैं उनकी श्रद्धा तीनो गुणों में से किस गुणवाली कही जायगी ? इस पक्ष में "तु" शब्द है, इसका कृष्णजी यह उत्तर देते हैं किः—

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

पद०-त्रिविधा । भवति । श्रद्धा । देहिनां । सा । स्वभावजा । सात्त्विकी । राजसी । च । एव । तामसी । च । इति । तां । शृणु ॥

पदा०-(देहिनां, श्रद्धा, त्रिविधा, भवति) मनुष्यों की श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी, तामसी तीन प्रकार की होती है (सा, स्वभावजा) और वह अपने स्वाभाविक सात्त्विकादि गुणों से उत्पन्न होती है (तां) उसको (शृणु) सुन ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

पद०-सत्वानुरूपा । सर्वस्य । श्रद्धा । भवति । भारत । श्रद्धामयः । अयं । पुरुषः । यः । यच्छ्रद्धः । सः । एव । सः ॥

पदा०-हे भारत ! (सर्वस्य) सब प्राणियों की (सत्त्वानुरूपा, श्रद्धा, भवति) अपने अन्तःकरण के अनुकूल ही श्रद्धा होती है (अयं, पुरुषः, श्रद्धामयः) यह पुरुष श्रद्धा वाला है (यः) जो पुरुष (यच्छ्रद्धः) जैसी श्रद्धा वाला होता है (सः, एव, सः) वह वैसा ही होता है ॥

भाष्य-इस श्लोक में यह भाव स्पष्ट करदिया कि पूर्वकृत् कर्मों की वासना से जैसा अन्तःकरण बनता है वैसी ही श्रद्धा होती है, शास्त्रीय मनुष्य शास्त्रजन्य विवेक से रजोगुण तथा तमोगुण का तिरस्कार करके सत्त्वप्रधान होजाते हैं, इसलिये उनकी श्रद्धा सात्त्विकी होती है, और

राजस, तामस लोग जप तपादि साधनविहीन होने से अपनी राजसी, तामसी श्रद्धा का परिवर्त्तन नहीं करसक्ते, इसलिये वह राजसी और तामसी श्रद्धा वाले होते हैं, जैसाकि—

यजंते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजंते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

पद०—यजन्ते । सात्त्विकाः । देवान् । यक्षरक्षांसि । राजसाः । प्रेतान् । भूतगणान् । च । अन्ये । यजन्ते । तामसाः । जनाः ।

पदा०—(सात्त्विकाः, देवान्, यजन्ते) सात्विक लोग देव=विद्वानों का सत्कार करते (राजसाः) राजस लोग (यक्षरक्षांसि) यक्ष=बल से प्रतिष्ठित, रक्षांसि=पापी लोगों का सत्कार करते (अन्ये, तामसाः, जना) और अन्य तामस लोग (भूतगणान्) अग्न्यादि भूत पदार्थों (च) और (प्रेतान्) मृत लोगों की (यजन्ते) पूजा करते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में राजस लोगों के पूज्य यक्ष, राक्षस इस अभिप्राय से कथन किये गये हैं कि वह अपने राजसभाव के मद से यक्ष, राक्षसों को ही पूज्य समझते हैं सत्त्वप्रधान विद्वान् देवों का उनको विवेक नहीं होता ॥

ननु—गी० १० । २३ में यक्ष के अर्थ "देव" किये हैं और यहां ओर किये हैं, यह परस्पर विरोध क्यों ? उत्तर—वहां "यक्ष" शब्द मनुष्य जाति को देवासुर विभाग में बांट देने के लिये आया था इसलिये राक्षसों की अपेक्षा पूज्य होने से वहां यक्ष शब्द के अर्थ देव किये और यहां सात्त्विक लोगों के पूज्य होने के अभिप्राय से देव, यक्ष, राक्षसादि, भिन्न२ भावों वाले पुरुषों का वर्णन किया गया है, इसलिये "देव" शब्द के अर्थ यहां विद्वान् और "यक्ष" शब्द के अर्थ केवल बल से प्रतिष्ठित शारीरक बलधारी के हैं, जिसप्रकार यक्ष शब्द के अर्थ केनोपनिषद् में ईश्वरविषयक हैं और पौराणिक परिभाषा में भूत आदि योनियों के मानेजाते हैं, इसी प्रकार यहां भी प्रकरण भेद से अर्थ भिन्न हैं, इसलिये कोई दोष नहीं, पौराणिक टीकाकारों ने यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत यहां योनिविशेष मानी हैं, वह लोग यह मानते हैं कि वायुमय देहविशेष को प्राप्त होकर जो अग्न्याकार मुखों वाले हैं वह "प्रेत" हैं, एवं कई एक प्रकार के अलौकिक, भयानक

शरीरधारी भूतों को वह लोग यक्ष, राक्षस मानते हैं, उनकी यह कल्पना गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि गी० १६ । ६ में दो प्रकार के मनुष्यों की सृष्टि के भीतर देव और असुरों को गिना है, इससे पाया जाता है कि गीता के कर्त्ता महर्षि व्यास के मत में भूत, प्रेत, पिशाचादि कोई योनिविशेष नहीं ॥

सं०-ननु, तामस भावों वाले लोग भी कई प्रकार के तपस्वी देखे जाते हैं फिर उनकी श्रद्धा तामसी कैसे रही ? उत्तरः—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

पद०-अशास्त्रविहितं । घोरं । तप्यन्ते । ये । तपः । जनाः । दम्भाहंकारसंयुक्ताः । कामरागबलान्विताः ॥

पदा०-(अशास्त्रविहितं) जिसका वेद ने विधान नहीं किया और जो (घोरं) अत्यन्त पीड़ा देने वाला है (ये, जनाः) जो पुरुष (तपः, तप्यन्ते) ऐसा तप करते हैं (दम्भाहंकारसंयुक्ताः) वह दम्भ तथा अहंकार से संयुक्त और (कामरागबलान्विताः) काम = शब्दस्पर्शादि विषय, राग = उनकी कामना तथा बल = उनमें आग्रह, इन तीनों से अन्विताः = युक्त हैं, फिर वह कैसे हैं:—

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

पद०-कर्षयन्तः । शरीरस्थं । भूतग्रामं । अचेतसः । मां । च । एव । अन्तः । शरीरस्थं । तान् । विद्धि । आसुरनिश्चयान् ॥

पदा०-(शरीरस्थं) उनके शरीर में स्थिर (भूतग्रामं) जो भूतों का समुदाय है, उसको (कर्षयन्तः) क्षीण करते हैं (अचेतसः) अज्ञानी हैं (अन्तः, शरीरस्थं, मां, च) और उनके शरीर में व्यापकरूप से जो परमात्मा स्थिर है उसको भी अपनी अज्ञानता से दूषित करते हैं (तान्) उनको (आसुरनिश्चयान्, विद्धि) असुरों के निश्चय वाले जानो ॥

भाष्य-पांचवें श्लोक में जो शास्त्र शब्द आया है उसके अर्थ मधुसूदन स्वामी भी वेद ही करते हैं कि जो वैदिक आज्ञा से विरुद्ध तप करते हैं वह

असुरों के निश्चय वाले हैं और उक्त श्लोक में जो कृष्णजी ने असमच्छब्द से उनके शरीरों में परमात्मा के व्यापकभाव को उनके दोषों से दूषित बतलाया है उसके अर्थ यह हैं कि वे परमात्मा के व्याप्यव्यापकभाव को जानकर भी काम, रागादि पापपिशाचों से नहीं भागते अर्थात् "ईशावास्य- मिदꣳसर्वं" यजु ४० । १, इत्यादि वैदिक मंत्रों को लक्ष्य रखकर वह परधनापहरणादि दोषों से दूर नहीं होते, इस अभिप्राय से उनको ईश्वरी- यभाव से द्वेष करने वाला कहा गया है ॥

सं०—अब सात्विक,राजस,तामस लोगों की पहचान के चिन्हभूत आहार, यज्ञ, तप, दान इन चार पदार्थों को वर्णन करते हैं:—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

पद०—आहारः । तु । अपि । सर्वस्य । त्रिविधः । भवति । प्रियः । यज्ञः । तपः । तथा । दानं । तेषां । भेदं । इमं । शृणु ॥

पदा०- (आहारः, तु, अपि,सर्वस्य) सब लोगों को भोजन भी (त्रिविधः, प्रियः, भवति) तीन प्रकार का प्यारा होता है और इसी प्रकार यज्ञ, दान, तप ये भी तीन२ प्रकार के होते हैं (तेषां) उनके (इमं,भेदं) इस भेद को (शृणु) सुन ॥

आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥८॥

पद०—आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः । रस्याः । स्निग्धाः । स्थिराः । हृद्याः । आहाराः । सात्विकप्रियाः ॥

पदा०—(आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः) आयु = उमर, सत्व = उत्साह, बल = शरीर का सामर्थ्य, आरोग्य = रोगों का न होना, सुख = चित्त की प्रसन्नता, प्रीति = रुचि, विवर्धना = इनको बढ़ाने वाले (आहाराः) भोजन (सात्विकप्रियाः) सात्विक लोगों को प्यारे होते हैं जो (रस्याः) रसों वाले (स्निग्धाः)चिकने (स्थिराः) चिरस्थायी फल वाले (हृद्याः)हृदय को प्रसन्न रखने वाले अर्थात् दुर्गन्धादि दोषों से रहित होते हैं॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

पद०—कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः । आहाराः । राजसस्य । इष्टा । दुःखशोकामयप्रदाः ॥

पदा०—(कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः) कटु=अति कड़वे, अम्ल=आंवले के रस समान रसवाले, लवण=अतिखारे, उष्ण= अति गरम, तीक्ष्ण= मिरचादि, रूक्ष= चिकनेपन से रहित, विदाहिन= दाह उत्पन्न करनेवाले (आहाराः) भोजन (राजसस्य) रजोगुण प्रधान पुरुषों को (इष्टा) प्यारे होते हैं, जो (दुःखशोकामयप्रदाः) दुःख= तत्काल दुःख, शोक= पीछे से पश्चात्ताप, आमय=राजयक्ष्मादि रोगों के प्रदा= उत्पन्न करनेवाले हैं ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

पद०—यातयामं । गतरसं । पूति । पर्युषितं । च । यत् । उच्छिष्टं । अपि । च । अमेध्यं । भोजनं । तामसप्रियं ॥

पदा०—(यातयामं) जो शीतल होगया हो (गतरसं) जिसका रस निकल गया हो, जैसे मक्खन निकाले हुए दुग्धादि (पूति) दुर्गन्धि वाला (पर्युषितं,च,यत्) जो बहुत वासा होगया हो (उच्छिष्टं) जो जूठा हो (च) और (अमेध्यं) अपवित्र हो, इस प्रकार का (भोजनं) भोजन (तामसप्रियं) तामस लोगों को प्रिय होता है ॥

सं०—यह तीन प्रकार के भोजन कथन करने के अनन्तर अब सात्विकादि भेद से यज्ञों को तीन प्रकार का कथन करते हैं:—

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

पद०—अफलाकांक्षिभिः । यज्ञः । विधिदृष्टः । यः । इज्यते । यष्टव्यं । एव । इति । मनः । समाधाय । सः । सात्विकः ॥

पदा०—(यः, यज्ञः) जो यज्ञ (विधिदृष्टः) शास्त्रविहित हो (यष्टव्यं, एव, इति, मनः, समाधाय) वह अवश्य करना चाहिये, ऐसा मन का संकल्प

करके (अफलाकांक्षिभिः) निष्कामकर्मी लोगों से (इज्यते) किया जाता है (सः, सात्विकः) वह सात्विक होता है ॥

अभिसंधाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

पद०—अभिसंधाय । तु । फलं । दंभार्थं । अपि । च । एव । यत् । इज्यते । भरतश्रेष्ठ । तं । यज्ञं । विद्धि । राजसं ॥

पदा०—(भरतश्रेष्ठ) हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! (अभिसंधाय, तु, फलं) फल की इच्छा करके (इज्यते) जो यज्ञ किया जाता है (तं, यज्ञं) उस यज्ञ को (राजसं, विद्धि) राजस जानो (च) और (दंभार्थं) दिखाने के लिये जो यज्ञ किया जाता है उसको (अपि) भी राजस समझो ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

पद०—विधिहीनं । असृष्टान्नं । मन्त्रहीनं । अदक्षिणं । श्रद्धाविरहितं । यज्ञं । तामसं । परिचक्षते ॥

पदा०—(विधिहीनं) जिसका वेदादि शास्त्रों में विधान न हो (असृष्टान्नं) जिस यज्ञ में पात्रों को अन्नादि दान न दिया जाता हो (मन्त्रहीनं) मन्त्रों से हीन हो अर्थात् जो वैदिक मन्त्रों से न किया जाता हो (अदक्षिणं) जिसमें विद्वानों को दक्षिणा न दीजाती हो (श्रद्धाविरहितं) जो श्रद्धा के रहित हो (यज्ञं, तामसं, परिचक्षते) ऐसे यज्ञ को तामस कहते हैं ॥

सं०—अब तप तीन प्रकार का कथन करते हैं:—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

पद०—देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं । शौचं । आर्जवं । ब्रह्मचर्य्य । अहिंसा । च । शारीरं । तपः । उच्यते ॥

पदा०—(देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं) देव=परमात्मा का पूजन, द्विज= ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, इस वर्णत्रय का सत्कार, गुरु=आचार्य्य और प्राज्ञ=विद्वान् इनका पूजन (शौचं) पवित्र रहना (आर्जवं) सरल प्रकृति

रखना (ब्रह्मचर्यं) शम, दम सम्पन्न होकर वेदाध्ययन करना (अहिंसा) किसी के प्राण वियुक्त न करना (शारीरं, तपः, उच्यते) यह शरीर का तप कहलाता है ॥

भाष्य–पौराणिक टीकाकारों ने "देव" शब्द के अर्थ यहां सूर्य्य, अग्नि, दुर्गा आदि की पूजा के किये हैं जो गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध हैं, "देव" शब्द के अर्थ "एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः" यजु० ३२ । ४ और "एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः" श्वेता० ६ । ११ इत्यादि वेदोपनिषदों के वाक्यों से यहां परमात्मा के हैं, इसलिये "देव" शब्द यहां अग्न्यादिकों का वाचक नहीं ॥

ननु–तुम्हारे मत में "देव" शब्द सूर्य्यादिकों का भी वाचक है फिर उसके सूर्य्यादि अर्थ यहां क्यों नहीं लिये जाते ? उत्तर–देवपूजा से जड़ पदार्थों की पूजा वैदिकमत में कहीं भी नहीं मानी गई, हां आचार्य्यादिकों की पूजा भी देवपूजा कहलाती है सो आचार्य्यादिकों का यहां "गुरु" शब्द द्वारा पृथक् ग्रहण है, इसलिये "देव" शब्द के अर्थ यहां आचार्य्यादिकों के नहीं, और "प्राज्ञ" शब्द से यहां विद्वानों का पृथक् ग्रहण है, इसलिये विद्वानों के अर्थ में भी यहां "देव" शब्द नहीं आया, अतएव योग्यता के बल से "देव" शब्द के अर्थ यहां परमात्मा के ही होते हैं, इसलिये यह शब्द अनेकार्थवाची होने पर भी यहां ईश्वरार्थवाची होने में कोई दोष नहीं ॥

ननु–पूजा तो तुम्हारे मत में परमात्मा की ही होसक्ती है फिर और देहधारियों को पूज्य क्यों कहा ? उत्तर—ईश्वरत्वेनभक्तिरूप पूजन हमारे मत में केवल परमात्मा का ही है और सत्काररूप पूजन इतर प्राणियों का भी होसक्ता है, इसलिये कोई दोष नहीं ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

पद०–अनुद्वेगकरं । वाक्यं । सत्यं । प्रियहितं । च । यत् । स्वाध्यायाभ्यसनं । च । एव । वाङ्मयं । तपः । उच्यते ॥

पदा०–(यत्, वाक्यं, अनुद्वेगकरं) जो वाक्य किसी को दुःख नहीं

देता (सत्यं) सत्य (प्रियहितं, च) सुनने में प्यारा और हितकर है (वाङ्मयं, तपः, उच्यते) वह वाणी का तप कहलाता है (स्वाध्यायाभ्यसनं, च, एव) वेदों का पढ़ना और अभ्यास करना भी वाणी का तप है ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

पद०—मनःप्रसादः । सौम्यत्वं । मौनं । आत्मविनिग्रहः । भावसंशुद्धिः । इति । एतत् । तपः । मानस । उच्यते ॥

पदा०—(मनःप्रसादः) मन को प्रसन्न रखना अर्थात् किसी विषय से व्याकुल न रहना (सौम्यत्वं) सबका हितैषी होना (मौनं) एकाग्रवृत्ति से परमात्मा का चिन्तन करना (आत्मविनिग्रहः) असंप्रज्ञातसमाधि द्वारा मन को सर्वथा रोक लेना (भावसंशुद्धिः) अन्तःकरण को शुद्ध रखना अर्थात् व्यवहार काल में कपट रहित होना (इति,एतत्) यह (मानसं, तपः, उच्यते) मन का तप कहाजाता है ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

पद०—श्रद्धया । परया । तप्तं । तपः । तत् । त्रिविधं । नरैः । अफलाकांक्षिभिः । युक्तैः । सात्त्विकं । परिचक्षते ॥

पदा०—(त्रिविधं, तपः) मन, वाणी तथा शरीर द्वारा जो तीन प्रकार का तप वर्णन कियागया है (परया, श्रद्धया) अत्यन्त श्रद्धा से (अफलाकांक्षिभिः, युक्तैः, नरैः, तप्तं) फल की इच्छा न करते हुए योग्य पुरुषों से किये गये तपको (सात्विकं, परिचक्षते) सात्विक कहते हैं ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

पद०—सत्कारमानपूजार्थं । तपः । दंभेन । च । एव । यत् । क्रियते । तत् । इह । प्रोक्तं । राजसं । चलं । अध्रुवं ॥

पदा०-(सत्कारमानपूजार्थं) सत्कार = अपनी स्तुति, मान = अपना सन्मान, पूजा = अपने शरीर की सेवादि, अर्थ = इन प्रयोजनों के लिये किया हुआ तप (दंभेन, च, एव, यत्, क्रियते) और जो दंभ से किया जाता है (तत्) वह तप (राजसं, इह, प्रोक्तं) राजस कहलाता है, वह कैसा है (चलं) तुच्छ फल वाला और (अध्रुवं) अदृढ़ है ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

पद०-मूढग्राहेण । आत्मनः । यत् । पीडया । क्रियते । तपः । परस्य । उत्सादनार्थं । वा । तत् । तामसं । उदाहृतं ॥

पदा०-(मूढग्राहेण, यत्, तपः, क्रियते) अपनी अविवेकता से जो तप किया जाता है और (आत्मनः) शरीर इन्द्रियादिकों को (पीडया) कष्ट देकर जो तप किया जाता है (परस्य, उत्सादनार्थं, वा) अथवा पर पुरुषों को पीड़ा देने के लिये जो तप किया जाता है (तत्, तामसं, उदाहृतं) उसको तामस तप कहते हैं ॥

सं०-अब दान के सात्विकादि भेद वर्णन करते हैं:—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशेकाले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥२०॥

पद०-दातव्यं । इति । यत् । दानं । दीयते । अनुपकारिणे । देशे । काले । च । पात्रे । च । तत् । दानं । सात्विकं । स्मृतं ॥

पदा०-(यत्, दानं, दातव्यं) जो दान देने योग्य हो (इति) इस प्रकार का निश्चय करके (अनुपकारिणे, दीयते) बिना पलटा देनेवाले मनुष्य के लिये जो दिया गया हो अर्थात् अपने भृत्यादिकों को न दिया गया हो जो उसका उपकार कर रहे हैं (तत्, दानं) ऐसा दान (देशे, काले, च, पात्रे, च) देश काल और पात्र में दिया हुआ (सात्विकं, स्मृतं, सात्विक कहाजाता है, और:—

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

पद०-यत् । तु । प्रत्युपकारार्थं । फलं । उद्दिश्य । वा । पुनः । दीयते । च । परिक्लिष्टं । तत् । दानं । राजसं । स्मृतं ॥

पदा०-(यत्, तु) जो तो (प्रत्युपकारार्थं) अपना उपकार करने के पलटे में दियागया हो (वा) अथवा (फलं, उद्दिश्य) किसी लाभ को उद्देश्य रखकर (दीयते) दियागया हो (च) और (परिक्लिष्टं) पश्चात्ताप युक्त हो अर्थात् जिसके देने से पीछे पश्चात्ताप उत्पन्न हुआ हो (तत्, दानं) वह दान (राजसं, स्मृतं) राजस कहलाता है ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

पद०-अदेशकाले । यत् । दानं । अपात्रेभ्यः । च । दीयते । असत्कृतं । अवज्ञातं । तत् । तामसं । उदाहृतं ॥

पदा०-(यत्, दानं) जो दान (अदेशकाले) अच्छे देश और अच्छे काल में न दियागया हो (अपात्रेभ्यः, च, दीयते) और अपात्रों के लिये दियागया हो (असत्कृतं) सत्कारपूर्वक न दिया गया हो (अवज्ञातं) अवज्ञापूर्वक अर्थात् " लै जा " इस प्रकार अवज्ञा करके दिया गया हो (तत्, तामसं, दानं, उदाहृतं) उसको तामस दान कहते हैं ॥

सं०-अब वेदोपनिषदों के श्रद्धालु पुरुषों के यज्ञादिकर्म जिन ईश्वरीय नामों से प्रारम्भ किये जाते हैं उन नामों का वर्णन करते हैं:—

ओंतत्सदितिनिर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

पद०-ओंतत्सत् । इति । निर्देशः । ब्रह्मणः । त्रिविधः । स्मृतः । ब्राह्मणाः । तेन । वेदाः । च । यज्ञाः । च । विहिताः । पुरा ॥

पदा०-(ब्रह्मणः) ब्रह्म = परमात्मा का (निर्देशः) नाम (ओंतत्सत्) ओइम्, तत्, सत् (इति) ये (त्रिविधः, स्मृतः) तीन प्रकार का कथन कियागया है, जिस ब्रह्म के यह तीन प्रकार के नाम हैं (तेन) उसने (पुरा) पूर्वकाल में (ब्राह्मणाः) वेदवेत्ता पुरुष (वेदाः) वेद (च) और (यज्ञाः) यज्ञ (विहिताः) बनाये ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

पद०-तस्मात् । ओं । इति । उदाहृत्य । यज्ञदानतपः क्रियाः । प्रवर्त्तन्ते । विधानोक्ताः । सततं । ब्रह्मवादिनां ॥

पदा०-(तस्मात्) इसलिये (ओं, इति, उदाहृत्य) ओंकार का उच्चारण करके (यज्ञदानतपःक्रियाः) यज्ञ, दान, तप यह क्रियायें (ब्रह्मवादिनां) वैदिक लोगों में (सततं) निरंतर (प्रवर्त्तन्ते) प्रवृत्त होती हैं, वह यज्ञादि क्रिया कैसी हैं (विधानोक्ताः) जो वैदिक हैं ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियंते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥

पद०-तत् । इति । अनभिसंधाय । फलं । यज्ञतपःक्रियाः।दानक्रियाः। च । विविधाः । क्रियन्ते । मोक्षकांक्षिभिः ॥

पदा०-हे अर्जुन ! (मोक्षकांक्षिभिः) मोक्ष की आकांक्षा वाले (फलं, अनभिसंधाय) फल की इच्छा न करके (यज्ञतपःक्रियाः) यज्ञ तप की क्रिया (दानक्रियाः, च विविधाः) और दान की नाना प्रकार की क्रियायें (तत्, इति) "तत्" शब्द का उच्चारण करके करते हैं ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

पद०-सद्भावे । साधुभावे । च । सत् । इति । एतत् । प्रयुज्यते । प्रशस्ते । कर्मणि । तथा । सच्छब्दः । पार्थ । युज्यते ॥

पदा०-हे पार्थ ! (सद्भावे) सत्य (च) और (साधुभावे) साधुभाव में (सत्, इति, एतत्) "सत्" शब्द का (प्रयुज्यते) प्रयोग किया जाता है (तथा) इसी प्रकार (प्रशस्ते, कर्मणि) मंगलकार्यों में (सच्छब्दः, युज्यते) "सत्" शब्द का प्रयोग होता है ॥

भाष्य-इस श्लोक का भाव यह है कि "तद्विष्णोःपरमंपदं" और "यत्तत्पदमनुत्तमम्"इत्यादि वाक्यों में ब्रह्मवाची "तत्" शब्द का कथन करके परमात्माके ज्ञानरूपी यज्ञ का कथन कियागयाहै,"सदेवसोम्येदमग्रआ-

सीत्" इस वाक्य में "सच्छब्द" से परमात्मा रूपी यज्ञ का वर्णन किया है, और "ओं" शब्द तो प्रायः वैदिक मन्त्रों में आता ही है, इसलिये इसके उदाहरण की आवश्यकता नहीं, और जो यहां मायावादियों ने "तत्" शब्द के प्रयोगार्थ "तत्त्वमसि" लिखा है सो ठीक नहीं, क्योंकि तत्त्वमसि में "तत्" शब्द जीव के लिये आया है ब्रह्म के लिये नहीं, यदि "तत्" शब्द सर्वत्र ब्रह्म के लिये ही आता तो "तस्यतावदेवचिरं" छा० ६।१४।२ "तत् किंकर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव" गी० ३ । १ "तस्यकार्य्यं न विद्यते" गी० ३ । १७ "तस्मात् युद्धयस्व भारत" गी० २ । १ इत्यादि स्थलों में "तत्" शब्द का प्रयोग ब्रह्म में क्यों नहीं अर्थात् इन स्थलों में "तत्" शब्द अन्यार्थवाची क्यों है ? ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

पद०—यज्ञे । तपसि । दाने । च । स्थितिः । सत् । इति । च । उच्यते । कर्म । च । एव । तदर्थीयं । सत् । इति । एव । अभिधीयते ॥

पदा०—(यज्ञे) यज्ञ (तपसि) तप (च) और (दाने) दान में (स्थितिः) जो निष्ठा है (सत्, इति, च, उच्यते) वह "सत्" शब्द से कही जाती है (कर्म, च, एव, तदर्थीयं) अथवा यज्ञ, दान और तप के लिये जो कर्म किया जाता है (सत्, इति, एव, अभिधीयते) उसको भी "सत्" कहते हैं ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

पद०—अश्रद्धया । हुतं । दत्तं । तपः । तप्तं । कृतं । च । यत् । असत् । इति । उच्यते । पार्थ । न । च । तत् । प्रेत्य । नः । इह ॥

पदा०—हे पार्थ ! (अश्रद्धया, हुतं) अश्रद्धा से हवन किया हुआ (दत्तं) दान दिया हुआ (तपः, तप्तं) तप किया हुआ (कृतं, च, यत्) और जो कुछ कर्म अश्रद्धा से किया जाता है (असत्, इति,

उच्यते) उसको " असत् " कहते हैं (तत्) वह कर्म (न, च, प्रेत्य) न परलोक में (न, इह) न इस लोक में फलता है ॥

भाष्य-जिस प्रकार " सत् " शब्द का प्रयोग ब्रह्म में भी आता और अन्य सत् पदार्थों में भी आता है, इसी प्रकार " तत् " शब्द का प्रयोग भी ब्रह्म और इतर पदार्थों में आता है, इसलिये मायावादियों के तत्त्वमसि और तत्वदर्शी इत्यादि वाक्यों में ब्रह्मविषयक ही " तत् " शब्द का आग्रह करना सर्वथा निर्मूल है, महर्षिव्यास का तो इस नामत्रय से तात्पर्य्य यह है कि प्रायः वैदिक लोगों में शुभ कामों के प्रारम्भ में और सदसद्वस्तुविवेक में उक्त नाम ब्रह्म विषयक आते हैं और यों संज्ञामात्र से कोई अपने पुत्र अथवा अक्षर का नाम " ओं० तत्सत् " रखले तो क्या उसका बोध नहीं होता, इससे सार यह निकला कि इस श्रद्धात्रयविभागयोगनामाध्याय में वैदिक श्रद्धालु पुरुषों के कर्मों में " सत् " आदि सच्छब्दवाच्य ब्रह्म की सत्ता होने से उनके कर्म " सत् " होते हैं ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्ये, श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः

अथ अष्टादशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सङ्गति-सम्पूर्ण गीताशास्त्र के उपसंहाररूप इस अध्याय में संन्यास तथा त्याग का तत्व और वर्णचतुष्टय के धर्मों का प्रतिपादन करके "मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति" गी० १८। ५९ इत्यादि श्लोकों में वर्णित मुख्य प्रयोजन युद्धरूप अर्थ का निगमन किया गया अर्थात् मनुष्य जन्म के धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूप फलचतुष्टय को वर्णन करके अब इसके आदि मूल क्षात्रधर्म में गीताशास्त्र का उपसंहार करते हैं:—

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिसूदन ॥ १ ॥

पद०-संन्यासस्य । महाबाहो । तत्वं । इच्छामि । वेदितुं । त्यागस्य । च । हृषीकेश । पृथक् । केशिनिसूदन ॥

पदा०-(महाबाहो) हे विशाल भुजाओं वाले (हृषीकेश) हे इन्द्रियों के ईश्वर (केशिनिसूदन) हे केशी दैत्य के मारने वाले कृष्ण ! (संन्यासस्य, तत्वं) संन्यास के तत्व को (च) तथा (त्यागस्य, तत्वं) त्याग के तत्व को (पृथक्) भिन्न २ (वेदितुं, इच्छामि) जानने की इच्छा करता हूं ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

पद०-काम्यानां । कर्मणां । न्यासं । संन्यासं । कवयः । विदुः । सर्वकर्मफलत्यागं । प्राहुः । त्यागं । विचक्षणाः ॥

पदा०-(कवयः) संन्यास के तत्व को जानने वाले पुरुष (काम्यानां, कर्मणां) काम्यकर्मों के (न्यासं) त्याग को (संन्यासं, विदुः) संन्यास कहते हैं और (विचक्षणाः) बुद्धिमान् लोग (सर्वकर्मफलत्यागं) सब कर्मों के फलत्याग को (त्यागं, प्राहुः) त्याग कहते हैं ॥

भाष्य-मिथ्या विश्वास से सकाम कर्म करने का नाम " काम्य कर्म " और उन काम्यकर्मों के त्याग का नाम यहां "संन्यास" है, और कर्ममात्र को निष्काम करने का नाम "त्याग" है, इस प्रकार त्याग और संन्यास का भेद है, इस कथन से यह स्पष्ट होगया कि वैदिक यज्ञादि कर्मों के त्याग को जो आधुनिक लोग संन्यास कहते हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि वैदिककर्मों का त्याग किसी आर्ष ग्रन्थ में कथन नहीं कियागया, इसीलिये ७ वें श्लोक में यह कहा है कि "नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते"=नियत वेदविहित कर्मों का त्याग नहीं होसक्ता ॥

सं०—अब कृष्णजी यज्ञादि कर्मों के त्याग में पूर्वपक्ष द्वारा मतभेद दिखलाकर स्वयं सिद्धान्त कथन करते हैं:—

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

पद०—त्याज्यं। दोषवत्। इति। एके। कर्म। प्राहुः। मनीषिणः। यज्ञदानतपःकर्म। न। त्याज्यं। इति। च। अपरे ॥

पदा०—(एके, मनीषिणः) कई एक मननशील पुरुष (दोषवत्, कर्म) दोष वाले कर्मों को (त्याज्यं) त्यागने योग्य (प्राहुः) कथन करते हैं, और (यज्ञदानतपःकर्म) यज्ञ, दान, तप, इन कर्मों को (न, त्याज्यं) नहीं त्यागना चाहिये (इति, च) इस बात को (अपरे, प्राहुः) और लोग कहते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह कथन किया है कि प्रवृत्तिरूप दोष से यज्ञादि कर्म भी दोष वाले ही हैं अर्थात् उनके करने में भी बड़ा आडम्बर करना पड़ता है, इसलिये यज्ञादिकर्म भी नहीं करने चाहियें और कई एक लोग यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप इनकर्मो को कदापि नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि यह कर्म मनुष्य को पवित्र करने वाले हैं, इस विषय में कृष्णजी अपना निश्चय कथन करते हैं कि:—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्त्तितः ॥ ४ ॥

पद०—निश्चयं। शृणु। मे। तत्र। त्यागे। भरतसत्तम। त्यागः। हि। पुरुषव्याघ्र। त्रिविधः। संप्रकीर्त्तितः ॥

पदा०—(भरतसत्तम) हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन! (तत्र, त्यागे) पूर्वोक्त त्याग के विषय में (मे, निश्चयं, शृणु) मेरे निश्चय को सुन (पुरुषव्याघ्र) हे सब पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन! (हि) निश्चयकरके (त्यागः) त्याग (त्रिविधः, संप्रकीर्त्तितः) तीन प्रकार का कथन किया गया है ॥

सं०—अब सात्विक, राजस, तामस, भेद से त्याग तीन प्रकार का वर्णन करते हुए इनमें से प्रथम तामस त्याग का स्वरूप

दिखलाने के लिये कृष्णजी यज्ञादि कर्मों की अवश्यकर्त्तव्यता कथन करते हैं:—

यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

पद०—यज्ञः । दानं । तपः । कर्म । न । त्याज्यं । कार्यं । एव । तत् । यज्ञः । दानं । तपः । च । एव । पावनानि । मनीषिणां ॥

पदा०—(यज्ञः, दानं, तपः, कर्म) यज्ञ, दान और तप रूप कर्मों का (न, त्याज्यं) त्याग योग्य नहीं (तत्, कार्य्यं एव) यह करने ही चाहियें, क्योंकि (यज्ञः) यज्ञ (दानं) दान (तपः, च, एव) और तप (मनीषिणां) मनुष्यों को (पावनानि) पवित्र करते हैं ॥

सं०—ननु, जब यह यज्ञादिकर्म अवश्य कर्तव्य हैं तो इनको यदि कोई फल की इच्छा करके भी करे तो क्या दोष ? उत्तरः—

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

पद०—एतानि । अपि । तु । कर्माणि । संगं । त्यक्त्वा । फलानि । च । कर्तव्यानि । इति । मे । पार्थ । निश्चितं । मतं । उत्तमं ॥

पदा०—(एतानि, अपि, तु, कर्माणि) निश्चय करके यह कर्म भी (संगं, त्यक्त्वा) संग को छोड़कर (फलानि, च) और फल को छोड़कर (कर्त्तव्यानि) करने योग्य हैं (इति, मे) यह मेरा (निश्चितं) निश्चय किया हुआ (उत्तमं, मतं) उत्तम मत है ॥

सं०—अब उक्त वैदिककर्मों के त्याग को तामस कथन करते हैं:—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥ ७ ॥

पद०—नियतस्य । तु । संन्यासः । कर्मणः । न । उपपद्यते । मोहात् । तस्य । परित्यागः । तामसः । परिकीर्त्तितः ॥

पदा०—(नियतस्य, तु, कर्मणः) नियत वैदिककर्मों का (संन्यासः) त्याग (न, उपपद्यते) नहीं होसक्ता (मोहात्) मोह से (तस्य, परि-

त्यागः) उक्त यज्ञादि कर्मों का त्याग (तामसः, परिकीर्त्तितः) तामस कथन कियागया है ॥

भाष्य—प्रथम तो यज्ञादि कर्मों का त्याग हो नहीं सक्ता, क्योंकि "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः" यजु० ४० । २ इत्यादि मन्त्रों द्वारा यह कर्म मनुष्य के लिये नियत किये गये हैं, यदि कोई मोह = अज्ञान से इनका त्याग करदे तो वह त्याग "तामस" कहलायेगा ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

पद०—दुखं । इति । एव । यत् । कर्म । कायक्लेशभयात् । त्यजेत् । सः । कृत्वा । राजसं । त्यागं । न । एव । त्यागफलं । लभेत् ॥

पदा०—(कायक्लेशभयात्) शरीर के परिश्रमरूप क्लेश के भय से (यत्, कर्म) जो कर्म हैं वह सब (दुःखं, एव) दुख ही है (इति) ऐसा जानकर (त्यजेत्) छोड़दे तो (सः) वह पुरुष (राजसं, त्यागं) राजस त्याग को (कृत्वा) करके (एव) कभी भी (त्यागफलं) त्याग के फल को (न, लभेत्) नहीं पावेगा ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ॥ ९ ॥

पद०—कार्यं । इति । एव । यत् । कर्म । नियतं । क्रियते । अर्जुन । संगं । त्यक्त्वा । फलं । च । एव । सः । त्यागः । सात्विकः । मतः ॥

पदा०—हे अर्जुन ! (यत्, कर्म) जो कर्म (संगं, त्यक्त्वा) संग को छोड़कर (च) और (फलं, एव) फल की इच्छा छोड़कर (कार्यं, इति, एव) अवश्य कर्त्तव्य समझकर (नियतं, क्रियते) नियमपूर्वक किया जाता है (सः, त्यागः) वह त्याग (सात्विकः, मतः) सात्विक मानागया है ॥

सं०—ननु, कर्म करता हुआ संग से रहित कैसे होसक्ता है ? उत्तरः—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

पद०-न । द्वेष्टि । अकुशलं । कर्म । कुशले । न । अनुषज्जते । त्यागी । सत्वसमाविष्टः । मेधावी । छिन्नसंशयः ॥

पदा०-(अकुशलं, कर्म) जो अशुभ कर्मों में (न, द्वेष्टि) द्वेष नहीं करता और (कुशले) शुभकर्मों में (न, अनुषज्जते) अत्यन्त रागी नहीं होता (मेधावी) बुद्धिमान् पुरुष (सत्वसमाविष्टः) जो सत्व गुण प्रधान है (त्यागी) ऐसा त्याग करने वाला (छिन्नसंशयः) सब संशयों से रहित होजाता है ॥

भाष्य-इस श्लोक में यह कथन किया है कि वह पुरुष कर्म करता हुआ भी असङ्ग होसक्ता है जो निन्दितकर्मों की सदैव निन्दा ही नहीं करता और शुभकर्मों में ऐसा रागवाला नहीं होजाता कि उन्हीं में फसा रहे, ऐसा पुरुष कर्म करता हुआ भी कर्मों के सङ्ग से रहित होसक्ता है ॥

सं०—ननु, संन्यासधर्म में तो सब कर्मों के त्याग का कथन किया गया है फिर तुम कैसे कहते हो कि कर्म करता हुआ भी त्यागी होसक्ता है ? उत्तरः—

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

पद०-न । हि । देहभृता । शक्यं । त्यक्तुं । कर्माणि । अशेषतः । यः । तु । कर्मफलत्यागी । सः । त्यागी । इति । अभिधीयते ॥

पदा०-(हि) निश्चयकरके (देहभृता) देहधारी पुरुष से (अशेषतः, कर्माणि) सम्पूर्ण कर्म (त्यक्तुं, न, शक्यं) त्यागे नहीं जासक्ते, इसलिये (यः) जो (कर्मफलत्यागी) कर्म के फल को त्यागता है (सः, त्यागी) वह त्यागी (इति, अभिधीयते) कथन किया जाता है ॥

भाष्य-इन श्लोकों में यह स्पष्ट सिद्ध करदिया कि कोई देहधारी ऐसा त्यागी नहीं होसक्ता जो सब कर्मों को त्यागदे, त्याग इतने ही अंश में कहलाता है कि जो पुरुष निष्कामकर्म करता और उन कर्मों के संग में निमग्न नहीं होता वह त्यागी कहलाता है, इन दोनों श्लोकों को मायावादियों ने अपने मत में इस प्रकार लगाया है कि " मैं ब्रह्म हूं " इस भाव से जिसके संशय दूर होगये हैं उसको " छिन्नसंशय " कहते हैं, और

"देहभृत" के अर्थ इन्होंने यह किये हैं कि जिसने अज्ञान से देहधारण किया है वह सब कर्मों को नहीं छोड़सक्ता और जिसको ज्ञान होजाता है वह सब कर्मों को छोड़सक्ता है, ग्रन्थकर्त्ता महर्षिव्यास का भाव यहां छिन्नसंशय से अहंब्रह्मास्मि और देहभृत से अविद्या द्वारा अपने आपको कर्त्ता भोक्ता मानकर जो देह धारण कर रहा है उसके नहीं किन्तु देहभृत के अर्थ भौतिक शरीरधारी के हैं, और जो कल्पित शरीरधारी के अर्थ करके इस श्लोक को अज्ञानी पुरुष विषयक लगाया है कि अज्ञानी पुरुष सब कर्मों को नहीं छोड़सक्ता और ज्ञानी छोड़सक्ता है, यह व्याख्यान गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि यदि गीता में यह आशय होता कि अज्ञान से मैं ब्राह्मण हूं, मैं क्षत्रिय हूं, इत्यादि अभिमान से देहभृत के अर्थ देहधारी के होते तो निम्नलिखित श्लोकों में सकामकर्मियों को तीन प्रकार के कर्म का फल कथन न किया जाता, जैसाकिः—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

पद०—अनिष्टं । इष्टं । मिश्रं । च । त्रिविधं । कर्मणः । फलं । भवति । अत्यागिनां । प्रेत्य । न । तु । संन्यासिनां । क्वचित् ॥

पदा०—(अनिष्टं) प्रतिकूल (इष्टं) अनुकूल (मिश्रं) दोनों प्रकार का मिला हुआ (त्रिविधं, कर्मणः, फलं) यह तीन प्रकार का कर्मफल (प्रेत्य) मरने के अनन्तर (अत्यागिनां) सकाम कर्मियों को (भवति) होता है (संन्यासिनां) संन्यासियों को (क्वचित्) कभी (न, तु) नहीं होता ॥

भाष्य—यहां संन्यासी के अर्थ निष्कामकर्मी के हैं, जैसाकि "स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः" गी० ६ । १ में निरूपण किया है कि जो कर्म के फल की इच्छा छोड़कर कर्म करता है वही संन्यासी और वही योगी है, अन्य कोई कर्मों के न करने वाला संन्यासी नहीं कहलासक्ता ॥

सं०—जिस प्रकार निष्कामकर्मी को कर्म बन्धन का हेतु नहीं होते वह प्रकार नीचे के चार श्लोकों द्वारा वर्णन करते हैं:—

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

पद०—पंच । एतानि । महाबाहो । कारणानि । निबोध । मे । सांख्ये । कृतान्ते । प्रोक्तानि । सिद्धये । सर्वकर्मणाम् ॥

पदा०—हे महाबाहो ! (सर्वकर्मणां, सिद्धये) सब कर्मों की सिद्धि के लिये (एतानि) यह (पञ्च, कारणानि) पांच कारण (मे, निबोध) मेरे से सुन, जो (सांख्ये) ज्ञानप्रधान शास्त्र में (प्रोक्तानि) कथन किये गये हैं, वह शास्त्र कैसा है (कृतान्ते) जिसमें सत्यासत्य पदार्थों का अन्त = निर्णय किया गया है ॥

सं०—अब उक्त पांच कारणों का कथन करते हैं:—

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥१४॥

पद०—अधिष्ठानं । तथा । कर्त्ता । करणं । च । पृथग्विधं । विविधाः । च । पृथक् । चेष्टाः । दैवं । च । एव । अत्र । पंचमं ॥

पदा०—(अधिष्ठानं) शरीर (कर्त्ता) शरीर के साथ सम्बन्ध रखने वाला जीव (करणं, च, पृथग्विधं) भिन्न २ प्रकार के इन्द्रियरूप करण (विविधाः, च, पृथक्, चेष्टाः) अन्य कई प्रकार से पूर्वकृत कर्म (च) और (दैवं, एव, अत्र, पंचमं) पांचवां परमात्मा, यह पांच कर्म के कारण हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह कथन किया है कि जो२ कर्म किये जाते हैं उनका कर्त्ता केवल जीव ही नहीं किन्तु शरीर, इन्द्रिय, प्रारब्ध कर्म, जीव और परमात्मा, यह पांच कारण कर्मों के करने में होते हैं, कर्म विषय में यह पांच कारण इस अभिप्राय से प्रतिपादन किये हैं कि आगे १७ वें श्लोक में जाकर यह वर्णन करना है कि जो कर्मों के उक्त पांच हेतुओं को जानता है उसको कर्म करने में अहङ्कार का भाव नहीं होता और अहङ्कार का भाव न होने से वह उस कर्म में लम्पट नहीं होता, इस लिये वह कर्म के बन्धन में भी नहीं आता, जैसाकि "न कर्म लिप्यते नरे" यजु० ४० । २ में वर्णन किया है कि अहङ्कार के भाव को छोड़कर जो

निष्कामता से कर्म करता है वह अशुभ कर्म के बन्धन में नहीं आता, इसी भाव को वर्णन करने के लिये नीचे के श्लोकों में केवल जीव को कर्त्ता नहीं माना ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

पद०-शरीरवाङ्मनोभिः । यत् । कर्म । प्रारभते । नरः । न्याय्यं । वा । विपरीतं । वा । पंच । एते । तस्य । हेतवः ॥

पदा०-(शरीरवाङ्मनोभिः) शरीर, वाणी और मन से (नरः) पुरुष (यत्, कर्म, प्रारभते) जिस कर्म को प्रारम्भ करता है (न्याय्यं, वा, विपरीतं, वा) शुभ हो अथवा अशुभ हो (पंच, एते, तस्य, हेतवः) उस कर्म के उक्त पांच हेतु होते हैं ॥

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

पद०-तत्र । एवं । सति । कर्त्तारं । आत्मानं । केवलं । तु । यः । पश्यति । अकृतबुद्धित्वात् । न । सः । पश्यति । दुर्मतिः ॥

पदा०-(तत्र) कर्म विषय में (एवं, सति) उक्त पांचो हेतु होने पर (केवलं, आत्मानं) केवल जीवात्मा को (तु) निश्चय करके (यः) जो (कर्त्तारं) कर्त्ता (पश्यति) देखता है (अकृतबुद्धित्वात्) अज्ञानी होने से (सः, दुर्मतिः) वह मन्दबुद्धि पुरुष (न, पश्यति) ठीक नहीं देखता ॥

भाष्य—" अकृतबुद्धि " के अर्थ मयावादी यह करते हैं कि "मैं ब्रह्म हूं" जब तक यह ज्ञान नहीं होता तब तक पुरुष अकृतबुद्धि ही रहता है, इनके मत में जीवात्मा में कर्तृत्व अविद्या से आता है, उस अविद्या के कर्त्तापन को जब पुरुष झूठा समझ लेता है तब वह कर्त्ता नहीं रहता, इस भाव से उन्होंने इस श्लोक का व्याख्यान किया है, पर यह भाव गीता में नहीं, यदि इसी भाव से यहां जीवात्मा को अकर्त्ता कथन किया जाता तो अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा, दैव, यह कर्म के पांच हेतु कथन न किये जाते, इन पांच हेतुओं का कथन करने से

स्पष्ट है कि केवल जीवात्मा ही कर्त्ता नहीं किन्तु पांच मिलकर कर्म के कर्त्ता होते हैं, इसलिये केवल जीवात्मा को अकर्त्ता कहा है ॥

सं०—अब इस अकर्त्तापन का फल कथन करते हैं:—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

पद०—यस्य । न । अहंकृतः । भावः । बुद्धिः । यस्य । न । लिप्यते । हत्वा । अपि । स । इमान् । लोकान् । न । हंति । न । निबध्यते ॥

पदा०—(यस्य) जिस पुरुष का (अहं, कृतः) मैं कर्त्ता हूं, यह (भावः) भाव (न) नहीं, और (यस्य) जिसकी (बुद्धिः) बुद्धि (न, लिप्यते) पापरूपी लेप को प्राप्त नहीं होती (सः) वह पुरुष (इमान्, लोकान्) इन लोकों को (हत्वा, अपि) मारकर भी (न, हन्ति) नहीं मारता, और (न, निबध्यते) नाही बन्धन को प्राप्त होता है ॥

भाष्य—इस श्लोक का आशय यह है कि जो पुरुष निष्काम कर्म करता और जिसकी बुद्धि पापरूप कर्म में लिप्त नहीं होती अर्थात् जिसके हृदय में कभी पाप की वासना ही उत्पन्न नहीं होती वह पुरुष यदि उस निष्कामता के कर्त्तव्य में किसी को हनन भी करदेता है तो वह हिंसा नहीं करता और नाही वह उस हिंसारूप दोष का भागी होता है, क्योंकि उसके हृदय में हिंसा की वासना नहीं है, इसलिये वह पुरुष उस मंदकर्म के दोष का भागी नहीं होता, जैसे लोक में भी संकल्पपूर्वक हिंसा करने वाला पापी समझा जाता और जिसका संकल्प=इरादा हिंसा करने का नहीं उससे यदि दैवइच्छा से हिंसा हो भी जाती है तो वह उस हिंसारूप दोष का भागी नहीं समझा जाता, क्योंकि उसमें उसका कर्तृत्व नहीं किन्तु दैव का कर्तृत्व समझा जाता है, इसी प्रकार निष्कामकर्मी पुरुष जो सर्वथा पाप की वासना से रहित है वह यदि युद्धादिकों में हिंसा करता है तो वह हिंसा उसको पाप का भागी नहीं बनाती, क्योंकि वह क्षात्रधर्म का कर्त्तव्य समझकर करता है किसी अन्य इच्छा से नहीं, इसलिये दोष का भागी नहीं होसकता, और जो १२ वें श्लोक में इष्ट, अनिष्ट तथा मिश्र, यह तीन प्रकार के कर्मों का फल वर्णन किया था वह सकामकर्मियों के लिये था निष्काम कर्मियों के लिये नहीं. उन निष्कामकर्मियों का इस श्लोक में वर्णन है कि

उनमें अहंकार का अभाव होने से मंदकर्मों का दोष नहीं लगता, जैसाकि "न कर्म लिप्यते नरे" यजु० ४० । २ इस मंत्र में भी वर्णन किया है कि निष्कामकर्मी को मंदकर्म स्पर्श नहीं करते, और इसी आशय कोः—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गंत्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ गी० ५ । १०

इत्यादि, श्लोकों में वर्णन किया गया है कि जो स्वार्थ को त्यागकर ईश्वरार्पण कर्म करता है वह कमलपत्र के समान पाप से लिपायमान नहीं होता ॥

ननु—यहां तो यह लिखा है कि वह सब सृष्टि को मारकर भी पाप का भागी नहीं होता, ऐसा निष्कामकर्म क्या ? उत्तरः— "हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते" यह कथन निष्कामकर्मी की स्तुति के अभिप्राय से है अर्थात् वह किसी को हनन नहीं करता, क्योंकि ईश्वरपरायण होने से उसमें हनन करने की कोई वासना ही नहीं रहती, यदि उससे अकस्मात् ऐसा हो भी जाय तब भी वह दोष का भागी नहीं, इस प्रकार उसकी स्तुति कीगई है, मायावादियों के मत में यह श्लोक संन्यासी विषयक है कि वह संन्यासी जिसको ब्रह्म का साक्षात्कार होने से कर्त्तापन का भाव नहीं रहा वह यदि सम्पूर्ण लोकों को हनन भी करदे तो भी वह पापी नहीं होता, अहंकार का भाव इनके मत में तादात्म्याध्यास कहलाता है अर्थात् जो शरीर में आत्मबुद्धि करके अपने आपको कर्त्ता भोक्ता मानकर हिंसादि पाप करता है वह पाप का भागी है और जो यह समझ लेता है कि यह सब शरीरादिक माया से कल्पित हैं और मैं स्वयंप्रकाश असंग चेतन हूं ऐसा समझने वाला तत्त्ववेत्ता पुरुष पाप का भागी नहीं होता, क्योंकि वह ब्रह्म बन गया है, इसलिये उसको पाप नहीं लगता, यह ब्रह्म बनने का भाव और इस प्रकार की असङ्गता यदि पाप से बचने का साधन होती तो अग्रिम श्लोकों में कर्त्तापन के निम्नलिखित कारण कथन न किये जाते, जैसाकिः—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

पद०—ज्ञानं । ज्ञेयं । परिज्ञाता । त्रिविधा । कर्मचोदना । करणं । कर्म । कर्त्ता । इति । त्रिविधः । कर्मसंग्रहः ॥

पदा०—(ज्ञानं) ज्ञान (ज्ञेयं) विषय (परिज्ञाता) जानने वाला (त्रिविधा) यह तीन प्रकार की (कर्मचोदना) कर्मों की प्रवर्तकता है, और (करणं) कर्मों के साधन (कर्म) यज्ञादि कर्म (कर्त्ता) काम करने वाला (इति) यह (त्रिविधः) तीन (कर्मसंग्रहः) कर्मों के संग्रह करने के हेतु हैं ॥

भाष्य—इस प्रकार ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता, यह तीनों कर्मों में प्रवृत्त कराने वाले और करण, कर्म, कर्त्ता, यह तीनो कर्मों का संग्रह करने वाले हैं और यह छः पदार्थ सत्त्वादि गुणों के भेद से तीन २ प्रकार के हैं, जैसाकिः—

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

पद०—ज्ञानं । कर्म । च । कर्त्ता । च । त्रिधा । एव । गुणभेदतः । प्रोच्यते । गुणसंख्याने । यथावत् । शृणु । तानि । अपि ॥

पदा०—(ज्ञानं) ज्ञान (कर्म) क्रिया (च) और (कर्त्ता) करने वाला (गुणभेदतः) सत्त्वादि गुणों के भेद से (गुणसंख्याने) संख्या शास्त्र में (त्रिधा, एव) तीन प्रकार के (प्रोच्यते) कथन किये गये हैं (तानि, अपि) उनको भी तुम (यथावत्, शृणु) ठीक २ सुनो ॥

भाष्य—ननु, १४वें और १७वें अध्याय में सत्त्वादि गुणों का वर्णन किया है फिर यहां उनके वर्णन की पुनरुक्ति क्यों कीजाती है ? उत्तर—यहां यह पुनरुक्ति नहीं, क्योंकि १४वें अध्याय में सत्वादि गुणों के कथन का हेतु वर्णन किया गया है और १७वें अध्याय में सत्वादि गुणों वाले पुरुषों की उपासनाओं का भेद कथन करके सत्वप्रधान पुरुषों को दैवीसम्पत्ति वाले कथन किये हैं और इस अध्याय में ज्ञान को सात्विक, राजस, तामस, इन भेदों से तीन प्रकार का कथन किया है, इसलिये यहां यह पुनरुक्ति नहीं ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

पद०—सर्वभूतेषु । येन । एकं । भावं । अव्ययं । ईक्षते । अविभक्तं । विभक्तेषु । तत् । ज्ञानं । विद्धि । सात्विकं ॥

पदा०—जो पुरुष (सर्वभूतेषु) सब भूतों में (येन) जिस ज्ञान से (एकं) एक (अव्ययं) विकाररहित (भावं) भाव को (ईक्षते) देखता है (तत्, ज्ञानं) उस ज्ञान को (सात्विकं, विद्धि) सात्विक जानो, वह भाव कैसा है (विभक्तेषु, अविभक्तं) जो विभागवाले पदार्थों में अविभक्त = बटा हुआ नहीं है ॥

भाष्य—इस श्लोक में परमात्मा की सर्वव्यापकता वर्णन की है कि जो पुरुष इन भिन्न २ पदार्थों में परमात्मा को सर्वगत जानता है वह "सात्त्विक" ज्ञान वाला है ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

पद०—पृथक्त्वेन । तु । यत् । ज्ञानं । नानाभावान् । पृथग्विधान् । वेत्ति । सर्वेषु । भूतेषु । तत् । ज्ञानं । विद्धि । राजसम् ॥

पदा०—(सर्वेषु, भूतेषु) जो सब भूतों में (यत्, ज्ञानं) जिस ज्ञान को (पृथक्त्वेन) पृथक् करके (पृथग्विधान्, नानाभावान्) भिन्न २ प्रकार के नाना भावों को (वेत्ति) जानता है (तत्, ज्ञानं, राजसं, विद्धि) उस ज्ञान को राजस जानो ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह सिद्ध किया है कि जो परमात्मा "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं" बृहदा० ३ । ७ । ३ इत्यादि वाक्यों द्वारा भूतों में ओतप्रोत कथन किया गया है उसको पृथिवी तथा अग्नि आदि भूतों का अधिष्ठातृदेवतारूप से जो भिन्न २ वर्णन करता है वह राजस ज्ञान है, इस श्लोक में "ज्ञानंवेत्ति" यह उपचार से कथन किया गया है "ज्ञानेनवेत्ति" ऐसा होना चाहिये था, जैसाकि "एधांसि पचन्ति"=लकड़ियें पकाती हैं, यह उपचार से बोला जाता है, प्रत्युत पाचक पकाता और लकड़ियां पकाने का साधन हैं, एवं ज्ञान भी यहां जानने का साधन है ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

पद०-यत् । तु । कृत्स्नवत् । एकस्मिन् । कार्य्ये । सक्तं । अहैतुकं । अतत्वार्थवत् । अल्पं । च । तत् । तामसं । उदाहृतं ॥

पदा०-(एकस्मिन्, कार्य्ये) एक कार्य्य में (कृत्स्नवत्) सम्पूर्ण के समान (यत्, सक्तं) जो ज्ञान होता है (तत्) वह (तामसं, उदाहृतं) तामस कहा जाता है, वह ज्ञान कैसा है (अतत्वार्थवत्) जो मिथ्या के समान (अल्पं, च) और तुच्छ है (अहैतुकं) युक्ति रहित है ॥

भाष्य-किसी एक प्रतिमादि पदार्थ में जो ईश्वरभाव मान लियागया है, ऐसे ज्ञान को इस श्लोक में तामस ज्ञान कथन किया है, क्योंकि वह अहैतुक=युक्तिहीन है, इस श्लोक के भाष्य में स्वामी शं० चा० भी प्रतिमापूजन को तामसज्ञान कथन करते हैं, जैसाकि "देहपरिमाणो जीव ईश्वरो वा पाषाणदार्वादि मात्रं इत्येवमेकस्मिन् कार्य्येसक्तमहेतुकं हेतुवर्जितम्"=जीव देहमात्र और ईश्वर पाषाण तथा लकड़ी रूप है, इस प्रकार का जो किसी एक कार्य्य में ज्ञान है उसको तामसज्ञान कहते हैं, मधुसूदनस्वामी ने भी इस श्लोक के अर्थों में प्रतिमा में ईश्वरबुद्धि को तामस ज्ञान ही माना है, जैसाकि " प्रतिमादौ वा अहेतुकं हेतुप्रतिपत्तिस्तद्रहितम्"=प्रतिमादिकों में जो ज्ञान है वह युक्तिरहित होने से तामस है, एवं उक्त श्लोकों में ईश्वरीय ज्ञान के सात्त्विक, राजस, तामस, यह तीन भेद वर्णन किये गये हैं ॥

सं०-अब कर्मों के तीन भेद कथन करते हैं:—

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

पद०-नियतं । संगरहितं । अरागद्वेषतः । कृतं । अफलप्रेप्सुना । कर्म । यत् । तत् । सात्त्विकं । उच्यते ।

पदा०-जो कर्म (नियतं) नियमपूर्वक (संगरहितं) निष्कामता से

(अरागद्वेषतः) बिना रागद्वेष से (कृतं) किया जाता है, (अफलप्रेप्सुना) जो फल की इच्छा न करने वाले से कियागया हो (यत्, कर्म) जो ऐसा कर्म है (तत्) वह (सात्त्विकं, उच्यते) सात्विक कथन कियागया है ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

पद०—यत् । तु । कामेप्सुना । कर्म । साहंकारेण । वा । पुनः । क्रियते । बहुलायासं । तत् । राजसं । उदाहृतं ॥

पदा०—(यत्, तु) जो तो (कामेप्सुना) कामना वाले से कियागया हो (पुनः) फिर (साहंकारेण) अहंकार से (क्रियते) कियागया हो (वा) अथवा (बहुलायासं) जिसमें फल से अधिक परिश्रम करना पड़ता हो (तत्, कर्म) वह कर्म (राजसं, उदाहृतं) राजस कथन कियागया है ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

पद०—अनुबन्धं । क्षयं । हिंसां । अनपेक्ष्य । च । पौरुषं । मोहात् । आरभ्यते । कर्म । यत् । तत् । तामसं । उच्यते ॥

पदा०—(अनुबन्धं) भविष्यत् काल में जिसका अशुभ फल हो (क्षयं) कर्मकर्त्ता की शक्तियों का क्षय (हिंसां) प्राणियों का हनन करना (च) और (पौरुषं) अपना सामर्थ्य (अनपेक्ष्य) उक्त चारो बातों को न विचारकर (यत्, कर्म) जो कर्म (मोहात्, आरभ्यते) मोह से प्रारम्भ किया जाता है (तत्, तामसं, उच्यते) उसको तामस कहते हैं ॥

सं०—अब तीन प्रकार के कर्त्ता का कथन करते हैं:—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्विक उच्यते ॥२६॥

पद०—मुक्तसंगः । अनहंवादी । धृत्युत्साहसमन्वितः । सिद्ध्यसिद्ध्योः । निर्विकारः । कर्त्ता । सात्विकः । उच्यते ॥

पदा०—(मुक्तसङ्गः) सङ्ग से रहित (अनहंवादी) निरभिमानी (धृत्युत्साहसमन्वितः) धृति = धैर्य, उत्साह = दृढ़ता, इन दोनों से जो समन्वितः = युक्त हो (सिध्यसिध्योः, निर्विकारः) कार्य्य सिद्ध हो अथवा न हो इन दोनों दशाओं में चित्त में विकार उत्पन्न करने वाला न हो (कर्त्ता, सात्विकः, उच्यते) ऐसा कर्त्ता सात्विक कहा जाता है ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः ॥ २७ ॥

पद०—रागी । कर्मफलप्रेप्सुः । लुब्धः । हिंसात्मकः । अशुचिः । हर्षशोकान्वितः । कर्त्ता । राजसः । परिकीर्त्तितः ॥

पदा०—(रागी) जो कामादिकों की इच्छा से किसी काम का प्रारम्भ करता है (कर्मफलप्रेप्सुः) कर्मफल की इच्छा करने वाला (लुब्धः) लोभी (हिंसात्मकः) परहित का सदैव हनन करने वाला (अशुचिः) अपवित्र रहने वाला (हर्षशोकान्वितः) कभी प्रसन्नता और कभी शोक से व्याप्त रहने वाला (कर्त्ता, राजसः, परिकीर्त्तितः) ऐसा कर्त्ता रजोगुण वाला कहाजाता है ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

पद०—अयुक्तः । प्राकृतः । स्तब्धः । शठः । नैष्कृतिकः । अलसः । विषादी । दीर्घसूत्री । च । कर्त्ता । तामसः । उच्यते ॥

पदा०—(अयुक्तः) विषयलम्पट होने से जो उस काम के योग्य न हो (प्राकृतः) शास्त्र के संस्कारों से शून्य (स्तब्धः) ढीठ, हठी (नैष्कृतिकः) दूसरों को ठगने वाला (अलसः) आलसी (शठः) दूसरे को हानि पहुंचाने के लिये सत्य को अन्यथा प्रकट करने वाला (विषादी) सदैव खेद उत्पन्न करने के काम करने वाला (दीर्घसूत्री) ढिलमठ करने वाला (कर्त्ता, तामसः, उच्यते) ऐसा कर्त्ता तमोगुणी कहा जाता है ॥

सं०—अब बुद्धि और धृति के तीन २ भेद वर्णन करते हैं:—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

पद०-बुद्धेः । भेदं । धृतेः । च । एव । गुणतः । त्रिविधं । शृणु । प्रोच्यमानं । अशेषेण । पृथक्त्वेन । धनंजय ॥

पदा०-हे धनंजय ! (बुद्धेः, भेदं) बुद्धि के भेद (च) और (धृतेः) धृति के भेद (एव) निश्चय करके (गुणतः) सत्वादि गुणों के भेद से (त्रिविधं) तीन प्रकार के वर्णन किये गये हैं उनको (शृणु) सुन, जो (अशेषेण) सम्पूर्ण रीति से (पृथक्त्वेन) भिन्न २ करके (प्रोच्यमानं) वर्णन किये गये हैं ॥

भाष्य-बुद्धि के अर्थ यहां ज्ञानशक्ति और धृति के अर्थ धारण करने वाली क्रियाशक्ति के हैं, इस प्रकार बुद्धि और धृति का भेद है ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ॥३०॥

पद०-प्रवृत्तिं । च । निवृत्तिं । च । कार्याकार्ये । भयाभये । बन्धं । मोक्षं । च । या । वेत्ति । बुद्धिः । सा । पार्थ । सात्विकी ।

पदा०-हे पार्थ ! (प्रवृत्तिं) प्रवृत्ति (च) और (निवृत्तिं) निवृत्ति (कार्याकार्ये) कार्य=करने योग्य और अकार्य=न करने योग्य को (भयाभये) भय=डरना और अभय=न डरना, इन दोनों को (बंधं, मोक्षं, च) बन्धन तथा मुक्ति को (या, बुद्धिः, वेत्ति) जो बुद्धि जानती है (सा, सात्त्विकी) वह सात्विकी बुद्धि है ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

पद०-यया । धर्मं । अधर्मं । च । कार्यं । च । अकार्यं । एव । च । अयथावत् । प्रजानाति । बुद्धिः । सा । पार्थ । राजसी ॥

पदा०-हे पार्थ ! (यया) जिस बुद्धि से पुरुष (धर्मं) धर्म (अधर्मं) अधर्म (कार्यं, अकार्यं, च) कार्य तथा अकार्य को (एव) निश्चय करके (अयथावत्, प्रजानाति) जो यथार्थ रीति से नहीं जानता (सा, राजसी, बुद्धिः) वह राजसी बुद्धि है ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

पद०—अधर्मं । धर्मं । इति । या । मन्यते । तमसा । आवृता । सर्वार्थान् । विपरीतान् । च । बुद्धिः । सा । पार्थ । तामसी ॥

पदा०—हे पार्थ ! (या,बुद्धिः) जो बुद्धि (अधर्मं, धर्मं, इतिं,मन्यते) अधर्म को धर्म मानती (सर्वार्थान्, विपरीतान्) सब अर्थों को उलटा समझती (तमसा, आवृता) तमोगुण से ढकी हुई तामसी कहलाती है ॥

सं०—अब धृति के भेद वर्णन करते हैं :—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

पद०—धृत्या । यया । धारयते । मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः । योगेन । अव्यभिचारिण्या । धृतिः । सा । पार्थ । सात्विकी ॥

पदा०—हे पार्थ ! जो पुरुष (यया,धृत्या) जिस धृति से (मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः) मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को (योगेन) योग से (धारयते) धारण करता है (सा, सात्विकी, धृतिः) वह सात्विकी धृति कहलाती है (अव्यभिचारिण्या) जो व्यभिचारी नहीं अर्थात् दृढ़ता वाली है ॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

पद०—यया । तु । धर्मकामार्थान् । धृत्या । धारयते । अर्जुन । प्रसंगेन । फलाकांक्षी । धृतिः । सा । पार्थ । राजसी ॥

पदा०—हे अर्जुन ! (यया, धृत्या) जिस धृति से पुरुष (धर्मकामार्थान्) धर्म, अर्थ, काम, मनुष्यजन्म के इन तीन फलों को (धारयते) धारण करता है (प्रसंगेन, फलाकांक्षी) जो उन कर्मों के संग से फल की इच्छा वाला है, ऐसे पुरुष की उक्त तीनों फलों के धारण का हेतु जो धृति (सा,राजसी) वह रजोगुण वाली कहलाती है ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुंचति दुर्मेधाः धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

पद०—यया । स्वप्नं । भयं । शोकं । विषादं । मदं । एव । च । न । विमुंचति । दुर्मेधाः । धृतिः । सा । पार्थ । तामसी ।

पदा०—हे पार्थ ! (यया, दुर्मेधाः) जिस धृति से दुष्ट बुद्धि वाला पुरुष (स्वप्नं) निद्रा में संकल्प विकल्प (भयं) डरना (शोकं) सन्ताप (विषादं) सदैव व्याकुल रहना (मदं) विषयों के मद में उन्मत्त रहना (एव, च) और इनको कभी भी (न, विमुंचति) न छोड़ना, (सा, तामसी, धृतिः) वह तमोगुण वाली धृति कहलाती है ॥

सं०—अब सुख को तीन प्रकार का वर्णन करते हैं:—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

पद०—सुखं । तु । इदानीं । त्रिविधं । शृणु । मे । भरतर्षभ । अभ्यासात् । रमते । यत्र । दुःखान्तं । च । निगच्छति ॥

पदा०—(भरतर्षभ) हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! (इदानीं) अब (सुखं) सुख को (त्रिविधं) तीन प्रकार का (शृणु) सुन (यत्र) जिस सुख में (अभ्यासात्) यमनियमादिकों के अभ्यास से (रमते) पुरुष लगता (दुखान्तं, च) और दुख के अन्त को (निगच्छति) प्राप्त होता है ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

पद०—यत् । तत् । अग्रे । विषं । इव । परिणामे । अमृतोपमं । तत् । सुखं । सात्विकं । प्रोक्तं । आत्मबुद्धिप्रसादजं ॥

पदा०—(यत्, तत्, अग्रे) जो वह पूर्वोक्त सुख आरम्भ में (विषं, इव) विष के समान अनिष्ट प्रतीत हो (परिणामे) अन्त में (अमृतोपमं) अमृत के समान हो (तत्, सुखं) वह सुख (सात्विकं, प्रोक्तं) सात्विक कहा गया है, और (आत्मबुद्धिप्रसादजं) आत्मा = ईश्वरविषयक बुद्धि की प्रसन्नता से वह सुख उत्पन्न होता है ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

पद०—विषयेन्द्रियसंयोगात् । यत् । यत् । अग्रे । अमृतोपमम् । परिणामे । विषं । इव । तत् । सुख । राजसं । स्मृतं ॥

पदा०-(विषयेन्द्रियसंयोगात्) विषय और इन्द्रिय के संयोग से (यत्, तत्) जो सुख (अग्रे) प्रारम्भ में (अमृतोपमं) अमृत के समान और (परिणामे) अन्त में (विषं, इव) विष के समान प्रतीत हो (तत्, सुखं) वह सुख (राजसं, स्मृतं) रजोगुण वाला कहा जाता है ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

पद०-यत् । अग्रे । च । अनुबन्धे । च । सुखं । मोहनं । आत्मनः । निद्रालस्यप्रमादोत्थं । तत् । तामसं । उदाहृतं ॥

पदा०-(यत्, अग्रे) जो आदि में (च) और (अनुबन्धे) अन्त में (आत्मनः) आत्मा के (मोहनं) मोह करने वाला हो, जो (निद्रालस्यप्रमादोत्थं) निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ हो (तत्, सुखं) वह सुख (तामसं, उदाहृतं) तमोगुण वाला कहा गया है ॥

सं०-अब शेष पदार्थों को भी तीनो गुणों वाले कथन करते हैं:—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

पद०-न । तत् । अस्ति । पृथिव्यां । वा । दिवि । देवेषु । वा । पुनः । सत्त्वं । प्रकृतिजैः । मुक्तं । यत् । एभिः । स्यात् । त्रिभिः । गुणैः ॥

पदा०-(पृथिव्यां) पृथिवी में (न, तत्, अस्ति) ऐसा कोई पदार्थ नहीं (यत्) जो (सत्त्वं) सत्व, रज, तम (एभिः, त्रिभिः, गुणैः) इन तीन गुणों से (मुक्तं) पृथक् हो (प्रकृतिजैः) जो प्रकृति से उत्पन्न हुए (वा) अथवा (दिवि) दिव्यलोक के (देवेषु) देवों में भी ऐसा कोई पदार्थ नहीं जा तीन गुणों वाला न हो ॥

भाष्य-इस श्लोक का आशय यह है कि सम्पूर्ण प्राकृत पदार्थ तीनो गुणों वाले होते हैं केवल परमात्मा ही गुणातीत है अथवा उसके भक्त परमात्मा को पाकर गुणातीत होसक्ते हैं, अन्य सब जीव प्रकृति के सत्वादि भावों से ही भिन्न २ प्रकार की आकृति को धारण कर रहे हैं ॥

सं०—अब मनुष्यों में वर्णचतुष्टय का भेद भी इन सत्वादि गुणों से ही होना कथन करते हैं:—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

पद०—ब्राह्मणक्षत्रियविशां । शूद्राणां । च । परंतप । कर्माणि । प्रविभक्तानि । स्वभावप्रभवैः । गुणैः ॥

पदा०—(परंतप) हे शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन ! (ब्राह्मणक्षत्रियविशां) ब्राह्मण = ब्रह्मवेत्ता, क्षत्रिय = क्षत से रक्षा करने वाले, विशां = व्यापारादि कर्मों से संसार भर में प्रविष्ट होने वाले और (शूद्राणां) दासभाव वाले लोगों के (कर्माणि) कर्म (स्वभावप्रभवैः, गुणैः) अपने स्वाभाविक गुणों से (प्रविभक्तानि) भिन्न २ प्रकार के होते हैं ॥

भाष्य—ब्राह्मणादि वर्णों के कर्म उनके स्वभाव से भिन्न २ होते हैं अर्थात् शमदमादिगुणसम्पन्न प्रकृति वाला ब्राह्मण और शौर्य्यादि प्रकृति वाला क्षत्रियधर्म के योग्य होता है, एव स्व २ गुणों से वैश्यादि वर्ण होते हैं ॥

सं०—अब जिन गुणों से स्वाभाविक सत्वादि प्रधान प्रकृति वाले ब्राह्मणादि लोगों की पहचान होती है उनको कथन करते हैं:—

शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेवच ॥
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

पद०—शमः । दमः । तपः । शौचं । क्षान्तिः । आर्जवं । एव । च । ज्ञानं । विज्ञानं । आस्तिक्यं । ब्रह्मकर्म । स्वभावजं ॥

पदा०—(शमः) मन को रोकना (दमः) चक्षुरादि इन्द्रियों का निरोध करना (तपः) ब्रह्मचर्यादि तप (शौचं) बाहर भीतर दोनों प्रकार की शुद्धि रखना (क्षान्तिः) शक्तिसम्पन्न होकर भी सहनशील रहना (आर्जवं) सरलता (ज्ञानं) वैदिकज्ञान (विज्ञानं) अनुष्ठानरूपज्ञान = ईश्वर का साक्षात्काररूपज्ञान (आस्तिक्यं) वैदिकधर्म में श्रद्धा

(ब्रह्मकर्म, स्वभावजं) यह नव गुण सत्वप्रधान ब्राह्मण प्रकृति वाले पुरुषों में होते हैं ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धेचाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रंकर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

पद०—शौर्य्यं । तेजः । धृतिः । दाक्ष्यं । युद्धे । च । अपि । अपलायनं । दानं । ईश्वरभावः । च । क्षात्रं । कर्म । स्वभावजं ॥

पदा०—(शौर्य्यं) उत्साहपूर्वक युद्ध में प्रहार करना (तेजः) स्वरूप से तेजस्वी होना (धृतिः) विपत्ति पड़ने पर भी व्याकुल न होना (दाक्ष्यं) आपत्ति आपड़ने पर बुद्धि को स्थिर रखना (युद्धे, च, अपि, अपलायनं) शस्त्रप्रहार समय में भी युद्ध से न भागना (दानं) दान देने का भाव (ईश्वरभावः, च) और ईश्वर में श्रद्धा रखना (क्षात्रंकर्म, स्वभावजं) यह क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

पद०—कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं । वैश्यकर्म । स्वभावजं । परिचर्यात्मकं । कर्म । शूद्रस्य । अपि । स्वभावजं ॥

पदा०—(कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं) कृषि = खेती करना, गोरक्ष्य = गौओं की रक्षा करना, वाणिज्य = व्यापार करना (वैश्यकर्म, स्वभावजं) यह वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं (परिचर्यात्मकं, कर्म) सेवारूप कर्म (शूद्रस्य, अपि) शूद्र का भी (स्वभावजं) स्वाभाविक है ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

पद०-स्वे । स्वे । कर्मणि । अभिरतः । संसिद्धिं । लभते । नरः । स्वकर्मनिरतः । सिद्धिं । यथा । विन्दति । तत् । शृणु ॥

पदा०—(स्वे, स्वे) अपने२ (कर्मणि) कर्मों में (अभिरतः) लगा हुआ (नरः) पुरुष (संसिद्धिं) सिद्धि को लभते) प्राप्त होता है (स्वकर्मनिरतः) अपने कर्मों में लगा हुआ पुरुष (यथा) जिस

प्रकार (सिद्धिं) सिद्धि को (विन्दति) लाभ करता है (तत्) वह (शृणु) सुन ॥

सं०—ननु, १४ वें अध्याय में सत्वादि गुणों को बन्धन का हेतु कहा और यह वर्णन किया कि गुणातीत पुरुष ही अमृत को प्राप्त होता है, फिर यहाँ आकर अपने २ सात्विक, राजसादि कर्मों से सिद्धि की प्राप्ति कैसे कथन की ? उत्तरः—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

पद०—यतः । प्रवृत्तिः । भूतानां । येन । सर्वं । इदं । ततं । स्वकर्मणा । तं । अभ्यर्च्य । सिद्धिं । विन्दति । मानवः ॥

पदा०—(यतः) जिससे (भूतानां) पृथिवी आदि सब भूतों की (प्रवृत्तिः) उत्पत्ति होती और (येन) जिसने (सर्वं, इदं, ततं) इस सम्पूर्ण जगत् का विस्तार किया है (स्वकर्मणा) अपने कर्मों से (तं) उसकी (अभ्यर्च्य) पूजा करके (मानवः) मनुष्य(सिद्धिं) सिद्धि को (विन्दति) लाभ करता है ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह वर्णन किया है कि जो पुरुष परमात्मपरायण होकर कर्मों को करता है वह फलचतुष्टयरूपी सिद्धि को प्राप्त होता है ॥

ननु—कर्मों को छोड़कर सिद्धि को प्राप्त होना गीता में कहीं भी नहीं लिखा और गुणातीत के अर्थ भी यही हैं कि निष्कामता से कर्मों को करता हुआ जो गुणों का अतिक्रमण करजाता है वह गुणातीत कहलाता है, जैसाकि इसी अध्याय के ५६ वें श्लोक में कहा है कि सब कर्मों को करता हुआ ईश्वरपरायण पुरुष अव्यय पद को पाता है ? उत्तर—स्वकर्मों से ईश्वर को प्रसन्न करने के अर्थ यह हैं कि जो पुरुष स्व स्वभाव प्राप्त योग्यता द्वारा ईश्वर आज्ञानुकूल कर्म करता हुआ उसकी आज्ञा पालन करता है वही स्वकर्मों से ईश्वर की पूजा करता है ॥

सं०—ननु, यदि पुरुष सर्वथा कर्मों को छोड़ एकमात्र ईश्वरपरायण होकर उसी का भजन करे, जैसाकि चतुर्थाश्रमी लोग ब्राह्मणादि वर्णचतुष्टय के कर्मों को छोड़कर "तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी समलोष्टाश्म-

कांचनः” इस प्रकार की शमविधि वाले होते हैं, ऐसा करने से सिद्धि को प्राप्त क्यों नहीं होगा ? उत्तरः—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥ ४७ ॥

पद०—श्रेयान । स्वधर्मः । विगुणः । परधर्मात् । स्वनुष्ठितात् । स्वभावनियतं । कर्म । कुर्वन् । न । आप्नोति । किल्विषं ॥

पदा०-(परधर्मात्, स्वनुष्ठितात्) दूसरे के भलेप्रकार अनुष्ठान किये हुए धर्म से (श्रेयान्, स्वधर्मः, विगुण) अपना गुणरहित धर्म भी श्रेष्ठ है, क्योंकि (स्वभावनियतं, कर्म) स्वभाव से नियत जो स्व कर्म उनको (कुर्वन्) करता हुआ पुरुष (किल्विपं) पाप को (न, आप्नोति) प्राप्त नहीं होता ॥

भाष्य-अपने स्वभावप्राप्त स्वधर्म की अपेक्षा यदि दूसरे का धर्म भलेप्रकार सेवन कियाजाय तब भी स्वभावप्राप्त धर्म ही श्रेष्ठ है, यह श्लोक अर्जुन के स्वाभाविक क्षात्रधर्म को दृढ़ करता है अर्थात् जो अर्जुन युद्ध में हिंसादि दोषों से डरकर संन्यासधर्म की ओर जारहा था, उससे हटाता और यह सिद्ध करता है कि स्वभावप्राप्त धर्म को पालन करता हुआ ही पुरुष सिद्धि को प्राप्त होता है, और गी० ३ । ३५ में भी स्वधर्म के अर्थ अपनी प्रकृति से प्राप्त धर्म के ही हैं जन्म से प्राप्त धर्म के नहीं ॥

सं०—अब प्रकृति से प्राप्त क्षात्रधर्म को प्रकारान्तर से दोष रहित सिद्ध करते हैं:—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

पद०—सहजं । कर्म । कौन्तेय । सदोषं । अपि । न । त्यजेत् । सर्वारंभाः । हि । दोषेण । धूमेन । अग्निः । इव । आवृताः ॥

पदा०—(कौन्तेय) हे अर्जुन ! (सहजं) स्वभावजन्य अपनी प्रकृति से जो प्राप्त कर्म वह (सदोषं, अपि) दोषवाला भी हो तब भी उसको पुरुष (न, त्यजेत्) न छोड़े (हि) निश्चयकरके (सर्वारंभाः)

सभी काम (दोषेण) दोष से (आवृताः) व्याप्त होते हैं (इव) जैसे (अग्निः) अग्नि (धूमेन) धूम से व्याप्त होती है ॥

सं०—ननु, फिर किस प्रकार उन कर्मों के दोषों से पुरुष बच सकता है ? उत्तरः—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

पद०—असक्तबुद्धिः । सर्वत्र । जितात्मा । विगतस्पृहः । नैष्कर्म्यसिद्धिं । परमां । संन्यासेन । अधिगच्छति ॥

पदा०—(असक्तबुद्धिः, सर्वत्र) जिसकी बुद्धि उन सब कर्मों के फलों में फसी हुई नहीं अर्थात् सब स्थानों में निष्कामता के कारण सङ्ग से वर्जित है (जितात्मा) जिसने अपने मन को जीत लिया है (विगतस्पृहः) जिसकी सब कामनायें दूर होगई हैं (परमां) सर्वोपरि (नैष्कर्म्यसिद्धिं) कर्मों से रहित होकर जो सिद्धि प्राप्त होती है उस सिद्धि को पुरुष (संन्यासेन) संन्यास से (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ॥

भाष्य-संन्यास के अर्थ यहां निष्काम कर्म करने के हैं कर्मों के त्याग के नहीं, क्योंकि आगे जाकर ५६ वें श्लोक में यह कथन किया है कि कर्मों को करता हुआ ही पुरुष सिद्धि को प्राप्त होता है ॥

सं०—अब जिसप्रकार इस निष्कामतारूपी सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है वह प्रकार वर्णन करते हैं:—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

पद०—सिद्धिं । प्राप्तः । यथा । ब्रह्म । तथा । आप्नोति । निबोध । मे । समासेन । एव । कौन्तेय । निष्ठा । ज्ञानस्य । या । परा ॥

पदा०—(कौन्तेय) हे अर्जुन ! (यथा) जिसप्रकार (सिद्धिं, प्राप्तः) सिद्धि को प्राप्त पुरुष ब्रह्म को (आप्नोति) प्राप्त होता है (तथा) उस-प्रकार को (मे) मुझसे (निबोध) जान, और (ज्ञानस्य) ज्ञान की जो (परा, निष्ठा) सब से बड़ी निष्ठा है उसको भी (समासेन) संक्षेप से सुन ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

पद०-बुद्ध्या । विशुद्धया । युक्तः । धृत्या । आत्मानं । नियम्य । च । शब्दादीन् । विषयान् । त्यक्त्वा । रागद्वेषौ । व्युदस्य । च ॥

पदा०-(बुद्ध्या, विशुद्धया) शुद्ध बुद्धि से (युक्तः) युक्त (धृत्या) आत्मिक बल द्वारा (आत्मानं, नियम्य) मन को रोककर (शब्दादीन्) शब्द स्पर्शादि (विषयान्) विषयों को (त्यक्त्वा) छोड़कर (च) और (रागद्वेषौ) राग द्वेष को (व्युदस्य) त्याग के पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥

सं०-ननु, और किन २ गुणों वाला पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है? उत्तरः—

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ॥
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

पद०-विविक्तसेवी । लघ्वाशी । यतवाक्कायमानसः । ध्यानयोगपरः । नित्यं । वैराग्यं । समुपाश्रितः ॥

पदा०-(विविक्तसेवी) एकान्तसेवी (लघ्वाशी) परमित भोजन करने वाला (यतवाक्कायमानसः) जीत लिया है शरीर, वाणी तथा मन जिसने (ध्यानयोगपरः, नित्यं) और सदैव ईश्वरविषयक चित्तवृत्तिनिरोधरूपी समाधि में लगा हुआ (वैराग्यं) वैराग्य को (समुपाश्रितः) आश्रय किये हुए ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥

सं०-ननु, फिर वह पुरुष कैसा है? उत्तरः—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

पद०-अहंकारं । बलं । दर्पं । कामं । क्रोधं । परिग्रहं । विमुच्य । निर्ममः । शान्तः । ब्रह्मभूयाय । कल्पते ॥

पदा०-(अहंकारं) अभिमान (बलं) धर्म से विरुद्ध बल (दर्पं) शिष्ट पुरुषों के तिरस्कार करने वाला जो मद उसका नाम दर्प है (कामं)

काम (क्रोधं) क्रोध (परिग्रहं) भोग के साधनों का अधिक संग्रह (विमुच्य) इन सब को छोड़कर (निर्ममः) ममता से रहित तथा (शान्तः) चित्त के सब विक्षेपों से रहित पुरुष (ब्रह्मभूयाय, कल्पते) ब्रह्म के भावों को प्राप्त होता है ॥

भाष्य-उक्त श्लोकों के अद्वैतवादी यह अर्थ करते हैं कि सब वस्तुओं का त्याग करके जो परमहंस संन्यासी हुआ है जिसके पास कौपीन मात्र ही शेष है उस पुरुष के पूर्वोक्त साधन कथन किये गये हैं और "ब्रह्मभूयाय कल्पते" के अर्थ इनके मत में यह हैं कि ऐसा संन्यासी अपने आपको ब्रह्म समझ लेता है, परन्तु इस प्रकार जीव के ब्रह्म बन जाने का भाव इस श्लोक में कदापि नहीं, क्योंकि "ब्रह्मणोभावः, ब्रह्मभूयः" = ब्रह्म का जो भाव उसका नाम "ब्रह्मभूय" है, और ब्रह्म का भाव मुक्त पुरुष को ईश्वर के सत्य संकल्पादि गुणों के धारण करने से प्राप्त होता है, जैसाकि हम तद्धर्मतापत्ति में प्रतिपादन कर आये हैं, और यदि यहां "ब्रह्मभूयाय" के अर्थ ब्रह्म बनने के होते तो अग्रिम श्लोक में यह क्यों कथन किया जाता कि उक्त गुणों वाला पुरुष भक्ति को प्राप्त होता है, क्या ब्रह्म बनने के अनन्तर भी किसी को भक्ति करनी पड़ती है ? एवं पूर्वोत्तर विचार करने से सार यह निकलता है कि उक्त गुणों वाला निष्कामकर्मी पुरुष परमात्मा को प्राप्त होता है ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

पद०-ब्रह्मभूतः । प्रसन्नात्मा । न । शोचति । न । कांक्षति । समः । सर्वेषु । भूतेषु । मद्भक्तिं । लभते । परां ॥

पदा०-(ब्रह्मभूतः) ब्रह्म के गुणों को धारण करने वाला पुरुष (प्रसन्नात्मा) प्रसन्न चित्त हुआ (न, शोचति) न शोक करता और(न, कांक्षति) न किसी वस्तु की इच्छा करता है (समः, सर्वेषु, भूतेषु) सब प्राणियों को समदृष्टि से देखता हुआ (परां) सब से बड़ी (मद्भक्तिं) मेरी भक्ति को (लभते) प्राप्त होता है ॥

भाष्य-इस भक्ति को "परा" इसलिये कहा गया है कि यह निर्गुणो-

पासनारूप भक्ति सब उपासनाओं से बड़ी है, पीछे चार प्रकार के भक्तों को निरूपण करके जो ज्ञानी को सबसे श्रेष्ठ माना है उसी ज्ञानी भक्त की भक्ति यहां "परा" शब्द से कथन कीगई है ॥

सं०-अब इस निर्गुण भक्ति का फल कथन करते हैं:—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

पद०-भक्त्या । मां । अभिजानाति । यावान् । यः । च । अस्मि । तत्त्वतः । ततः । मां । तत्वतः । ज्ञात्वा । विशते । तदनन्तरम् ॥

पदा०-जो पुरुष (भक्त्या) उक्त भक्ति से (यावान्) जितना (यः, च, अस्मि) जो कुछ मैं हूं (मां) ऐसे मुझको (तत्वतः) वास्तवस्वरूप से (अभिजानाति) भलेप्रकार जानता है वह पुरुष (मां) मुझको (तत्वतः) स्वरूप से (ज्ञात्वा) भलेप्रकार जानकर (तदनन्तरं) उसके पीछे (विशते) परमात्मा को ज्ञान द्वारा प्राप्त करता है ॥

भाष्य-"भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया" गी० ८ । २२ इत्यादि श्लोकों में जो भक्ति वर्णन कीगई है उस भक्ति द्वारा यहां परमात्मा की प्राप्ति कथन की है, मायावादी लोग "विशते" के अर्थ ब्रह्म में अभेदरूप से प्रविष्ट होनेके करते हैं अर्थात् ब्रह्म के तत्वज्ञान होनेके अनन्तर जीव ब्रह्म बन जाता है, यह अर्थ यहां कदापि नहीं घटते, क्योंकि निम्नलिखित श्लोक में यह वर्णन किया है कि पुरुष परमात्मा की शरण को प्राप्त होकर ही उस अव्यय पद को प्राप्त होता है, ब्रह्म बनकर फिर परमात्मा की शरण को प्राप्त होना क्या ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

पद०-सर्वकर्माणि । अपि । सदा । कुर्वाणः । मद्व्यपाश्रयः । मत्प्रसादात् । अवाप्नोति । शाश्वतं । पदं । अव्ययं ॥

पदा०-(सर्वकर्माणि, अपि) सब कर्मों को भी (सदा, कुर्वाणः) सदा करता हुआ (मद्व्यपाश्रयः) मेरे आश्रित होकर (मत्प्रसादात्)

मेरी कृपा से (शाश्वतं) निरन्तर (अव्ययं) विकार रहित (पदं) पद को (अवाप्नोति) प्राप्त होता है ॥

भाष्य–मायावादियों ने इस श्लोक की सङ्गति पूर्व श्लोक से यों लगाई है कि ब्राह्मण सब कर्मों को संन्यास = त्यागकर ब्रह्म बन जाता और क्षत्रियादिकों को कर्म करने पड़ते हैं, इसलिये यहां कृष्णजी ने अर्जुन को ज्ञान के अनन्तर कर्मों का उपदेश किया है, उनकी यह सङ्गति गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि यदि अर्जुन को संन्यास का अधिकार न होता तो कृष्णजी उसको वारम्वार संन्यास का उपदेश न करते ॥

सं०–अब अग्रिम श्लोक में कृष्णजी अर्जुन को फिर संन्यास का उपदेश करते हैं:—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

पद०–चेतसा । सर्वकर्माणि । मयि । संन्यस्य । मत्परः । बुद्धियोगं । उपाश्रित्य । मच्चित्तः । सततं । भव ॥

पदा०–(चेतसा) मन से (सर्वकर्माणि) सब कर्मों को (मयि, संन्यस्य) मेरे अर्पण करके (मत्परः) मेरे परायण हुआ (बुद्धियोगं) निष्कामकर्मरूपी बुद्धियोग को (उपाश्रित्य) आश्रय करके (मच्चित्तः) मेरे में चित्तवाला (सततं, भव) सदैव हो ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

पद०–मच्चितः । सर्वदुर्गाणि । मत्प्रसादात् । तरिष्यसि । अथ । चेत् । त्वं । अहंकारात् । न । श्रोष्यसि । विनङ्क्ष्यसि ॥

पदा०–(मच्चित्तः) मेरे में चित्त वाला होकर (सर्वदुर्गाणि) भवसागर के इन सब दुस्तर मार्गों को (मत्प्रसादात्) मेरी कृपा से (तरिष्यसि) तर जायगा (अथ, चेत्) कदाचित् (अहंकारात्) अभिमान से (त्वं) तू (न, श्रोष्यसि) न सुनेगा तो (विनङ्क्ष्यसि) नाश को प्राप्त होगा ॥

भाष्य–उक्त दोनों श्लोकों में " मां " तथा " मत् " इत्यादि

शब्दों का प्रयोग कृष्णजी ने परमात्मा की ओर से किया है, जैसाकि ४६ वें श्लोक में परमात्मा की उपासना से सिद्धि कथन की है, एवं उक्त श्लोकों में भी परमात्मा की शरण को प्राप्त होकर ही सब दुर्गम मार्गों का सुगम होना वर्णन किया है अन्यथा नहीं, यदि मायावादियों के इस भाव का यहां कथन होता कि क्षत्रिय होने से अर्जुन को ब्रह्मज्ञान का अधिकार न था इसलिये दासभाव का उपदेश किया है तो निम्नलिखित श्लोकों में अर्जुन को क्षात्रधर्म के लिये उद्यत न किया जाता, और यदि कृष्ण अपनी शरण का ही उपदेश पूर्व श्लोकों में करते तो इन आगे के श्लोकों में एकमात्र परमात्मा की शरणागत होने का उपदेश अर्जुन को न करते, जैसाकिः—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

पद०—यत् । अहंकारं । आश्रित्य । न । योत्स्ये । इति । मन्यसे । मिथ्या । एव । व्यवसायः । ते । प्रकृतिः । त्वां । नियोक्ष्यति ॥

पदा०—(अहंकारं, आश्रित्य) अहंकार को आश्रय करके (न, योत्स्ये) मैं युद्ध नहीं करूंगा (इति) ऐसा (यत्) जो (मन्यसे) तू माने तो (व्यवसायः) यह तुम्हारा निश्चय (मिथ्या, एव) मिथ्या ही है (ते, प्रकृतिः) तुम्हारा क्षात्रधर्म का स्वभाव (त्वां) तुमको (नियोक्ष्यति) युद्ध के लिये नियुक्त करेगा ॥

सं०—अब उस क्षात्रधर्म के स्वभाव में पूर्वकर्मों को हेतु कथन करते हैं:—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

पद०—स्वभावजेन । कौन्तेय । निबद्धः । स्वेन । कर्मणा । कर्तुं । न । इच्छसि । यत् । मोहात् । करिष्यसि । अवशः । अपि । तत् ॥

पदा०—हे कौन्तेय ! (मोहात्) मोह से (यत्) जिस युद्ध के (कर्तुं) करने की (न, इच्छसि) तू इच्छा नहीं करता (तत्) उस

युद्ध को (स्वभावजेन, कर्मणा) अपने स्वाभाविक कर्मों से (निबद्धः) बंधा हुआ (अवशः, अपि) अवश्य ही (करिष्यसि) करेगा ॥

सं०—अब इस प्रकृतिरूप अधीनता के अनन्तर अर्जुन को ईश्वराधीन निरूपण करते हैं:—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

पद०-ईश्वरः । सर्वभूतानां । हृद्देशे । अर्जुन । तिष्ठति । भ्रामयन् । सर्वभूतानि । यंत्रारूढानि । मायया ॥

पदा०—हे अर्जुन ! (यंत्रारूढानि) परमात्मा के नियमरूप यंत्र में स्थिर (सर्वभूतानि) सब प्राणियों को (मायया) अपनी प्रकृतिरूप माया से (भ्रामयन्) भ्रमण कराता हुआ (ईश्वरः) परमात्मा (सर्वभूतानां) सब प्राणियों के (हृद्देशे) हृदय देश में (तिष्ठति) स्थिर है ॥

भाष्य—" माया " शब्द के अर्थ यहां " प्रकृति " और ईश्वर के सर्वनियन्ता होने का आशय "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" बृहदा० ३।७।३ इत्यादि वाक्यों से गीता में आया है ॥

सं०—अब कृष्ण अर्जुन को ईश्वर की शरणागत होने का उपदेश करते हैं:—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
मत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

पद०—तं । एव । शरणं । गच्छ । सर्वभावेन । भारत । मत्प्रसादात् । परां । शान्तिं । स्थानं । प्राप्स्यसि । शाश्वतं ॥

पदा०—(भारत) हे अर्जुन ! तू (सर्वभावेन) सब प्रकार से (तं,एव,शरणं) उसी ईश्वर की शरण को (गच्छ) प्राप्त हो (मत्प्रसादात्) उसी परमात्मा की कृपा से (परां, शांतिं) सर्वोपरि शान्ति और (शाश्वतं) अचल (स्थानं) पद को (प्राप्स्यसि) प्राप्त होगा ॥

भाष्य—"परांशान्ति" के अर्थ यहां "समाधि" और "स्थान" के अर्थ परमात्मा के स्वरूप के हैं, जैसाकि "तद्विष्णोः परमं पदं" अथर्व० ७।३।७

इत्यादि मन्त्रों में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है, उसी स्वरूप का अर्जुन को उपदेश किया है, यहां मायावादी " स्थान " शब्द के यह अर्थ करते हैं कि ब्रह्मरूप होकर जो स्थिर है उसका नाम स्थान है अर्थात् उसकी शरण को प्राप्त होकर तू ब्रह्म बन जायगा, यदि ब्रह्म बनजाने का उक्त श्लोक में उपदेश होता तो " तमेव शरणं गच्छ " यह कथन न किया जाता, क्योंकि जो जिसकी शरण को प्राप्त होता है वह स्वयं शरणरूप नहीं होता, और तर्क यह है कि शरण अपने से अधिक की लीजाती है, एवं ईश्वर जो सर्वस्वामी है जिसकी शरणागत से जीव को शान्ति कथन की है वह अनन्त तथा कल्याण गुणों की राशि ब्रह्म जीव कदापि नहीं बनसक्ता, इसी अभिप्राय से स्वामी रामानुज ने इसके अर्थ विष्णुपद के किये हैं ॥

सं०—अब गीताशास्त्र का उपसंहार करते हुए कृष्णजी इस वैदिक ज्ञान की महिमा कथन करते हैं:—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

पद०—इति । ते । ज्ञानं । आख्यातं । गुह्यात् । गुह्यतरं । मया । विमृश्य । एतत् । अशेषेण । यथा । इच्छसि । तथा । कुरु ॥

पदा०—(गुह्यात्, गुह्यतरं) गूढ से गूढ (इति, ज्ञानं) यह ज्ञान (मया) मैंने (ते) तुम्हारे लिये (अशेषेण) सम्पूर्ण रीति से (आख्यातं) वर्णन किया (एतत्) इसको (विमृश्य) विचार कर (यथा, इच्छसि) जैसी तुम्हारी इच्छा हो (तथा, कुरु) वैसा करो ॥

भाष्य—यह वैदिकज्ञान जिसका उपदेश कृष्णजी ने अर्जुन को किया है मायावादी इसको यह भाष्य करते हैं कि यह गुप्त ज्ञान जिससे जीव ब्रह्म बनजाता है इसका पूरा अधिकार तो ब्राह्मण जन्म वाले पुरुष को ही है, क्योंकि वह सब कर्मों का त्याग करके ब्रह्म बन जाता है और क्षत्रियादि वर्णों को अपने २ वर्ण के कर्म करने से ही कल्याण है अथवा विना संन्यास से ही उनको हिरण्यगर्भ के समान "अहंब्रह्मास्मि" का उपदेश किया जाता है वा मरने के अनन्तर दूसरे

जन्म में उनको ब्राह्मण का जन्म मिलता है फिर वह इसी वाक्य द्वारा ब्रह्म बन सकते हैं, इस पौराणिक अर्थ का नाममात्र भी गीता में नहीं, यदि इनके इस मनोरथमात्र के संन्यास का वर्णन गीता में होता तो अर्जुन को संन्यासधर्म का उपदेश कदापि न किया जाता, अधिक क्या इनका सर्वकर्मरूप संन्यास ही जब गीता में निर्मूल है तो फिर इनके इन मिथ्यार्थों की तो कथा ही क्या, अतएव मनुष्यमात्र को कर्तव्य वैदिकज्ञान का उपदेश कृष्ण ने अर्जुन को किया है ॥

सं०—अब उपसंहार में कृष्णजी परमदयालुता से अर्जुन को गीताशास्त्र के अनन्यभक्तिरूप तत्व का फिर उपदेश करते हैं:—

> सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
> इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

पद०—सर्वगुह्यतमं । भूयः । शृणु । मे । परमं । वचः । इष्टः । असि । मे । दृढं । इति । ततः । वक्ष्यामि । ते । हितं ॥

पदा०—(मे) मेरा (सर्वगुह्यतमं) सब से गोपनीय=परम रहस्य (परमं) श्रेष्ठ (वचः) वचन (भूयः) फिर (शृणु) सुन (इष्टः, असि, मे, दृढं) तुम अतिशय करके मेरे मित्र हो (ततः) इसलिये (ते) तुम्हारा (हितं) हितकारक वचन (वक्ष्यामि) कहता हूं ॥

सं०—अब कृष्णजी वैदिकधर्म में अर्जुन की श्रद्धा को दृढ करने के लिये उपसंहार में फिर अपने वैदिकमत की दृढता का उपदेश करते हैं:—

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

पद०—मन्मनाः । भव । मद्भक्तः । मद्याजी । मां । नमः । कुरु । मां । एव । एष्यसि । सत्यं । ते । प्रतिजाने । प्रियः । असि । मे ॥

पदा०—हे अर्जुन ! (मन्मनाः) मेरे जैसे मन वाला हो (मद्याजी) मेरे जैसे यज्ञ करने वाला बन (मद्भक्तः) मेरा भक्त बन (मां, नमः, कुरु) मुझको नमस्कार कर (सत्यं, ते, प्रतिजाने) मैं तुम्हारे प्रति यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूं कि ऐसा करने पर (मां, एव, एष्यसि) तू मुझ को ही प्राप्त होगा (प्रियः, असि, मे) तू मेरा प्यारा है ॥

भाष्य-इस श्लोक के "मामेवैष्यसि" इस वाक्य में "मां" शब्द के अर्थ वैदिकधर्म के हैं अर्थात् ऐसा करने पर तू वैदिकधर्म को प्राप्त होगा, जैसाकि गी० १६। २० श्लोक में "मां" शब्द वैदिकधर्म के लिये आया है, इसी प्रकार यहां भी वही भाव है ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

पद०-सर्वधर्मान् । परित्यज्य । मां । एकं । शरणं । व्रज । अहं । त्वां । सर्वपापेभ्यः । मोक्षयिष्यामि । मा । शुचः ॥

पदा०-हे अर्जुन ! (सर्वधर्मान्) वेदविरोधि सब धर्मों को (परित्यज्य) छोड़कर (मां, एकं, शरणं, व्रज) मेरी एक वैदिकधर्मरूपी शरण को प्राप्त हो, ऐसा करने पर (अहं) मैं (त्वां) तुमको (सर्वपापेभ्यः) सब पापों से (मोक्षयिष्यामि) छुड़ादूंगा (मा, शुचः) शोक मत कर ॥

भाष्य-उक्त दोनों श्लोकों में सम्पूर्ण गीता के अर्थ का व्यासजी ने संग्रह करदिया है जिसका भाव यह है कि गीता का तात्पर्य्य परमात्मा की अनन्यभक्ति में है, जैसाकि पूर्व कई एक स्थलों में वर्णन किया गया है कि परमात्मा एकमात्र अनन्यभक्ति से मिलता है और एकमात्र परमात्मा की ही भक्ति को अनन्यभक्ति कहते हैं अर्थात् जिसमें परमात्मा से इतर वस्तु का ध्यान न हो, जैसाकि "अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः" बृहदा० ३। ८। ११ में निरूपण किया है कि जो इस अक्षर परमात्मा को जानकर इस लोक से प्रयाण करता है वह ब्राह्मण है, इत्यादि वाक्यों में एकमात्र परमात्मा की भक्ति कथन कीगई है, इस अनन्यभक्ति को दृढ करने के लिये कृष्णजी ने सब धर्मों का त्याग करके एकमात्र वैदिकधर्म की शरण का ही आश्रय लिया है, इस श्लोक में धर्म शब्द के अर्थ धर्माभास के हैं जो सद्धर्मों के समान प्रतीत होते हैं और वास्तव में मिथ्या हैं उनको छोड़कर तू एकमात्र वैदिकधर्म का आश्रय ले, मायावादियों ने इन दो श्लोकों का बड़ा भाष्य किया है, प्रथम श्लोक का यह भाष्य किया है कि "तत्त्वमसि" तथा "अहंब्रह्मास्मि" इत्यादि वाक्यों द्वारा जिसने जीव ब्रह्म का अभेद समझ लिया है उसके

लिये कृष्णजी प्रतिज्ञा करते हैं कि वह ब्रह्म बन जाता और मुझ परमेश्वर को अत्यन्त प्यारा होता है, पर श्लोक के "मद्याजी" आदि शब्द इन के सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत हैं, क्योंकि इनके मत में ब्रह्मज्ञान से मुक्ति होती है और इस श्लोक में यज्ञ तथा नमस्कार करने से भी भगवत् प्राप्ति कथन की है, इसलिये इनके मतानुकूल जीव ब्रह्म की एकता के अर्थ यह श्लोक कदापि नहीं देता, और "सर्वधर्मान्परित्यज्य" इस द्वितीय श्लोक के भाष्य में मायावादियों ने यह अर्थ किये हैं कि वर्णाश्रम के सब धर्मों को छुड़ाकर एकमात्र भगवत् शरण का यहां उपदेश किया है और भगवत् शरण के इन्होंने तीन अर्थ किये हैं (१) मैं उस परमेश्वर का हूं (२) परमेश्वर मेरा है (३) वह परमेश्वर मैं हूं, यह अर्थ गीता के आशय से विपरीत हैं, क्योंकि "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" इस ४६ वें श्लोक में यह कथन कर आये हैं कि चारो वर्ण अपने २ कर्मों से परमात्मा का पूजन करके सिद्धि को प्राप्त होते हैं, जब इस श्लोक में वर्णों के धर्म परमात्मा की पूजा का हेतु कथन किये गये हैं तो यहाँ आकर उनके त्याग के कथन से क्या तात्पर्य्य ? स्वामी शं० चा० इसके यह अर्थ करते हैं कि सब धर्मों को त्यागकर इस श्लोक में संन्यास का विधान किया गया है, इनका यह कथन इसलिये संगत नहीं कि इनके मत में संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मण ही को है फिर कृष्णजी ने अर्जुन को ऐसे संन्यास का उपदेश क्यों किया जिसका उसको अधिकार ही न था, यदि यह कहाजाय कि अर्जुन को लक्ष्य रखकर ब्राह्मणों के लिये यह उपदेश किया गया है तब भी ठीक नहीं, क्योंकि सब कर्मों के त्याग का "नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः" इसी अध्याय के ११ वें श्लोक में खण्डन किया गया है, इसलिये वेद-विरुद्ध धर्मों के त्याग में ही यहां कृष्णजी का तात्पर्य्य है ॥

सं०—अब इस सम्पूर्ण गीताशास्त्र के अर्थ का उपसंहार करके कृष्णजी इस ब्रह्मविद्या का अनधिकारी के लिये निषेध कथन करते हैं:—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

पद०–इदं । ते । न । अतपस्काय । न । अभक्ताय । कदाचन । न । च । अशुश्रूषवे । वाच्यं । न । च । मां । यः । अभ्यसूयति ॥

पदा०–हे अर्जुन ! (ते) तुम्हारे लिये कथन किया हुआ (इदं) यह गीताशास्त्र (अतपस्काय) विषयलम्पट पुरुष को (न, वाच्यं) न कहना (न, अभक्ताय) जो ईश्वर का भक्त न हो उसको न कहना (न, च, अशुश्रूषवे) जो न सुनना चाहता हो उसको भी न कहना (न, च, मां, यः, अभ्यसूयति) और जो कृष्णजी के उपदेश की निन्दा करे उसको भी (कदाचन) कभी न कहना ॥

भाष्य–इस श्लोक का तात्पर्य्य यह है कि अनधिकारी पुरुष को उक्त ब्रह्मविद्यारूप इस शास्त्र का उपदेश नहीं करना चाहिये ॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

पद०–यः । इमं । परमं । गुह्यं । मद्भक्तेषु । अभिधास्यति । भक्तिं । मयि । परां । कृत्वा । मां । एव । एष्यति । असंशयः ॥

पदा०–(यः) जो पुरुष (इमं, परमं, गुह्यं) इस परम गुह्य ज्ञान को (मद्भक्तेषु) मेरे वैदिक भक्तों में (अभिधास्यति) कथन करेगा वह (मयि) मेरे वैदिकमार्ग में (परां, भक्तिं, कृत्वा) परमभक्ति करके (मां, एव, एष्यसि) मेरे वैदिकमार्ग को प्राप्त होगा (असंशयः) इसमें कोई संशय नहीं ॥

भाष्य–इस श्लोक में **"मामेकं शरणं व्रज"** के समान ही **"मां"** शब्द के अर्थ वैदिकमार्ग के हैं, यदि इस शब्द के अर्थ यहां कृष्ण के लिये जायं तो सङ्गत नहीं होते, क्योंकि इसी अध्याय के श्लो० ४६ और ६१ में कृष्णजी अपने से भिन्न परमात्मा का वर्णन कर आये हैं और उस वर्णन का **"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत"** इस ६२ वें श्लोक में यह कथन करके कि हे अर्जुन ? तू सब भावों से उसी परमात्मा की शरण को प्राप्त हो, ईश्वर विषयक उपसंहार कर आये हैं, इसलिये इस स्थान में "मां" शब्द के अर्थ वैदिकमार्ग के हैं अथवा कृष्णजी मां शब्द का प्रयोग यहां इस अभिप्राय से करते हैं कि जो इस गी

भक्तों में सुनाता है वह मुझको प्राप्त होगा अर्थात् मेरे जैसे निश्चय वाला होगा, जैसाकि उक्त प्रकार से गीता शास्त्र के मानने वाले पुरुष को आगे के श्लोक में अपना प्रिय कथन किया है किः—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६६ ॥

पद०—न । च । तस्मात् । मनुष्येषु । कश्चित् । मे । प्रियकृत्तमः । भविता । न । च । मे । तस्मात् । अन्यः । प्रियतरः । भुवि ॥

पदा०—(मनुष्येषु) सब मनुष्यों में (तस्मात्) उस पुरुष से (कश्चित्) कोई (मे, प्रियकृत्तमः) मेरा अति प्यारा (न, च, भविता) न होगा (च) और (तस्मात, अन्यः) उससे अन्य (प्रियतरः) प्यारा (भुवि) संसार में (न, मे) मेरा नहीं है जो इस गीता शास्त्र को ईश्वर के भक्तों में सुनाता है ॥

सं०—अब इसके अध्ययनकर्त्ता को फल कथन करते हैं:—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

पद०—अध्येष्यते । च । यः । इमं । धर्म्यं । संवादं । आवयोः । ज्ञानयज्ञेन । तेन । अहं । इष्टः । स्यां । इति । मे । मतिः ॥

पदा०—हे अर्जुन ! (आवयोः) हम दोनों के (धर्म्यं) धर्मपूर्वक (इमं, वादं) इस संवाद को (यः, अध्येष्यते) जो अध्ययन करेगा (तेन) उससे (अहं) मैं (ज्ञानयज्ञेन) ज्ञानरूपी यज्ञ द्वारा (इष्टः, स्यां) प्रसन्न होउंगा (इति, मे, मतिः) यह मेरी सम्मति है ॥

भाष्य—यहां "इष्ट" शब्द के अर्थ ज्ञानयज्ञ से पूजे जाने के नहीं किन्तु "उसके ज्ञानरूपी यज्ञ से मैं प्रसन्न होउंगा" यह अर्थ हैं, इन अर्थों से कृष्णजी अपने आपको ईश्वर प्रतिपादन नहीं करते किन्तु अपना अभिमत प्रतिपादन करते हैं, यदि इसके अर्थ यहां ज्ञानयज्ञ से पूजे जाने के भी लिये जायं तब भी सार यह निकलता है कि सात्त्विक ज्ञान=परमात्मा के एकत्व ज्ञान से कृष्ण पूजा जाता है अर्थात् इस वैदिक ज्ञान से कृष्णजी अपना सत्कार मानते हैं मिथ्या ज्ञान से नहीं, इस प्रकार भी गीता शास्त्र का तात्पर्य्य निराकारोपासना में है कृष्णादि विग्रहधारी पुरुषों की उपासना में नहीं ॥

सं०-अब गीताशास्त्र के श्रवणकर्त्ता को फल कथन करते हैं:—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

पद०-श्रद्धावान् । अनसूयः । च । शृणुयात् । अपि । यः । नरः । सः । अपि । मुक्तः । शुभान् । लोकान् । प्राप्नुयात् । पुण्यकर्मणां ॥

पदा०-इस शास्त्र को (यः) जो (श्रद्धावान्) आस्तिक्य बुद्धि वाला (अनसूयः, च) तथा अनिन्दक (नरः) पुरुष (अपि) भी (शृणुयात्) सुने (सः, अपि) वह भी (मुक्तः) यहां से शरीर त्यागकर (पुण्यकर्मणां) पवित्र कर्मों वाला (शुभान्, लोकान्) उत्तम अवस्थाओं को (प्राप्नुयात्) प्राप्त होता है ॥

सं०-अब कृष्णजी अर्जुन की सन्देहनिवृत्ति पूछते हैं:—

कच्चिदेतत् श्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

पद०-कच्चित् । एतत् । श्रुतं । पार्थ । त्वया । एकाग्रेण । चेतसा । कच्चित् । अज्ञानसंमोहः । प्रनष्टः । ते । धनंजय ।

पदा०-हे पार्थ ! (कच्चित्) क्या (त्वया, एकाग्रेण, चेतसा) तुमने एकाग्र चित्त से (एतत्,श्रुतं) इस शास्त्र का श्रवण किया ? हे धनंजय ! (कच्चित्) क्या (ते, अज्ञानसंमोहः, प्रनष्टः) तुम्हारा अज्ञानरूप मोह नष्ट होगया ॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

पद०-नष्टः । मोहः । स्मृतिः । लब्धा । त्वत्प्रसादात् । मया । अच्युत । स्थितः । अस्मि । गतसन्देहः । करिष्ये । वचनं । तव ॥

पदा०-(अच्युत) हे कृष्ण ! (त्वत्प्रसादात्) तुम्हारी कृपा से (मोहः,

नष्टः) मेरा मोह नष्ट होगया (मया) मैंने (स्मृतिः, लब्धा) क्षात्रधर्म की ज्ञानरूप स्मृति को लाभ किया, अब मैं (गतसन्देहः) सन्देहरहित (स्थितः, अस्मि) होगया हूं (तव, वचनं, करिष्ये) तुम्हारा आततायियों को वध करने वाला वचन पूर्ण करूंगा ॥

सं०-यहां तक कृष्ण और अर्जुन का सम्वाद समाप्त हुआ, अब संजय धृतराष्ट्र के प्रति इस सम्वाद का उपसंहार सुनाते हैं:—

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
सम्वादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

पद०-इति । अहं । वासुदेवस्य । पार्थस्य । च । महात्मनः । सम्वादं । इमं । अश्रौषं । अद्भुतं । रोमहर्षणं ॥

पदा०-हे धृतराष्ट्र ! (वासुदेवस्य) कृष्ण (पार्थस्य, च, महात्मनः) और महात्मा अर्जुन के (इमं, अद्भुतं, सम्वादं, इति) इस आश्चर्यजनक सम्वाद को (रोमहर्षणं) जो रोमांच पुलकित करने वाला है (अहं) मैंने (अश्रौषं) सुना ॥

सं०-ननु, कृष्णजी ने तो यह सम्वाद युद्धभूमि में किया था संजय ने कैसे सुना ? उत्तरः—

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमं गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

पद०-व्यासप्रसादात् । श्रुतवान् । इमं । गुह्यं । अहं । परं । योगं । योगेश्वरात् । कृष्णात् । साक्षात् । कथयतः । स्वयं ॥

पदा०-(इमं, परं, गुह्यं) इस परम गुह्य सम्वाद को (योगं) जो चित्तवृत्तिनिरोध करने वाला है (स्वयं, साक्षात्, कथयतः) स्वयं साक्षात् कथन करते हुए (योगेश्वरात्, कृष्णात्) योगेश्वर कृष्ण से (व्यासप्रसादात्) व्यासजी द्वारा (अहं, श्रुतवान्) मैंने सुना अर्थात् कृष्णजी से व्यासजी ने और व्यासजी से संजय ने सुना ॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

पद०—राजन् । संस्मृत्य । संस्मृत्य । संवादं । इमं । अद्भुतं । केशवार्जुनयोः । पुण्यं । हृष्यामि । च । मुहुः मुहुः ॥

पदा०—हे राजन् ! (केशवार्जुनयोः) कृष्ण और अर्जुन के (पुण्यं) पवित्र (अद्भुतं) आश्चर्यजनक (इमं, संवादं) इस सम्वाद को (संस्मृत्य, संस्मृत्य) वारम्वार स्मरण करके (हृष्यामि, च, मुहुः, मुहुः) मैं पुनः २ प्रसन्न होता हूं ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

पद०—तत् । च । संस्मृत्य । संस्मृत्य । रूपं । अत्यद्भुतं । हरेः । विस्मयः । मे । महान् । राजन् । हृष्यामि । च । पुनः । पुनः ॥

पदा०—हे राजन् ! (हरेः) कृष्ण के (अत्यद्भुतं, रूपं) अति-अद्भुत रूप को (तत्, च, संस्मृत्य, संस्मृत्य) वारम्वार स्मरण करके (मे) मुझको (महान्, विस्मयः) बड़ा आश्चर्य होता है (हृष्यामि, च, पुनः, पुनः) और उसको स्मरण करके मैं वारम्वार प्रसन्न होता हूं ॥

सं०—अब संजय अपनी नीतिनिपुणता से पाण्डवों की विजय कथन करते हैंः—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

पद०—यत्र । योगेश्वरः । कृष्णः । यत्र । पार्थः । धनुर्धरः । तत्र । श्रीः । विजयः । भूतिः । ध्रुवा । नीतिः । मतिः । मम ॥

पदा०—हे धृतराष्ट्र ! (यत्र, योगेश्वरः, कृष्णः) जिस पक्ष में योगेश्वर कृष्ण (यत्र, पार्थः, धनुर्धरः) और जिसमें धनुषधारी अर्जुन है (तत्र) उस पक्ष में (श्रीः) लक्ष्मी (विजयः) शत्रुओं का जीतना (भूतिः) प्रतिदिन धन की वृद्धि और (नीतिः) न्याय, ये चारो बातें (ध्रुवा) अवश्य होंगी (मम, मतिः) यह मेरी सम्मति है ॥

भाष्य-कृष्णजी को योगेश्वर कथन करके श्री, विजय, भूति, आदि फलों का वर्णन करना इस बात को सूचित करता है कि कृष्णजी मर्यादा-पुरुषोत्तम थे जिन्होंने इस ब्रह्मविद्यारूप गीताशास्त्र में वर्णाश्रम की मर्यादा बांधी है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे, श्रीमद्भगवद्गीता-योगप्रदीपार्य्यभाष्ये, मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

गीताश्लोकानुक्रमणिका

द.

र.

❀ इति शम् ❀